।। श्रीमद्भागवतसुबोधिनीके अन्तर्गत ।।

(तृतीयस्कन्धसुबोधिनीके अन्तर्गत)

# ।। कपिलगीता ।।

(सविवेचन चौबीस-पच्चीसवां अध्याय)

प्रवक्ता

गोस्वामी श्याम मनोहर

॥ श्रीमद्भागवतसुबोधिनीके अन्तर्गत ॥

( तृतीयस्कन्धसुबोधिनीके अन्तर्गत )

# ॥ कपिलगीता ॥

( सविवेचन चौबीस-पच्चीसवाँ अध्याय )

प्रवक्ता

गोस्वामी श्याम मनोहर

**प्रकाशक :** श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट
वैभव कोपरेटिव सोसायटी
पूना-बेंगलोर रोड, कोल्हापुर
महाराष्ट्र ४१६ ००८.

**संकलनकर्ता :** श्रीअतुल्य शर्मा, श्रीमती मनीषा तथा श्रीपरेश शाह,
श्रीअनिल भाटिया

**प्रथमसंस्करण :** वसंत वि.सं.२०७७,
इसु.वर्ष. फेब्रुआरी २०२१

**प्रति :** ५००

**निःशुल्कवितरणार्थ :** मुंबई विश्वविद्यालयके फिलॉसॉफी डिपार्टमॅन्ट् और वल्लभवेदांत अेकेडेमी एन्ड् रिसर्च सेन्टर् के लिए श्रीवल्लभविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेशप्रभुचरणाश्रम ट्रस्ट्, कोल्हापुर, द्वारा प्रकाशित.

**मुद्रक :** पूर्वी प्रेस,
१, लोहनगर, गोंडल रोड्,
राजकोट, ३६०००२

# श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी-कच्छ

**ग्रन्थप्रकाशन :**

**साम्प्रदायिक परीक्षाकी पाठ्यपुस्तकें:**

| | | | |
|---|---|---|---|
| प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (गुजराती) | १० | प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (हिन्दी) | निःशुल्क |
| प्रवेशिका, ले. : गो.शरद् (अंग्रेजी) | निःशुल्क | पुष्टिप्रवेश १-२ ले. : गो.शरद् (गुज) | २० |
| पुष्टिप्रवेश-१-२, ले. : गो.शरद् (हिन्दी) | १० | पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (गुजराती) | ३० |
| पुष्टिपथ, ले. : गो.शरद् (हिन्दी) | २० | प्रमेयरत्नसंग्रह, ले. : गो.शरद् (गुजराती) | ५० |

Manual of the Devotional Path of Pushti, गो.शरद् ६५

**साम्प्रदायिक विचारगोष्ठी**

| | | | |
|---|---|---|---|
| वार्तापरिचर्चा | अप्राप्य | साधनाप्रणाली संगोष्ठी | अप्राप्य |
| अधिकारपरिचर्चा | दुर्लभ | पुष्टिभक्तिमें कथासाधना संगोष्ठी | अप्राप्य |
| शरणागति विचारगोष्ठी | ५० | सेवा-समर्पण विचारगोष्ठी | ५० |
| पुष्टिभक्ति तथा प्रपत्तिमें प्रतिबन्ध | १०० | जघन्याधिकार विचारगोष्ठी | ८० |
| पुष्टिफलमीमांसा | १०० | | |

पुष्टिअस्मिता संवर्धन शिविर, राष्ट्रीय संमेलन, भरूच २५

पुष्टिसिद्धान्तचर्चासभा (विस्तृत-संक्षिप्तविवरण) १००

**तत्त्वदर्शन विषयक राष्ट्रीय सेमिनार**

| | | | |
|---|---|---|---|
| शब्दखण्डीया विद्वत्परिचर्चा | २०० | अन्यख्यातिवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी | १५० |
| कार्यकारणभावविद्वत्सङ्गोष्ठी | २०० | प्रत्यक्षप्रमाण विद्वत्सङ्गोष्ठी | १५० |
| अन्धकारवादीया विद्वत्सङ्गोष्ठी | २०० | | |

वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह, लेखक : गो. श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

**नित्यस्तोत्रपाठ:**

| | | | |
|---|---|---|---|
| पुष्टिपाठावली (हिन्दी) | २० | पुष्टिपाठावली (गुजराती) | २० |

पुष्टिपाठावली (गुजराती) पोकेट साईझ १०

पुरुषोत्तमसहस्रनाम-त्रिविधलीलानामावली(गुर्जरभाषानुवाद) २०

**सन्दर्भग्रन्थ:**

पुष्टिविधानम् पादानुक्रमणिका १०

Summary of Shuddhadvaita Vangmaya, लेखक: गो.शरद १५

अमृत वचनावली (गुजराती) नि :शुल्क अमृत वचनावली (हिन्दी) निःशुल्क

**अध्ययनोपयोगी ग्रन्थ:**

पुष्टिविधानम्-२(व्याकरणम्) श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजी विरचित
२६ ग्रन्थोंका पदच्छेद-अन्वय- शब्दपरिचय-वृत्तिपरिचय १००

पुष्टिविधानम्-३ (व्रजभाषा) श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथजी-श्रीगुसांईजी विरचित
२६ ग्रन्थोंका शब्दार्थ-श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका १५०

तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणम्, (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण ५०/७०

तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत सर्वनिर्णयप्रकरणम् (व्रजभाषाटीका) साधारण/राजसंस्करण ८०/१००

श्रीभागवतमहापुराण(गुर्जरभाषानुवाद) अनु : गो.वा.श्रीकल्याणजी कानजी शास्त्री ५००
श्रीमद्भगवद्गीता, गुर्जरभाषानुवाद, अनुवादक: गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी
श्लोकार्थ-विवेचन-पादानुक्रमणिका. गीतातात्पर्य-न्यासादेशविवरण सहित ५०
विवेकत्रयम्, प्रपञ्च-जीव-मूलरूप (संस्कृत) १०
गृहसेवा और व्रजलीला(व्रजभाषा)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
गृहसेवा अने व्रजलीला(गुजराती)व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी अप्राप्य
सेवा[हिन्दी] (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
सेवा[गुज.] (ऋतु-उत्सव-मनोरथ) व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद, व्याख्यात: गो.श्रीश्याम मनोहरजी(गुजराती) अप्राप्य
श्रीकृष्णचरित्र (दशमस्कन्ध गुर्जरभाषा-भावानुवाद) अनु : गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी अप्राप्य
रसदृष्टिनी तरफेणमां(गुजराती), लेखक : गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
सिद्धान्तनुं आचमन, प्रश्नोत्तर (गुज.) उत्तरदाता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
ब्रह्मवाद (हिन्दी) लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
सेवाकौमुदी[(हिन्दी)],विषय: नवधाभक्ति, लेखक: श्रीलालूभट्टजी. व्याख्याता:गो.श्रीश्या.म. अप्राप्य
भक्तिवर्धिनी(गुज.), व्याख्याता: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी २८ वार्ताओ, लेखक: श्रीभूपेन्द्र भाटीया अप्राप्य
षोडशग्रन्थगत उपदेशो अने तेमनी ६४ वार्ताओ, लेखक: श्रीभूपेन्द्र भाटीया अप्राप्य
कृष्णाश्रय, श्रीकल्याणरायजी विरचित संस्कृत टीकानो गुजराती अनुवाद अप्राप्य
जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो (गुजराती) गो.श्रीश्याम मनोहरजी लिखित श्रीवल्लभ
महाप्रभुस्तोत्राणि ग्रन्थकी विस्तृत हिन्दी भूमिकाका गुर्जरभाषानुवाद तथा सौंदर्यपद्य,
सर्वोत्तमस्तोत्र, वल्लभाष्टक, स्फुरत्कृष्णप्रेमामृत, श्रीहरिरायचरण रचित श्रीवल्लभस्तोत्र,
पंचश्लोकी, शिक्षाश्लोकी आदि ग्रन्थोंकी टीकाओंका गुजराती अनुवाद. ७०
पुरुषोत्तमग्रन्थावली-५(द्रव्यशुद्धि-व्रतोत्सवनिर्णय-अपराधनिरूपण)(संस्कृत-गुज.-हिन्दी) १००
पुरुषोत्तमग्रन्थावली-६(उपनिषद्-गीताविवृति) संस्कृत २००
श्रीभागवत तृतीयस्कन्ध सुबोधिनी प्रथम खंड (अध्याय १-१९) संस्कृत २००

**इतिहास**

श्रीगोपीनाथप्रभुचरण, जीवनचरित्र-ग्रन्थ-हस्ताक्षर (गुज.-हिन्दी) २५
आधुनिक न्यायप्रणाली अने पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीनो आपसी टकराव[गुज.],
लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क
आधुनिक न्यायप्रणाली और पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणालीका आपसी टकराव[हिन्दी.],
लेखक: गो.श्रीश्याम मनोहरजी निःशुल्क

**श्रीभागवतसुबोधिनीका गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी कृत गुर्जरभाषानुवाद**

प्रथमस्कन्ध १०० द्वितीयस्कन्ध १००
तृतीयस्कन्ध (१-२) ४०० दशमस्कन्ध(जन्मप्रकरण) १५०

**चित्र**

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य निःशुल्क श्रीगोपीनाथप्रभुचरण निःशुल्क
महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य-श्रीगोपीनाथप्रभुचरण-श्रीविट्ठलनाथप्रभुचरण निःशुल्क

**गोशाला :** मांडवी-कच्छ में प्राकृतिक वातावरणमें गोपाल गोशाला.

**जीर्णोद्धार :** तृतीय लालजी श्रीबालकृष्णजीके बैठकजी, गाम : विंजाण-कच्छ

## ।। श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ ।।

**। संस्कृत, शास्त्र और सम्प्रदाय के अध्ययनके लिए समर्पित पुष्टिमार्गीय केन्द्र ।**

अध्ययनोपयोगी ग्रन्थालय, अध्ययनकक्ष, निवास, भोजन, अध्यापक आदि अत्यावश्यक सुविधाओंसे सुसज्ज.

पता : २६, श्रीवल्लभाचार्य नगर, रेफरल् होस्पिटल्के पीछे, हालोल, जि.पंचमहाल, गुजरात-३८९३५०. फोन : 02676-225171

**व्होट्स्एप** द्वारा श्रीवल्लभाचार्य विद्यापीठ तथा पुष्टिमार्ग सम्बन्धी महात्वपूर्ण जानकारीयां प्राप्त करनेकेलिए सम्पर्क करें : विद्यापीठ : 02676-225171

http://www.vallabhacharyavidyapeeth.org/
http://www.pushtimarg.net/

**टेलि कोन्फरन्स्-पुष्टिस्वाध्याय :** सप्ताहके प्रायः सभी दिन आबाल-वृद्ध सभी पुष्टिमार्गीओं केलिये सम्प्रदायके मूल ग्रन्थोंका अध्यापन विद्वान् आचार्यवंशजों द्वारा टेलिफोनिक कोन्फरन्स् के माध्यमसे होता है. **सम्पर्क:** विद्यापीठ : 02676-225171, नीरजभाई(यु.एस्.ए.):+7325424165. gosharad@rediffmail.com

Subscribe us on You Tube **'Pushtiswadhyay'**

**Like our page on Facebook :** Sri Vallabhacharya Vidyapeeth

Pushti-Vidya **'पुष्टिविद्या' मोबाईल् एप्लिकेशन् :** आधुनिक संसाधनों का उपयोग करने वाले पुष्टिमार्गी तथा पुष्टिमार्गमें रुचि रखनेवाले जिज्ञासु जनोंको पुष्टिमार्गका यथार्थ परिचय करानेके उद्देश्य से प्रस्तावित की गई है। इसमें पुष्टिमार्गीय टीप्पणी (कैलेंडर), उत्सवोंका परिचय, सिद्धान्तसूक्तियाँ, कीर्तन, प्रवचन, ग्रंथों का अध्यापन, सिद्धांत सम्मत प्रणालीसे आयोजित होते कार्योंकी जानकारी, टेलीफोनिक कॉन्फरेन्ससे होते नित्य पुष्टिस्वाध्याय की जानकारी, उनकी रेकॉर्डिंगक तथा उनकी लिंक आदि विषय इस एप्लिकेशनमें क्रमिक रूपसे उपलब्ध कराये जायेंगे।

गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीद्वारा सम्पादित-पुनर्मुद्रित

# शुद्धाद्वैत पुष्टिभक्ति सम्प्रदायके मूल संस्कृत ग्रन्थ

१. सव्याख्यषोडशग्रन्थ संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ
   - खंड १. श्रीयमुनाष्टकम् से सिद्धान्तरहस्यम्
   - खंड २. नवरत्नम् से भक्तिवर्धिनी
   - खंड ३. जलभेदः से सेवाफलम्

ष. प्रकाश-रश्मि सहित ब्रह्मसूत्राणुभाष्यम्
   - खंड १. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ
   - खंड २. प्रथमाध्याय नाथद्वारा टेम्पलबोर्ड, अतिदुर्लभ
   - खंड ३. द्वितीयाध्याय
   - खंड ४. तृतीयाध्याय
   - खंड ५. चतुर्थाध्याय

३. श्रीमद्भागवतसुबोधिनी
   - खंड १. प्रथम (प्रथम खंड. अध्याय १-८)
     तृतीयस्कन्ध (दो खंड) श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट(मांडवी) द्वारा प्रकाशित.
   - खंड ४. जन्मप्रकरण
   - खंड ५. तामसप्रमाणप्रकरण
   - खंड ६. तामसप्रमेय-साधनप्रकरण
   - खंड ७. तामसफलप्रकरण
   - खंड ८. राजसप्रमाण-प्रमेयप्रकरण
   - खंड ९.राजससाधन-फलप्रकरण
   - खंड १०.सात्त्विकप्रमेयसाधनफलप्रकरण
   - खंड ११. गुणप्रकरण तथा यावत्प्राप्य एकादशस्कन्ध

४. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध
   - खंड १. शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण
   - खंड २. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध १-५
   - खंड ३. भागवतार्थप्रकरण स्कन्ध ६-१ष

५. सव्याख्यषड्ग्रन्थाः संयुक्तप्रकाशन, दुर्लभ

६. वेदान्ताधिकरणमाला-भावप्रकाशिका

७. विविधविवरणोपेत पत्रावलम्बनम्

८. प्रस्थानरत्नाकर

९. विद्वन्मण्डनम्

१०. श्रीबालकृष्णग्रन्थावली

११. श्रीवल्लभमहाप्रभुस्तोत्राणि

१२. श्रीपुरुषोत्तमप्रतिष्ठाप्रकार (हिन्दी-गुजराती)

१३. वल्लभाख्यान (सप्तटीकोपेत) (हिन्दी)

१४. पुष्टिविधानम्[गुजरातीपाठाली, व्रज तथा संस्कृत संस्करण]

१५. वादावली

ब्रह्मवाद, वादकथा, विग्रहवाद, प्रपंचवाद, प्रपंचसंसारभेदवाद, ब्रह्मजीवतदैक्यस्वरूपनिरूपणम्, विरुद्धधर्माश्रयत्वविवेचनम्, आत्मवादः, प्रश्नोत्तरसाहस्रीपर्यालोचनम्, प्रश्नोत्तरसाहस्रीचर्चित-प्रकृत्यधिकरण-समालोचनम्, केवलाद्वैतवादाभिमताविद्यास्वरूपविमर्शः, अक्षरपुरुषोत्तम-द्वैतनिरासवादः

१६. अवतारवादावली

खंड २. भेदाभेदवाद,सृष्टिभेदवाद,आविर्भावतिरोभाववाद,ख्यातिवाद,प्रतिबिम्बवाद, अन्धकारवाद.

खंड ३. ब्राह्मणत्वादिदेवतावादः, जीवव्यापकत्वखण्डनवाद, जीवप्रतिबिम्बत्व-खण्डनवादः, भागवतस्वरूपविषयकशंकानिरासवादः,उपदेशादिविषयकशंकानिरासवादः,भगवत्प्रतिकृति-पूजनवादः, ऊर्ध्वपुण्ड्रधारणवादः, तुलसीमालाधारणवादः, शंखचक्रधारणवादः, भक्तिरसत्ववादः, भक्त्युत्कर्षवादः, नामफलादिप्रकारवादः, जयश्रीकृष्णोच्चारणवादः, स्ववृत्तिवादः, वस्त्रादिसेवावादः, मूर्तिपूजनवादः, भागवतपाठादेः शंकानिरासवादः.

१७. सत्सिद्धान्तमार्तण्डः. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टुलाल)शर्मा विरचित.

१८. वेदान्तचिन्तामणी. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टुलाल)शर्मा विरचित.

१९. प्राभञ्जन-मारुतशक्ति. भारतमार्तण्ड-पञ्चनदी श्रीगोवर्धन(गट्टुलाल)शर्मा विरचित.

२०. श्रीमत्प्रभुचरणकृतग्रन्थाः.

२१. श्रीमत्प्रभुचरणकृताः स्तोत्रवज्ञप्तयः.

२२. श्रीमद्भगवद्गीताध्यायप्रतिपाद्यसंक्षेप. लेखक : गो.श्या.म.

२३. लघुग्रन्थसंग्रह १-२. लेखक : गो.श्या.म.

४क्र.१, ष तथा ४/१, ४/ष को छोड कर सभी ग्रन्थ श्रीवल्लविद्यापीठ-श्रीविट्ठलेश्वर-प्रभुचरण आ.हो.ट्रस्ट (कोल्हापुर) द्वारा प्रकाशित.

२४. वाल्लभवेदान्त निबन्धसंग्रह (हिन्दी) २५. पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद (गुजराती)

२६. विवेक (हिन्दी-गुजराती) २७. विशोधनिका (चार खंड) (गुज-हिन्दी)

२८. पुरुषोत्तमयोग (गुजराती-हिन्दी) २९. नवरत्नम् (गुजराती)

३०. नवरत्नोपदेशका मानस विश्लेषण (हिन्दी-गुजराती)

३१. श्रीयमुनाष्टकम् (हिन्दी-गुजराती) ३२. सिद्धान्तनुं आचमन (गुजराती)

३३. सिद्धान्तसूक्ति (गुजराती) ३४. भगवद्गीतासु भक्तियोग (हिन्दी-गुजराती)

३५. पुरुषार्थव्यवस्था (हिन्दी-गुजराती-अंग्रेजी) ३६. चतुःश्लोकी(हिन्दी)

३७. रसदृष्टिनी तरफेणमां(हिन्दी-गुजराती)३८. गृहसेवा और व्रजलीला(गुजराती-हिन्दी)

३९. सेवा : ऋतु-उत्सव-मनोरथ (हिन्दी-गुजराती)

४०. ब्रह्मवाद (वादावली सम्पादकीय) ४१. सेवाकौमुदी/नवधाभक्ति (हिन्दी)

४२. चिरकुट चर्चा समीक्षा (हिन्दी-गुज) ४३. पुष्टिमार्गीय पीठाधीश स्वरूप और कर्तव्य

४४. अणुभाष्य(साधनफलाध्याय) भूमिका (गुज.)

४५. श्रीवल्लभाचार्यके दर्शनका यथार्थ स्वरूप

४६. शरणागतिविचारगोष्ठी एक पूरक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)
४७. धर्म-अर्थ-काम-मोक्षकी पुष्टिमार्गीय विवेचना(हिन्दी-गुजराती)
४८. भगवत्सेवानो सिद्धान्तशुद्ध प्रकार: एक प्रश्नोत्तरी (गुजराती)
४९. साकारब्रह्मवाद (तत्त्वचिन्तन भक्ति और संस्कृति विमर्श) (हिन्दी)
५०. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत शास्त्रार्थप्रकरणोपक्रम(गुज.)
५१. तत्त्वार्थदीपनिबन्धान्तर्गत संक्षिप्त शास्त्रार्थ-सर्वनिर्णयप्रकरण तथा विवेकधैर्याश्रय, नवरत्न, सिद्धान्तमुक्तावली एवं भक्तिवर्धिनी का गुजराती अनुवाद-विवेचन(गुज.)
५२. वार्तान्की सैद्धान्तिक संगति (वार्ता : गदाधरदास-महावनकी क्षत्राणी-दिनकरदास शेठ-दिनकरदास मुकुंददास)
५३. श्रीदामोदरदासजी-श्रीकृष्णदास मेघनजी : वार्ताविवेचना. (हिन्दी-गुजराती)
५४. श्रीवल्लभाख्यान : श्रीमद्भागवतको प्रारूप और श्रीवल्लभाख्यान
५५. सूक्तित्रय : सिद्धान्त, उत्सव, भक्ति.
५६. वचनामृतत्रय (श्रीमन्महाप्रभुश्रीवल्लभवचनामृत, श्रीमद्प्रभुचरण-गोस्वामि-विट्ठलनाथ-वचनामृत, श्रीवल्लभ(श्रीगोकुलनाथ)वचनामृत)
५७. पुष्टिभक्तिका व्यापारीकरण (कुशंका, खिलवाड-समाधान)
५८. ब्राह्मिक याथार्थ्य और ब्रह्मवाद की नानावादानुरोधिता (लघुग्रन्थसंग्रह-२)
५९. पुष्टिमार्गकी आचार्यत्रयी
६०. अमृतका आचमन
६१. कृष्णएव तात्पर्यम्
६२. अहंकारमीमांसा १,२ (हिन्दी-गुजराती)
६३. मूलाचार्यवाणी (सुबोधिनी तथा अणुभाष्य)
६४. षोडशग्रन्थ परिचय
६५. भक्तिवर्धिनी (सूक्तिसंकलन)
६६. आधुनिक न्यायप्रणाली एवं पुष्टिमार्गीय साधनाप्रणलीका आपसी टकराव (हिन्दी-गुजराती)
६७. सिद्धान्तवचनावली
६८. अणुभाष्य (संक्षिप्त अनुक्रमणिका)
६९. पुष्टिमार्गीय स्वयंशिक्षक
७०. जिन श्रीवल्लभरूप न जान्यो
७१. आत्मकथा : श्रीकृष्णस्वरूपानन्द सरस्वतीनी.
७२. जयन्त कागना अनेक जन्मोनी कथा (लघु नाटक)
७३. श्रीमद् भागवत पूजन (गुजराती)
७४. शिक्षाश्लोका (गुजराती)
७५. भक्तिवर्धिनी (पीपरीया)(गुजराती)
७६. गोपीगीत सुबोधिनी (सविवरण)
७७. नलकूबेरमणिग्रीवकृतस्तुति(सविवरण)
७७. भक्तिरस
७८. वार्तान्कीसैद्धान्तिक संगति : राणाव्यास
७९. सुबोधिन्या (प्रथम स्कन्ध, तृतीय स्कन्ध)

**सम्पर्क :** गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी, व्रजकमल, ६३ स्वस्तिक सोसायटी,
४था रास्ता, जुहु स्कीम, विलेपार्ले(पश्चिम) मुम्बई-५६
**विडियो/ओडियो प्रवचन** और उपरोक्त प्राप्य ग्रंथो के लिये संपर्क करे : पुष्टि अस्मिता संवर्धन केन्द्र,
२१४, अमरदिप कोम्पलेक्ष, २-रजपुतपरा, राजकोट-१. मो. ९४२७४ ९५१५९

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीमदाचार्यचरणकमलेभ्यो नमः ॥

# प्राक्कथन

**श्रीकृष्णपरमात्मावतारं कपिलयोगिनम्।**
**तद्बोधितसुबोधाय देशिकं वल्लभं नुमः ॥**

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य कहते हैं **''सांख्यो बहुविधः प्रोक्तः तत्र एकः सत्प्रमाणको अष्टाविंशतितत्त्वानां स्वरूपं यत्र वै हरिः''** ( त.दी.नि.१।९३ ) यह 'सत्प्रमाणक सांख्य' नाम्ना अभिप्रेत सांख्य श्वेताश्वतरोपनिषद् वर्णित भगवद्गीतोपदिष्ट और कपिलगीतोक्त सांख्य ही है.

वैसे 'कपिल' नामधारक व्यक्ति एक नहीं अनेक आर्षग्रन्थ वेदोपनिषत् पुराणों में उपलब्ध होते हैं, पशुरूपी दानवरूपी गन्धर्वरूपी वेदमन्त्रद्रष्टा ऋषिरूपी तथा भगवदवताररूपी. बौद्ध परम्परामें भी कपिल ही पहले गौतमरूपमें अवतीर्ण होनेके बाद भगवान् बुद्धके रूपमें भी अन्तमें अवतीर्ण हुवे, ऐसा उल्लेख मिलता है. इन सभी कपिलोंमें कर्दम-देवहूति पिता-माताके दाम्पत्यसे जन्म लेनेवाले महर्षि कपिल, भगवान्के चौबीस अवतारोंमें अन्यतम भगवज्ज्ञानावताररूप कपिल हमारे लिये प्रमुखतया विवक्षित हैं : कपिलगीतोपदेष्टा. ये जब गृहत्यागार्थ उद्यत हुवे तब माता देवहूतिकी कर्तव्य-जिज्ञासाके समाधानार्थ बिन्दुसरमें रह कर उन्होंने सेश्वर सांख्य, उपक्रमोपसंहारमें योग और भक्ति के समुच्चयके साथ उपदेश दे कर उत्तरमें हिमालयकी ओर प्रस्थान कर गये.

श्वेताश्वतरोपनिषद्में **''यो योनिं योनिम् अधितिष्ठति एको विश्वानि रूपाणि योनीः च सर्वाः ऋषिं प्रसूतं कपिलं यः तम् अग्रे ज्ञानैः बिभर्ति जायमानं च पश्येत्''** ( श्वेता.उप.५।२ ) यहाँ 'अग्रे' पदसे ये कपिल ब्रह्माके पुत्र मरीचिके मानसपुत्र थे और मरीचि कन्या अदितिके

पुत्र थे कश्यप. मन्वन्तरप्रभेदसे दूसरे 'कश्यप' स्वायंभुव मन्वन्तरमें प्रजापति और स्वायंभुवकी पुत्री देवहूतिके भी पुत्रतया प्रकटे थे. यों माताके भिन्न रहनेपर भी दो विभिन्न कल्पोंमें प्रकट होनेवाले कपिलको एक ही माने जाते हैं. जैसे चौबीसरूपोंमें अवतीर्ण होनेवाले अवतारी श्रीकृष्ण एक ही माने गये हैं. **''एते चांशकलाः पुंसः (अन्तर्यामिनो नारायणस्य) कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्''** (भाग.पुरा.१।३।२८) अतएव महाप्रभुका विधान मिलता है **''अवतारी हरिः कृष्णः श्रीभागवत ईर्यते''** (त.दी.नि.१।११)

उल्लिखित श्वेताश्वतरीय वचनमें **''ज्ञानैः बिभर्ति''** पदावलीमें प्रयुक्त बहुवचनद्वारा इंगित होता ज्ञानका प्रकार सांख्यशास्त्रीय ज्ञान है. यह अनेकतामें एकताका अनुदर्शनात्मक औपनिषदिक ब्रह्मज्ञान नहीं. क्योंकि उस ब्रह्मज्ञानमें ज्ञान-ज्ञेय दोनों एकाकार बन जाते हैं. जैसा कि भागवतके प्रारम्भमें ही खुलासा कर दिया गया है **''वदन्ति तत् तत्त्वविदः तत्त्वं यत् तज्ज्ञानम् अद्वयं ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते''** (भाग.पुरा.१।२।११) ब्रह्मके साक्षात्कारमें कोई भी वस्तु ब्रह्मसे बहिर्भूत रह नहीं जाती, ब्रह्मसाधक प्रमाण या ब्रह्मप्रापक साधन भी. न केवल इतना अपितु सूर्योपम ब्रह्मका छादन करनेवाले ब्रह्मकार्यभूत मेघोपम ब्रह्मछादक नाम-रूप-कर्म और तदुद्बोधक ब्रह्मशक्तिरूप अविद्या भी **''तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत् तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्च अभवत्...विज्ञानञ्च अविज्ञानञ्च''** (तैत्ति.उप.२।६)

जब कि वेदानुकूल वेदानुमोदित होनेपर सांख्यशास्त्रीय ज्ञान व्युत्क्रमेण एकतामें अनेकताका अनुदर्शनरूप होता है अतः बहुवचनमें उसका प्रयोग वाञ्छनीय माना गया है.

अतएव तत्त्वार्थदीपनिबन्धके ही प्रारम्भमें महाप्रभुने यह खुलासा कर दिया है कि **''वैराग्यं सांख्ययोगौ च तपो भक्तिश्च केशवे पञ्चपर्वेति विद्येयं यदा विद्वान् हरिं विशेत्''** (त.दी.नि.१।४५) यहाँ

हरिमें सायुज्यप्रापिका विद्याके अन्यतम पर्वतया सांख्यविद्याका स्थान प्रदान किया गया है. यह जीवात्माके पुरुषार्थतया परन्तु भूमिपर अवतीर्ण श्रीकृष्णलीलाके स्वैरविहारमें वेणुकूजनमें ही पञ्चपर्वाविद्या फूंकी गई होनेका खुलासा महाप्रभुने वेणुगीतसुबोधिनीमें दिया है.

इस कपिलगीताके अन्तर्गत मिलते योगोपदेशको सिलेबस्में समाविष्ट करनेकी सूचना मुंबई विश्वविद्यापीठके दर्शनविभागद्वारा दी गई तो मैंने २४, २५ और २६ तीनों अध्याय सिलेबस्में जोड दिये. क्योंकि ये तीनों अध्याय वाल्लभवेदान्तमें पञ्चपर्वा विद्याके अन्तर्गत आते तीन पर्व हैं. एतावता कोर्स थोड़ा बढ़ गया पर तत्त्वार्थदीपनिबन्धके दोनों प्रकरण सुबोधिनीमेंसे संकलित नलकूबर-मणिग्रीवस्तुति एवं षोडशग्रन्थ की आधारभूमिके रूपमें कपिलगीताका अध्ययन अतीव लाभकारी हो पायेगा ऐसा मेरा विश्वास है.

मुंबई विश्वविद्यापीठमें दर्शनविभागके उपविभाग वाल्लभ-वेदान्तपर मेरेद्वारा दिये प्रवचनोंको लिपिबद्ध करनेवाले श्रीशरद शर्मा, उसे प्रकाशन-मुद्रणोचित संशोधन करनेवाले श्रीमान-श्रीमती परेश-मनीषा शाह एवं गोस्वामी श्रीमन्दारबावा, उद्धृत आकर वचनोंके स्थल संकेत खोजनेवाले श्रीअनिल भाटिया, उन्हें अकारादिक्रमसे योजित करनेवाले श्रीजगदीश शेठ तथा मुद्रणोचित उत्तरदायित्व सम्हालनेवाले श्रीप्रवीणभाई डढाणिया एवं श्रीपीयूषभाई गोंधिया, इन सभीके द्वारा लिये परिश्रमसे उऋण हो पानेके लिये मेरे पास शब्द नहीं है.

चिरकृतज्ञ

मुंबई

गोस्वामी श्याममनोहर

( दिनांक-१७ फरवरी २०२१ )

## विषयानुक्रमणिका

## कपिलगीता

### भक्तियोगविवेचनपरक


| विषय | पृष्ठ |
|---|---|
| उपक्रम : ''अजायमानो बहुधा विजायते'' एक.. | |
| तात्त्विक विरोधाभास | १ |
| विरोधाभासकी अनेकता | १ |
| ऋषिरूपमें भगवान् कपिल अवतीर्ण | ७ |
| अवतारवादका सैद्धान्तिक निरूपण वेदमें, व्यावहारिक.. | |
| पुराणोंमें | ७ |
| उपनिषद्-सांख्यका सिद्धान्त | १२ |
| कपिलगीताकी रूपरेखा | १३ |
| भागवतशास्त्रार्थकी एकवाक्यता | २७ |
| भागवतकी रूपरेखा और कपिलगीताका स्थान | ३१ |
| **चौबीसवे अध्यायका निरूपण** | |
| सुबोधिनीकारिका-१ | ३९ |
| अनुवाद | ३९ |
| विवेचन | ३९ |
| कर्दमऋषिद्वारा देवहूतिको सान्त्वन | ४१ |
| श्लोक-१ | ४१ |
| अनुवाद | ४१ |
| मोक्षदाता भगवान् कपिलदेवके अवतारका उपक्रम | ४२ |
| श्लोक-२ | ४२ |
| अनुवाद | ४२ |
| विवेचन | ४२ |
| श्लोक ३-४ | ४२ |
| अनुवाद | ४३ |
| सुबोधिनी | ४३ |

अनुवाद ४४
विवेचन ४५
श्लोक ५-६ ५०
अनुवाद ५०
भगवद्वचनोंकी प्रमाणरूपता ५१
श्लोक ३० ५१
अनुवाद ५१
सुबोधिनी ५१
अनुवाद ५१
भगवान्‌की सर्वरूपता ५१
श्लोक ३१ ५१
अनुवाद ५२
विवेचन ५२
सुबोधिनी ५२
अनुवाद ५२
विवेचन ५३
श्लोक ३३ ५६
अनुवाद ५६
सुबोधिनी ५७
अनुवाद ५७
विवेचन ५८
सांख्यद्वारा आत्मदर्शनकी प्रक्रिया ५८
श्लोक ३६ ५८
अनुवाद ५८
सुबोधिनी ५८
अनुवाद ५९
विवेचन ६०
श्लोक ३७ ६७

अनुवाद ६७
सुबोधिनी ६७
अनुवाद ६७
चौबीसवे अध्यायका उपसंहार ६८

**पच्चीसवे अध्यायका विवरण**

प्रकरणसंगति तथा अध्यायार्थ ७०
सुबोधिनीकारिका १-७ ७०
अनुवाद ७०
विवेचन ७१
विदुरका प्रश्न तथा मैत्रेयका उत्तर ९८
श्लोक १ ९८
अनुवाद ९८
विवेचन ९८
श्लोक ५ ९९
अनुवाद ९९
विवेचन ९९
श्लोक ६ ९९
अनुवाद ९९
विवेचन ९९
माता देवहूतिकी जिज्ञासा और श्रीकपिलदेवद्वारा उपदेशका उपक्रम १००
श्लोक ७ १००
अनुवाद १०१
विवेचन १०१
श्लोक ८ १०२
अनुवाद १०२
विवेचन १०२
श्लोक ९ १०२
अनुवाद १०२

विवेचन १०३
श्लोक १० १०३
अनुवाद १०३
विवेचन १०३
श्लोक ११ १०५
अनुवाद १०६
विवेचन १०६
श्लोक १२ १०६
अनुवाद १०६
विवेचन १०७
योगानुसार शास्त्रार्थ निरूपण १०८
सुबोधिनी अवतरणिका १०८
अनुवाद १०८
विवेचन १०८
कारिका-१ ११०
अनुवाद १११
विवेचन १११
कारिका २-४ १११
अनुवाद ११२
विवेचन ११२
कारिका ५-६ ११५
अनुवाद ११५
विवेचन ११५
कारिका ७ ११६
अनुवाद ११६
विवेचन ११६
भक्तियोगका उपक्रम ११६
श्लोक १३ ११६

अनुवाद ११६
विवेचन ११६
श्लोक १४ १२३
अनुवाद १२३
विवेचन १२३
श्लोक १५ १२३
अनुवाद १२३
विवेचन १२४
श्लोक १६ १३०
अनुवाद १३०
विवेचन १३०
श्लोक १७-१८ १३१
अनुवाद १३१
विवेचन १३१
श्लोक १९ १३७
अनुवाद १३७
विवेचन १३७
श्लोक २० १४१
अनुवाद १४१
विवेचन १४१
सत्संगार्थ साधुपुरुषोंके लक्षण १४६
श्लोक २१-२२ १४६
अनुवाद १४६
विवेचन १४७
कारिका १ १५४
अनुवाद १५४
विवेचन १५४
कारिका २ १६२

अनुवाद १६२
विवेचन १६२
कारिका ३ १६३
अनुवाद १६३
विवेचन १६३
सुबोधिनी १६५
अनुवाद १६५
विवेचन १६६
भक्तियोगमें सत्संगकी प्रक्रिया १७८
श्लोक २३ १७८
अनुवाद १७८
विवेचन १७८
श्लोक २४ १७९
अनुवाद १७९
विवेचन १७९
श्लोक २५-२६ १७९
अनुवाद १८०
विवेचन १८०
श्लोक २७ १८८
अनुवाद १८८
विवेचन १८८
योग्य भक्तिकी जिज्ञासा १९०
श्लोक २८ १९०
अनुवाद १९०
विवेचन १९०
श्लोक २९-३० १९१
अनुवाद १९१
विवेचन १९१

श्लोक ३१ १९२
अनुवाद १९२
विवेचन १९२
भक्तिका लक्षण १९३
श्लोक ३२-३३ १९३
अनुवाद १९३
विवेचन १९४
सुबोधिनी ३२-३३ २०३
अनुवाद २०५
विवेचन २०८
भक्तोंकी साधनावस्था २९८
श्लोक ३४ २९८
अनुवाद २९८
सुबोधिनी २९९
अनुवाद २९९
विवेचन ३००
भक्तोंकी फलावस्था ३२०
श्लोक ३५ ३२०
अनुवाद ३२०
सुबोधिनी ३२०
अनुवाद ३२१
विवेचन ३२२
भक्तोंका सायुज्य ३३३
श्लोक ३६ ३३३
अनुवाद ३३३
सुबोधिनी ३३३
अनुवाद ३३४
विवेचन ३३५

भक्तोंका सालोक्यादि फल ३४३
श्लोक ३७-३८ ३४३
अनुवाद ३४४
सुबोधिनी ३४४
अनुवाद ३४५
विवेचन ३४६
सफलभक्तिका निरूपण ३७०
श्लोक ३९-४४ ३७०
अनुवाद ३७०
विवेचन ३७१
सुबोधिनी ३७९
अनुवाद ३७९
विवेचन ३७९

उद्धरण तालिका ३८४

## ।। श्रीमद्भागवतसुबोधिनीके अन्तर्गत ।।

### ( तृतीयस्कन्धसुबोधिनीके अन्तर्गत )

# ।। कपिलगीता ।।

### ( भक्तियोगविवेचनपरक )

**( उपक्रम : ''अजायमानो बहुधा विजायते'' एक तात्त्विक विरोधाभास )**

विवेचन : कपिल मुनि अपने यहां भगवान्‌के अवतार कहे जाते हैं. वेदमें कपिलको महर्षि, तत्त्वके ज्ञाता कहा है पर भागवतके हिसाबसे कपिल चौबीस अवतारमेंसे एक भगवद्-अवतार हैं. वेदमें इनका वर्णन ऋषिके रूपमें आता है क्योंकि वेदने सूत्ररूपमें कहा है. वह ऐसे कि जैसे **''अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्''** ( तैत्ति.आर.३।१३।३ ) परमात्मा जन्म न लेनेवाली आत्मा है पर बहुत प्रकारसे जन्म लेता है. यह बात विरोधाभास लिए हुए है. जन्म न लेनेवाली आत्मा कई प्रकारसे जन्म लेती है. वेद स्वयं पूछता है कि ऐसा किस लिए है? इसके उत्तरमें वह कहता कि **''तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्''** जिन लोगोंमें धैर्य है वे ही इस बातको पचा सकते हैं. वस्तुओंमें विरोधाभास व्यक्तिको पचता नहीं है. यह विरोधाभास पचानेके लिए थोड़ी धीरज चाहिये.

**( विरोधाभासकी अनेकता )**

यह पूरी बात निर्भर करती है प्रॅक्टिकल् ( व्यावहारिक ) विरोधाभास इमोशनल् ( भावनात्मक ) विरोधाभास एवं इन्टलॅक्चुअल् ( बौद्धिक ) विरोधाभास पर. विरोधाभास एक प्रकारका ही नहीं होता. वे कई प्रकारके हो सकते हैं.

एक माँ मेरे पास आयी और बोली ''मेरा बेटा बहुत ऊधम करता है. मैं कितना भी अपने ऊपर नियंत्रण रखना चाहूं पर मेरा हाथ उसके ऊपर चल ही जाता है.'' मैंने कहा ''नियंत्रण नहीं रहता है तो माँका अधिकार है कि यदि बालक ऊधम करता हो

तो एक-आध थप्पड़ वह उसे लगा सकती है.'' वह बोली ''वह तो ठीक है पर थप्पड़ लगानेके बाद मुझे रोना आता है और वह दुष्ट हँस कर भाग जाता है.'' देखो, यह माँ होनेका इमोशनल् विरोधाभास है. थप्पड़ मारना भी अच्छा लगता है और रोना भी आता है, बालक इस रहस्यको भली प्रकार समझ जाता है. वह इसी बातका लाभ उठाने लगता है. वह बापके थप्पड़से तो डरता है पर माँके क्रोधसे नहीं डरता. इस प्रकारका यह इमोशनल् विरोधाभास होता है.

इसी प्रकार प्रॅक्टीकल् विरोधाभास भी होता है. मैं जानता हूं कि मुझे यह काम नहीं करना चाहिये पर जब मौका आता है तो अपने व्यवहारमें यह विरोधाभास प्रकट हो ही जाता है. प्रॅक्टिस्के ऊपर अपना पूरा-पूरा नियंत्रण होता नहीं है. जैसे इमोशनल् व्यवहारपर अपना पूरा-पूरा नियंत्रण नहीं होता, उसी प्रकार अपने प्रॅक्टिकल् व्यवहारपर अपना पूरा-पूरा नियंत्रण नहीं होता. कई बार ऐसा होता है कि जो व्यवहार हम किसीके साथ नहीं करना चाहते हैं वह प्रकट हो ही जाता है. ठीक उसी प्रकार इन्टलॅक्चुअल् विरोधाभास भी होता ही है. जो लोग बुद्धिमान हैं वे तो इस विरोधाभासको तुरंत पकड़ लेते हैं. ''**अजायमानो बहुधा विजायते**'' इसमें इन्टलॅक्चुअल् विरोधाभास है कि नहीं पर ''**तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्**'' आपमें इन्टलॅक्चुअल् धैर्य है तो ही तुमको पता चल सकता है. बहुत बार वस्तुमें विरोधाभास हो सकता है और अपनी बुद्धिमत्तासे ही आप यदि समझ जाओ कि यह वस्तु विरोधाभासी रूप लिए हुए है तो आपकी समझमें भी वह इन्टलॅक्चुअल् विरोधाभास आयेगा कि नहीं! उदाहरणके लिए देखें तो व्हेल मछली मूलमें मछली नहीं है, एक पशु है. लाखों वर्ष पहले जमीनपर चलती थी पर किसी कारणवश उसे वहां खानेको नहीं मिला. इसलिए वह पानीमें उतर गयी. अब हाल यह है कि जमीनपर चलनेकी बात तो जाने दो

पर कम पानीमें आनेपर भी वह मर जाती है. अब यह विरोधाभास है कि नहीं? वह पशु होनेके बावजूद भी भूचर न हो कर जलचर है. इस बातको यदि आप अपनी बुद्धिसे समझोगे, उसका कारण समझोगे कि ऐसा क्यों हुआ! क्योंकि उस पशुको अपना आहार जमीनपर नहीं मिला, इस कारण वह पानीमें चला गया.

जितने भी छिपकली मगरमच्छ हैं वे डायनासॉर्के वंशज हैं. ये अपनी तरहके गर्म खूनके प्राणी नहीं हैं, ठंडे खूनके प्राणी हैं. डायनासॉर् लाखों वर्ष पहले मर चुके हैं पर अपनी याद यहां छोड़ गये हैं. अपने आपको बचानेके लिए उसने दीवारपर चलना भी सीख लिया. इस तरह वह सर्वाइव् तो कर ही रहे हैं. ऑक्टोपस् भी उसी प्रकारका प्राणी है. उसका खून लाल ना हो कर नीला होता है. लाल खूनवाले कार्बन् और ऑक्सीजन् के आवर्तनवाले प्राणी होते हैं पर ऑक्टोपस्में ऐसा नहीं है, फिर भी वह सर्वाइव् तो कर ही रहा है. इस प्रकार बहुत सारे प्राणियोंमें विरोधाभास तो है और उसको यदि तुम बुद्धिसे समझो तो ही तुमको यह बात समझ आ सकेगी. अपने यहां प्राचीन शास्त्रमें यह कहनेमें आया है कि नृसिंहजीका आधा भाग मानवका था और आधा भाग सिंहका था. अब यदि कोई मानव है तो सिंह नहीं हो सकता और सिंह है तो मानव नहीं हो सकता. पर केवल इस विरोधाभासके कारण यदि आप उनके अस्तित्वको अस्वीकार करो तो आप हिरण्यकशिपु हो. यदि आपमें प्रह्लादकी दृष्टि है तो आप इस विरोधाभासको समझ पायेंगे **''अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्''** बहुतसे लोगोंको यह समस्या होती है. थोड़ा भी विरोधाभास आया नहीं कि बस करो उसका खंडन. पर कितने विरोधाभासोंका तुम खंडन कर पाओगे! इस संसारमें कितने सारे विरोधाभास हैं! अपन् यदि आंकलन करें तो विरोधाभासी होनेवाली बातोंका पलड़ा साधारण होनेवाली बातोंसे भारी ही बैठेगा.

उदाहरणके लिए वैज्ञानिक आज भी यह बात कहते हैं कि जब न्यूक्लियर् विस्फोट होगा तो सारे प्राणी मर जायेंगे पर कॉक्रोच् नहीं मरेगा. उसपर रेडियो-एक्टिविटीका कोई असर नहीं होगा **''तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्''** है कि नहीं विरोधाभास! इसमें क्या कॉक्रोच् प्राणी नहीं है? प्राणी तो है पर मरेगा नहीं. सभी वैज्ञानिक इस बातपर एकमत हैं कि कॉक्रोचपर रेडियो-एक्टिविटीका कोई असर नहीं होगा. वह किस प्रकार एकमत हुए **''धीराः परिजानन्ति योनिम्''** यदि अपन् झाडूसे कॉक्रोचको मारें तो वह मर जाता है पर न्यूक्लियर्-विस्फोटसे नहीं मरता. क्या यह विरोधाभास नहीं है? पर यह है सत्य. इस बातको परखना हो तो अपन् देख सकते हैं कि पहलेके जमानेमें अपनी गटरोंमें इतना एसिड्-साबुन नहीं डाला जाता था. तब भी वह प्राणी उनमें रहता था और आज सभी प्रकारकी वस्तुएं गटर्में डाली जाती हैं फिर भी वह प्राणी उनमें अच्छी तरहसे जिंदा है और समझदार कितना है कि जब आप सो जाते हो तभी वह बाहर निकलता है, जिससे आप उसे मार ना पायें. लाइट् जलाते ही ऐसी जगह छिप जाता है कि आप उसे ढूंढ ही नहीं सकते. हमें कभी-कभी लगता है कि बुद्धिमान अधिक कौन है, वह या हम? पर अपने बुद्धिमान होनेका अहंकार हमें अधिक है. यह विरोधाभास तो है. जिसे अपने बुद्धिमान होनेका अहंकार है, उसमें बुद्धि एक कॉक्रोचसे भी कम है. हम किसी नयी जगह जायें और हमें अचानक छुपना पड़े तो हमें पता नहीं चलता है कि कहां छुपना पर कॉक्रोचको पता चल जाता है. अचंभा होता है कि उसे इतनी जल्दी छुपनेकी जगहका किस प्रकार पता चल जाता है? यह व्यावहारिक विरोधाभास है. इस प्रकार विरोधाभास बहुत जगह है पर उसे समझ वह ही सकता है जो **''तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्''** आपमें धैर्य हो तो आप इस व्यावहारिक विरोधाभासको भली प्रकार समझ सकते हैं. मैं अपनी बात कहूं तो यदि मेरे कमरेमें कॉक्रोच् घुस जाये तो मेरी धीरज छूट जाती है और उसे मारे बिना मुझे चैन नहीं

आता क्योंकि वह कहां-कहां अपने अंडे दे देगा, पता नहीं. पर जहां-तक बुद्धिका प्रश्न है, मैं जानता हूं कि वह मुझसे अधिक बुद्धिमान है.

समस्या यह है कि हमने अपने बुद्धिमान होनेके अहंकारवश एक ऐसी अवधारणा कर ली है कि यदि कुछ भी हमें विरोधाभासी दीखे तो हमें उसे अस्वीकार कर देना चाहिये. इसी कारण वेदमें यह पहले ही कह दिया गया है कि "**अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्**" जिस व्यक्तिमें धैर्य है वह ही इस बातको स्वीकार पायेगा.

अब देखो, धैर्य भी तीन प्रकारके हो सकते हैं : बुद्धिका (Intellectual) भावनाका (Emotional) और व्यवहारका (Practical) इसे समझनेके लिए एक उदाहरण आपको कहता हुं. हमारे किशनगढ़का घर कॉलम्-बीमपर ना हो कर उसकी छत और फर्श मोटी-मोटी दीवारोंपर ही टिकी हुयी हैं. उसकी दूसरे मंजिलकी छतमें एक क्रेक् आ गयी. वह पटिया यदि गिरती तो नीचे पहिले मंजिलके फर्शको भी तोड़ देती. इस कारण मैंने मुम्बईसे सिविल् इन्जीनियर्को बुलवाया. उसने कहा कि "यह नीचे गिरे उससे पहले इसकी दीवारोंको तोड़ कर उस पटियाको नीचे उतार लेना चाहिये और उसके स्थानपर नया लगा देना चाहिये" इस सब काममें खर्चा भी अधिक था और समय भी अधिक लगता. मैं इस बातकी चर्चा गाँववालोंके साथ कर रहा था. एक व्यक्तिने मुझे आ कर कहा कि "यह तो बहुत आसान है. मेरा एक जानकार मिस्त्री है, उसने ऐसे कई घर ठीक किये हैं." बिल्कुल अनपढ़ व्यक्ति था. आ कर बोला "यह तो मैं अभी अकेला ठीक कर देता हूं." मैंने उस सिविल् इन्जीनियर्से कहा "तुम आपसमें बात करके निश्चित करो कि क्या करना चाहिये" उसने कहा "यह तो अनपढ़ है इसकी बात यदि

आप मानेंगे तो सब ढह जायेगा और आप कानूनी कार्यवाहीमें फंस जायेंगे.'' मैंने उस मिस्त्रीसे कहा कि ''तुम्हें क्या कहना है?'' वह बोला ''मुझे पता नहीं कि यह क्या बोल रहा है पर ऐसी क्रेक् पटिया मैंने कम-से-कम पंद्रह जगहपर बदली हैं.'' अब मैं किसकी बात मानूं? एकको प्रॅक्टीकल् ज्ञान और दूसरेको पुस्तकका ज्ञान. इसलिए आपसी बातचीतसे तो कोई हल निकलनेवाला नहीं था. आखिर मैंने यह सोचा कि यह गाँवका मकान है, इस कारण गाँवके मिस्त्रीपर ही विश्वास करना ठीक रहेगा. मिस्त्रीको काम करनेकी अनुमति दे दी. बेचारा सिविल् इन्जीनियर् मुझे चेतावनी देता रहा ''महाराज! आप बहुत जोखिम उठा रहे हैं.'' मैंने सोचा अब जो होगा, देखा जायेगा. उसने फिर कहा ''आप करवा ही रहे हो तो कम-से-कम इसके नीचे बल्लीकी सपोर्ट तो दे दो, जिससे कि यदि यह गिरे तो नीचे नहीं गिरे.'' मैंने उस मिस्त्रीसे ऐसा करनेको कहा तो उसने मारवाड़ीमें इतनी सुंदर बात कही ''देखो सा! जो डॉक्टर् ऑपरेशन् करे वोही इन्जेक्शन् देवेला. जो ऑपरेशन् मैं करा तो इन्जेक्शन् मैं ही देऊंला.'' आगे बोला ''आपको यदि डर लगता हो तो आप ऊपर फर्शपर कांच चिपका दो. यदि उसमें क्रेक आया तो ही तो पटिया गिरेगी.'' मुझे भी लगा कि बात तो यह ठीक ही कह रहा है. मेरे देखते-देखते उसने वह पत्थरकी पटिया अकेले ही बिना किसी सपोर्टके बदल डाली. उसके नीचे रेल्के दो गर्डर् डाल दिये ''**तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्**'' उसमें व्यावहारिक धैर्य था. इसलिए वह काम संभव हुआ. सिविल्-इन्जिनियर्में वह नहीं था क्योंकि वह बुद्धिशाली था, शास्त्र पढ़ा हुआ था. उसे उसके बुद्धिमान होनेका अहंकार था पर व्यावहारिक धैर्यमें वह शून्य था. ऐसा नहीं था कि उसे कुछ आता नहीं था. कई मकान उसने बनाये थे. बहुत पढ़ा-लिखा भी था पर उस स्थानपर वह एक मूर्खसे अधिक कुछ भी साबित नहीं हुआ और जो मूर्ख था वह बुद्धिमान साबित हो गया. आप मानोगे नहीं पर बीस बरसका वह

लड़का पूरे एक मोटे पत्थरके पटिया अकेला बाहर फेंक आया. मुझे लगता था कि उसे फेंकनेके लिए तो कम-से-कम चार व्यक्ति तो लगेंगे ही **''तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्''** हरेक बातमें कुछ व्यावहारिक विरोधाभास होते हैं, कुछमें बौद्धिक विरोधाभास होते हैं और कुछमें भावनात्मक विरोधाभास होते हैं.

### ( ऋषिरूपमें भगवान् कपिल अवतीर्ण )

यही विरोधाभास वेदने भी कहा है अवतारके बारेमें. बहुतसे लोग कहते हैं कि वेदोंमें अवतारवाद नहीं कहा गया है. यह तो बादमें पुराणोंमें जोड़ा गया है. पर यह वाक्य तो अवतारवादका बाप है. महर्षि दयानन्द जैसे विचारक और आज-कलके इन्डोलॉजिस्ट् यही कहते है कि वेदमें अवतारोंकी चर्चा कहीं नहीं है. क्योंकि पुराणोंमें जिन अवतारोंका वर्णन किया गया है वह एक चरित्रके रूपमें आते है, अवतारके रूपमें नहीं आते. पर थियोरी तो वहां भी कही ही गयी है **''अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्''** वहां यह नहीं कहनेमें आया है कि कितने अवतार हुए पर अवतारोंका सिद्धांत कहनेमें आया है. पुराणोंमें शंकरका पार्वतीका लक्ष्मीका देवीका गणपतिका विविध अवतारोंका वर्णन किया है. यह वेदके विरुद्ध जाती बात नहीं है, यह तो उसकी पूरक बात है. इसी प्रकार वेदमें कपिलको ऋषि कहनेमें आया है पर पुराणोंमें यह खुलासा किया गया है कि ऋषि-रूपमें भगवान् अवतीर्ण हुए.

### ( अवतारवादका सैद्धान्तिक निरूपण वेदमें, व्यावहारिक पुराणोंमें )

अब एक बात ध्यानसे समझो कि जो वराहरूपमें भगवान् अवतीर्ण हो सकता हो, जो मत्स्यरूपमें भगवान् अवतीर्ण हो सकता हो, जो ग्वालके रूपमें भगवान् अवतीर्ण हो सकता हो, तो ऋषिरूपमें अवतीर्ण होनेमें भगवान्को क्या समस्या हो सकती है? पर जो पाश्चात्य संस्कृतिसे प्रभावित इन्डोलॉजिस्ट्में धीरज नहीं होती है. वे कहते हैं कि ''वेदमें अवतार नहीं है तो अवतारका सिद्धांत पुराणोंकी देन

है.'' और लाल-बुझक्कड़ भी भारतमें कम नहीं हैं.

लाल-बुझक्कड़ कौन होता है यह समझो. किसी गाँवमें किसीने हाथी नहीं देखा था. एक दिन वहांसे एक हाथी गुजरा. वहांके लोगोंने कभी इतने बड़े पैरके निशान नहीं देखे थे. वह असमंजसमें थे. गाँवमें एक ही समझदार मनुष्य था लाल-बुझक्कड़. सबने उससे जा कर पूछा ''तुम सबसे समझदार हो, बताओ कि कौनसे प्राणीके पैरोंके यह निशान हैं?'' वह बोला ''यह तो हिरण अपने पावोंमें चक्की बांध कर कूदता हुआ यहांसे गया लगता है.'' ऐसे व्यक्तिका नाम 'लाल-बुझक्कड़' *लाल-बुझक्कड़ बूझिया और ना बूझा कोय पगमें चक्की बांधके हिरना कूदा होय.* अपने भारतमें लाल-बुझक्कड़ोंकी कमी नहीं है. ऐसे व्यक्ति यही कहते हैं कि ''इन पुराणोंने सारी गप्प ही मारी है.'' वह तो यहां-तक कहते हैं कि ''अवतारवाद तो भारतमें था ही नहीं. सबसे पहले सेन्ट्-थॉमस् जो जीसस्के शिष्य थे, वह इस अवतारवादके सिद्धांतको भारतमें ले कर आये क्योंकि बाइबल्में अवतारकी कथा है और क्राइस्ट् गॉड्का अवतार है. इसीसे भारतीयोंको पता चला कि इनमें अवतार हो सकता है तो हमारे यहां क्यों नहीं हो सकता! इसीसे उन्होंने सारे पुराण लिख दिये, जिनमें अवतारोंका ही वर्णन था. क्राइस्ट्का कृष्ण कर दिया और सारी कहानियां लिख डाली.'' देखो, है कि नहीं लाल-बुझक्कड़वाली बात! कोई-कोई लाल-बुझक्कड़ ऐसा आता है जो कहता है कि ''बुद्ध भगवान्ने अपने अनेक अवतारोंका वर्णन किया है. उनके धर्मके सामने हिन्दु-धर्मको लड़ना था, इसलिए वेदवाले ब्राह्मणोंने पुराण लिख डाले.'' कोई कहता है कि ''हमने जैनोंकी नकल की है क्योंकि जैन-धर्ममें भी चौबीस तीर्थंकरोंका वर्णन आता है.'' हमारे और उनके तीर्थंकर भी एकसे हैं. हम अवतार मानते हैं और वे उनको तीर्थंकर मानते हैं. भेद केवल इतना ही है कि क्या वह स्वयं भगवान् है अथवा अपने किसी प्रयाससे भगवान् बने हैं? इस प्रकार सभी जगह घोटाला है. पर वेदमें जो ''**अजायमानो बहुधा विजायते**''

कहा है वह अवतारवादका सैद्धांतिक पुष्टिकरण है. उसका व्यावहारिक विस्तृत विवरण पुराणोंमें कहा गया है.

इस कारण कपिलको हम विष्णुके अवतार मानते हैं. और कपिलजी प्रभुके ज्ञानावतार हैं. सबसे पहले सांख्यका उपदेश इन्होंने ही दिया है. सांख्यमतकी जो प्रक्रिया है वह वैदिक प्रक्रिया है कि अवैदिक है, यह विषय एक चर्चाका विषय रहा है. वेदमें एक स्थानपर नहीं कई स्थानोंपर कपिलका उल्लेख बहुत आदरपूर्वक कहा गया है कि वे ऋषि ही नहीं महर्षि थे. अवतार नहीं कहा है. गीतामें तो भगवान् कहते हैं **''यद्-यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा तत्तदेव अवगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्''** (भग.गीता १०।४१) ''जो गिनाये गये हैं उतने ही नहीं पर जिसमें भी थोड़ी अधिक विशेषताएं दिखलायी दें तो तू उसको मेरा अवतार समझ.'' अपना जो अवतारोंका सिद्धांत है वह गीताके हिसाबसे चौबीस अवतारोंमें सीमित हो जाये ऐसा नहीं है. यदि आपमें कोई विशेषता है तो आप उसका श्रेय स्वयं मत लो. इस जगतका मूल कारण एक ब्रह्म है. उसमें रही हुयी शक्ति आपमें व्यक्त हो रही है, ऐसे उसको समझना चाहिये.

अभी आपकी कक्षासे पहले किसीको मैं यह बात बता रहा था कि एक बार मैं व्रजयात्रा करने गया था. जतिपुरासे कामवन मैं बससे जा रहा था. क्योंकि उस साल बहुत बाढ़ आयी थी और चल कर जाना संभव नहीं था. बसमें बैठ कर कोई पुस्तक पढ़ रहा था कि एक भाईने पूछा ''क्या पढ़ रहे हो?'' मैंने अपनी पुस्तक उनको दे दी. उन्होंने भी एक पुस्तक मुझे दी. देहलीसे 'सरिता' नामकी एक मासिक पुस्तक निकलती थी. अब पता नहीं, है कि नहीं. वह बिल्कुल हिन्दु-विरोधी पत्रिका थी. उसमें एक लेख था, जिसमें लिखा था कि राम और लक्ष्मण बहुत डरपोक थे और मेघनाद और उसका भाई कितने वीर थे! मैंने लेख पढ़ कर

वह पुस्तक उन महाशयको वापिस कर दी. उन्होंने पूछा "कैसी लगी?" मैंने कहा "जची नहीं." उसने मुझपर टोंट कसा "हां आपको क्यों जचेगी?" मैंने कहा "अरे भाई पहले कारण तो जानो कि क्यों नहीं जची." वह बोला "बताओ क्या कारण है." मैंने कहा "इसमें लिखा है कि 'मेघनादने एक यज्ञ किया था और वह यज्ञ यदि संपन्न हो जाता तो उसके पास ऐसे रथ और आयुध आ जाते कि उसको फिर जीतना किसीके लिए संभव ही नहीं होता. इसलिए राम-लक्ष्मणने कायरता दिखाते हुए यज्ञका ध्वंस कर दिया.' अरे मैंने भी कई बार यज्ञ किया है पर आज-तक ऐसी वस्तुएं मैंने उसमेंसे निकलती हुयी नहीं देखीं. यह तो पूरी-पूरी गप्प लिखी है इसमें." यह सुनके वह एकदम फूट पड़ा "पर यह तो तुम्हारे शास्त्रकी बात है." मैंने कहा "यदि मेरे शास्त्रकी बात करते हो तो उसमें तो राम-लक्ष्मण हीरो हैं और मेघनाद विलेन् है. पहले इस बातका खुलासा करो कि तुम किस शास्त्रकी बात करना चाहते हो. यदि अपने शास्त्रकी बात कर रहे हो तो पहले यह सिद्ध करके बताओ कि यज्ञमें घी झोंकनेसे आयुध निकलते हैं. मेरे हिसाबसे तो घी झोंकनेसे धुंएके अतिरिक्त कुछ और नहीं निकलता. अब हमारे शास्त्रकी बात करें तो उसमें तो राम हीरो है क्योंकि रावणने रामकी पत्नीको हरा था और मेघनाद उसकी ओरसे लड़नेके लिए यज्ञ कर रहा था. रामने तो रावणकी पत्नीका हरण नहीं किया. इसलिए हीरो तो राम ही है." ऐसे लाल-बुझक्कड़ कुछ-ना-कुछ ढूंढ ही लेते है. कुछ भी वचन मिल जाये, बस डंडा ऊंचा कर लेते है.

मुद्दा यह नहीं है. धैर्यसे एक बात समझो कि "**तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्**" भगवान् यहां-तक कबूल करते हैं कि "**सिद्धानां कपिलो मुनिः**" (भग.गीता १०।२६) जो संसारमें सिद्ध पुरुष हुए हैं उनमें कपिल मेरा अवतार है. अब तुम पुराणोंको यदि नहीं मानना

चाहते तो मत मानो. फिर तो तुम कोई अपनी बात करो कि कपिल महर्षि है, सिद्ध है या अवतार है, इन तीनों वाक्योंमें तुम्हें एकवाक्यता करनी पड़ेगी.

आपको एक बात बताऊं. बाइबल्में मोज़ज़् हर बातमें चमत्कार दिखाता है. बहुत ही अद्भुत चमत्कार उसने किया ''ईजिप्तके राजाका बड़ा बेटा मर जाये'' तो वह मर जाता है. उसने कहा ''नाइल्में खूनकी नदी बहें'' तो वहां पानीकी जगह खून बहने लगता है. उसने ऐसे-ऐसे चमत्कार कई सारे दिखाये. चमत्कार क्राइस्टने भी दिखाये. समुद्रपर चल कर दिखाया. मरे हुए मनुष्यको जिंदा करके दिखाया. मोहम्मद साहब भी कहते थे कि ''मैं उसी परम्परासे आया हुआ पैगम्बर हूं'' सभी उनसे यह कहते थे कि ''उन सभीने तो कई चमत्कार दिखाये, आप तो कोई चमत्कार नहीं दिखा रहे हो तो हम आपको कैसे पैगम्बर मानें!'' अब मोहम्मद साहबकी यह समस्या थी कि वह कोई चमत्कार नहीं दिखा पाते थे. एक दिन जब वह बहुत परेशान हो गये तो उन्होंने एक बहुत सुंदर बात कही ''आसमानमें जो सूर्य और चंद्रमा चल रहे हैं वह क्या कोई छोटा चमत्कार है? कोई ऊपर पानी भरने नहीं गया तो भी बरसात पड़ रही है. यह क्या कोई छोटा चमत्कार है? अब इतने चमत्कार होनेपर भी तुम्हें विश्वास नहीं हो रहा है तो मैं एक और चमत्कार दिखाउं तो तुम्हें विश्वास हो जायेगा, यह मैं कैसे मान लूं? और यदि विश्वास आना ही है तुम्हें तो यह चमत्कार देख कर भी विश्वास आना चाहिये. इसलिए मैं कोई भी चमत्कार नहीं दिखाउंगा. तुम्हें मानना हो तो मानो और नहीं मानना हो तो नहीं मानो.''

जहां-तक चमत्कारकी बात है, जो वस्तु हम नहीं समझ सकते है वह हमें चमत्कार लगती है. जिसे हम समझ जाते हैं वह चमत्कार रहती ही नहीं है. मनुष्य ऐसा प्राणी है कि जिसे प्रत्येक बात समझ आ नहीं सकती. इसीलिए उसे वह चमत्कार लगती

है. ऐसा तो कभी हो ही नहीं सकता कि मनुष्यको हर बात समझ आ ही जाये. जादू देखनेका मजा तब-तक है, जब-तक वह ट्रिक् हमें समझ न आये. ट्रिक् समझ आयी और जादूका मजा समाप्त. अच्छा जादूगर वही है जो आपको कई ट्रिक् दिखाये पर आपको समझ एक भी न आये. भगवान्के पास भी अनेक ट्रिक्स् हैं, किसीको हम पकड़ लेते हैं तो किसीको नहीं पकड़ पाते. यह भी तो एक ट्रिक् है कि **''अजायमानो बहुधा विजायते''** हमें ट्रिक् नहीं समझ आती इसलिए जादू लगता है. जादूपर किसीको श्रद्धा हो जाती है तो किसीको नहीं होती. तो इस बातको ठीकसे समझ लो कि पुराण और वेद में कोई विरोधी बात नहीं कही गयी है. एक ही बात, जो वेदमें सिद्धांतके तौरपर कही गयी है वही बात पुराणोंमें विस्तारपूर्वक कही गयी है. जो कपिल वेदमें महर्षिकी तरह वर्णित हैं वे यहां 'भगवद्-अवतार' कहे गये हैं. उनमें भगवान्के गुण हैं कि नहीं? इसलिए वह भगवद्-अवतार हुए कि नहीं!

### (उपनिषद्-सांख्यका सिद्धान्त)

अब समझनेवाली बात यह है कि सांख्य और उपनिषद् के सिद्धांतमें भेद क्या है? उपनिषद् ब्रह्मके एकत्वको प्रकट करनेवाला शास्त्र है. उसकी ट्रिक् भी कोई जादूसे कम नहीं है. वह(ट्रिक्) यह है कि जहां-जहां आपको द्वंद्व दिखलायी देता है वहां-वहां उसमें एकत्व किस प्रकार देखना, यह बात उपनिषद् हमें समझाता है. सांख्यका इससे विपरीत सिद्धांत है. जहां-जहां भी एकत्व दिखलायी दे, उसमें किस प्रकार विविधता दिखा दे यह सांख्य समझाता है. जब भी हम किसी वस्तुका क्रय करते हैं तो सबसे पहले उसका मूल्यांकन करते हैं कि उसीको बनानेमें कुल कितनी लागत आयेगी. मूल्यांकनमें दूसरी जो बात हम पूछते हैं वह है कि यह मूल्यांकन किस आधारपर किया है उसका ब्रेक-अप् दो. सांख्य मूलमें इकाईका ब्रेक-अप् समझानेवाला शास्त्र है और उपनिषद्में उस ब्रेक-अपसे इकाई

किस प्रकार बनी, यह समझाया गया है. अब देखो, फिर विरोधाभास आ गया. पर यह विरोधाभास दृष्टिकोणका है परिणामका नहीं है क्योंकि एकको आप उसमें रही हुयी अनेकतासे समझो अथवा अनेकको समझ कर आप एकको समझो. बात तो एक ही है. एक और उसकी अनेकता एक ही सिक्केके दो पहलु हैं. यह बात किसी-किसीको धीरज धरनेसे ही समझ आती है. अधिकांशका तो धैर्य छूट ही जाता है. वह कहते हैं ''यदि एक है तो अनेक नहीं हो सकता और अनेक हैं तो एक नहीं हो सकता.'' उपनिषद्में अनेकमें एकको कैसे देखना यह समझाया गया है और सांख्यमें ठीक उसके विपरीत मानें एकमें अनेक किस प्रकार देखना यह बात समझायी गयी है.

## ( कपिलगीताकी रूपरेखा )

मनुष्यकी बुद्धि किस प्रकार काम करती है कि चाहे वह रोटी हो अथवा पापड़ हो, उसे एक बाजूसे सेकनेपर वह अच्छी तरह नहीं सिकती. दोनों ओरसे सेकें तो ही अच्छी सिकती है. इसी प्रकार एकको अनेकसे सेकना चाहिये और अनेकको एकसे. तो ही वह बराबर सेके जा सकेंगे. मनुष्यकी समझके आधारपर यह विरोधी होते हुए भी एक दूसरेके पूरक भी हैं. पर यह देखनेकी सिफत हमें आनी चाहिये ''**अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्**'' जो अजायमान है वह कई प्रकारसे जायमान हो रहा है. पर धैर्य होगा तो ही तुम्हें समझमें आ सकेगा और यदि धैर्य छूट गया कि एक अनेक किस प्रकार हो गया जो अजायमान हो वह जनम कैसे गया? तो मूल तत्त्व हाथसे निकल जायेगा. अक्सर पहाड़ोंके घाटमें लिखा होता है सावधानी हटी दुर्घटना घटी. इसी प्रकार यह धैर्यवाली सावधानी हटी तो आपकी गाड़ी तत्त्वके ट्रेक्पर रहनेके बजाय सीधी नीचे गढ्ढेमें उतर जायेगी. इस बातकी सावधानी आवश्यक है. अब वेद और भागवत के बीचमें, भागवत उपनिषद्को समझानेवाला ग्रंथ है पर यह कपिलको भगवान्का अवतार

मान कर समझा रही है. कपिलको हटा कर नहीं समझा रही कि कपिलने कुछ अलग कहा है. कपिलने भी वही बात कही है पर विपरीत दिशाके आधारपर कही है. कपिल भगवान्का एक अवतार है ऐसे भगवान्के दूसरे भी अवतार हैं. उनकी कथा भी भागवतमें कही गयी है. उन सारे अवतारोंमें एक तत्त्वको किस प्रकार देखना, यह भी भागवतमें समझाया गया है. प्रत्येक बात भागवतमें है. अब क्योंकि वेदमें हर बातको खोल कर नहीं बताया गया है इसलिए लाल-बुझक्कड़ोंको यह लगता है कि यह सब बादमें लिखे गये ग्रंथ हैं. वेद और भागवत की तुलना करके देखो, वेद और सांख्य की तुलना करके देखो, वे एक ही सिक्केके दो पहलु हैं.

कपिल ऋषिका योगदान इस प्रकारका है कि जो वेद एक प्रकारसे समझाता था वही बातको उन्होंने दूसरे ढंगसे समझायी है. बात वहकी-वह है पर वहां ऊपरसे नीचे लाये हैं और कपिल नीचेसे ऊपर गये हैं. देखा जाये तो ऊपर-नीचे कुछ है नहीं. न एक ऊपर है और न नीचे, सभी कुछ बराबर हैं. जैसे पृथ्वीसे देखें तो चंद्रमा ऊपर दिखलायी देता है पर चंद्रमापर जायें तो पृथ्वी ऊपर दिखलायी देती है. वहां पृथ्वीका उदय और अस्त होता है, जैसे यहां चांदनी पड़ती है वैसे ही वहां पृथ्वीकी नीलिमा पड़ती है. क्योंकि पृथ्वी नीले रंगकी दिखायी देती है. धरातलपर हमें महसूस नहीं होता कि पृथ्वीका रंग नीला है पर अंतरिक्षमें जायें तो यहांका रंग एकदम नीला दिखलायी देता है. अब वेदके ऋषियोंको कैसे मालूम पड़ा कि पृथ्वीका रंग नीला है! वे तो कभी भी अंतरिक्षमें गये नहीं थे. तिरुपति बालाजीकी स्वामिनी नीला हैं. उनसे रूठ कर पद्मा; जो कि दूसरी स्वामिनी हैं बालाजीकी, कोल्हापुरमें बैठी हैं. 'पद्मा' मानें लक्ष्मी और 'नीला' मानें पृथ्वी. पद्माजीका सारा खर्चा; जो कि पत्नीका हक है, तिरुपतिबालाजी अभी भी वहांसे भेजते हैं. हमको तो पृथ्वी नीली नहीं दीखती तो ऋषियोंको कैसे

दिखलायी दी? उन्हें कैसे अनुमान हुआ कि पृथ्वी नीली है! उनके देखनेका कोई तो यौगिक दृष्टिकोण होगा. जो अंतरिक्षसे पृथ्वीका दृश्य दिखायी देता है वह ऋषियोंको कैसे उपलब्ध हुआ! वैज्ञानिकोंके हिसाबसे तो ऋषि जंगलोंमें घूमनेवाले मूर्ख लोग हैं. वैज्ञानिकोंको पृथ्वी नीली कब दिखायी दी कि जब वह अंतरिक्षमें गये तब. पर ऋषियोंको पृथ्वीपर बैठे-बैठे कैसे ज्ञात हुआ कि पृथ्वी नीली है!

इसी प्रकार पुराणोंने देखा कि उस एककी अनेकता है और वेदने देखा कि उस एकके अनेक रूप हैं. किसी-किसीको अनेकतामें एकता नहीं दिखायी देती. यह तो स्वाभाविक ही है क्योंकि प्रत्येक व्यक्तिके दृष्टिकोण अलग-अलग हैं. किसीका एकत्व देखनेका है और किसीका अनेकत्व देखनेका. जिसका जो दृष्टिकोण है उसको वही तो दिखायी देगा. हम पृथ्वीपर रहनेवालोंको कई रंग दिखलाई देते हैं पर नीला नहीं दिखता. पर अंतरिक्षमें सभी रंग मिल कर नीले हो जाते हैं. यह इस कारण कि हमारा दृष्टिकोण बदल गया. इसी प्रकार वेदका एक दृष्टिकोण है अनेकको एकमें देखनेका और सांख्यका दूसरा दृष्टिकोण है कि एक किस प्रकार अनेकमें विभाजित हुआ है. यह कपिल ऋषिका दृष्टिकोण है. बस इतना ही अंतर है. अब यदि तुम्हें इसमें विरोधाभास दिखलायी देता हो तो बस यही बात कहनी पड़ेगी कि **''अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्''** धीरज धरोगे तो यह विरोधाभास समझमें आ जायेगा और धीरज खो दी तो समझ नहीं आयेगा नहीं आयेगा और नहीं ही आयेगा. इसलिए कपिलको समझनेसे पहले यह धीरज तुम्हें धरनी होगी.

कपिलमुनिने यही धीरज अपनी माताको दी क्योंकि उनकी माँ देवहूतिकी भी यही समस्या थी. माँ होनेके कारण उनमें कपिलके लिए ममत्व था और कपिल कह रहे हैं कि ''मैं तुझे छोड़ कर

जंगल जा रहा हूं.'' किसी भी माँ और बेटे के बीच यह समस्या तो रहनी ही है. माँ यदि इतनी ममता रखती हो और बेटा अनासक्ति दिखलाता हो तो उनमें सच्चा कौन? दोनों यदि मिथ्या हों तो तो कोई समस्या ही नहीं है. पर यदि दोनों सत्य हैं तो फिर विरोधाभास खड़ा हो जाता है. अब निश्चय कैसे करना कि कौन सही है और कौन गलत. एक फिल्मी गाना भी है न इसी समस्याको दिखानेके लिये. हीरो लोकसेवा करना चाहता है और हिरोइन् कहती है कि *तुम मुझे भूल भी जाओ तो ये हक़ हे तुमको, मेरी बात ओर है मैंने तो मुहब्बत की है*तो हीरो जवाब देता है *ज़िंदगी सिर्फ मुहब्बत नहीं, कुछ और भी है, ज़ुल्फ और रुकसार की जन्नत नहीं कुछ और भी है, भूख और प्यास की मारी हुयी इस दुनियामें इश्क ही एक हकीकत नहीं, कुछ और भी है.* तो दोनोंमें यह विरोधाभास हो सकता है. अब इनमें सच्चा कौन है और झूठा कौन! अंततः यह केवल अपने दृष्टिकोणपर ही निर्भर करता है. यही समस्या शिवाजी और उनके पुत्र के बीच भी थी. लड़केको यह लगता था कि शिवाजी उसकी ओर ध्यान न दे कर हिन्दुओंकी ओर अधिक ध्यान देते है. शिवाजी कहते थे ''तुम हिन्दुओंमें आ गये कि नहीं? मैं जिनके लिए लड़ रहा हूं उसमें तेरा भविष्य भी तो है.'' पर लड़केको अन्यथा ही लगता था. यही समस्या गांधीजीकी थी. देवदासको भी यही लगता था कि गांधीजी उसपर ध्यान देनेके बजाय राष्ट्रपर अधिक ध्यान देते है. जब जबलपुरमें गांधीजीकी ट्रेन् पहुंची तो वहां सभी गांधीजीकी जयके नारे लगा रहे थे और देवदास कस्तूरबाकी जयके नारे लगा रहा था. तब गांधीजीने कस्तूरबासे कहा ''देख, तेरा बेटा क्या बोल रहा है'' तब कस्तूरबाने कहा ''क्या यह मेरा ही बेटा है आपका नहीं है?'' यह दृष्टिकोणका अंतर है. गांधीजी ऐसे विचारके थे. मुझे सारे भारतके लिए काम करना है और देवदास बेटा होनेकी हैसियतमें सोचता था कि पहला अधिकार उसका है. उसको यह

भी लगता था कि उसकी माँके ऊपर गांधीजी बहुत अत्याचार करते है. सचमें गांधीजी ऐसा करते भी थे. बेचारी बीमार पड़ी थी और उसने अपने अंतिम समयमें गांधीजीसे कहा ''आज आप मेरे पास ही रहो.'' पर गांधीजीने कहा ''यह तो मेरे नित्य टहलनेका समय है.'' यह कह कर वह चले गये. पीछेसे कस्तूरबा मर गयी. कहनेका अर्थ है कि इस प्रकारकी समस्या हर जगह है. मैं यहां किसीका पक्ष नहीं ले रहा हुं पर केवल यह बतानेका प्रयास कर रहा हुं कि इस प्रकारकी समस्या अतीतमें आती रही है, वर्तमानमें चल रही है और भविष्यमें आयेगी ही.

कपिल और उनकी माँ की भी समस्या यही है कि जिस बेटेको मैं चाहती हूं उसको अपने पास रखना चाहती हूं. वही मुझे छोड़ कर जानेको कह रहा है तो जीवनमें त्याग सत्य है या राग सत्य है? वह अपने बेटेसे यही पूछ रही है. कपिल कह रहे हैं कि राग मिथ्या है और माँको लग रहा है कि त्याग मिथ्या है राग सत्य है. तो दोनोंमें यह अन्तर्द्वन्द तो है पर ठीक क्या है इसका निर्णय करनेके लिए हमें वही बात समझनी पड़ेगी **''तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्''** यह कथा तो सब स्थानपर होनी है, अनुपात कम-अधिक हो सकता है. यह जीवनका एक सत्य है. यह हमारी इस विषयकी दूसरी रूपरेखा है. अभी इसमें एक और बात समझनी है कि यह एक बहुत रुचिकर वार्तालाप है माँ और उसके पुत्र के बीच. इसमें उनके बीचका टकराव भी हृदय-स्पर्शी है.

ऐसी ही एक रोचक चर्चा उपनिषद्में मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य के बीच आती है. याज्ञवल्क्यकी दो पत्नीयां थी, कात्यायनी और मैत्रेयी. याज्ञवल्क्यको भी कपिलकी तरह वैराग्य आया तो उन्होंने मैत्रेयीको बुला कर कहा ''देखो, मैं अपनी संपत्तिके दो भाग कर रहा हूं. जिससे मेरे जानेके बाद तुम्हारे और कात्यायनीके बीच कोई

झगड़ा न हो. मैं तुम दोनोंको प्रसन्न देखना चाहता हूं.'' मैत्रेयीने वहां एक सवाल किया है कि ''यदि तुम मुझे छोड़ कर जा रहे हो तो इसका अर्थ यह है कि कोई ऐसी वस्तु है जो तुम्हें मुझसे अधिक प्रिय है. यदि ऐसी कोई वस्तु है तो उसका भी मुझे क्यों नहीं भाग देते क्योंकि मैं तुम्हारी अर्धांगिनी हूं. जिस संपत्तिको तुम छोड़ कर जा रहे हो उसमें मुझे हिस्सा दे रहे हो और जो संपत्ति तुम हासिल करने जा रहे हो उसमें मेरा हिस्सा क्यों नहीं रखते?'' इस बातपर याज्ञवल्क्यको झुकना पड़ा. मैत्रेयीने पूछा ''आप क्या पाने जा रहे हो?'' याज्ञवल्क्यने कहा ''मैं अमृतत्वकी खोजमें जा रहा हूं. जो मैं छोड़ कर जा रहा हूं वह तो मर्त्य है.'' मैत्रेयीने कहा ''मुझे फिर क्यों उस अमर्त्यताका हिस्सेदार नहीं बनाते! मेरे लिए यह मर्त्य वस्तु ही क्यों छोड़ कर जा रहे हो! **''सा होवाच मैत्रेयी येन अहं न अमृता स्यां किम् अहं तेन कुर्याम्? यदेव भगवान्! वेद तदेव मे ब्रूहि इति''** (बृह.उप.२।४।३) तुम अमर हो जाओ और मैं मर जाऊं ऐसा अपना दाम्पत्य किस प्रकारका? यदि आप मुझे अपनी अर्धांगिनी मानते हो तो आपको मेरे साथ उसका भी साझा करना चाहिये.'' यह अन्तर्द्वन्दमें कौन सच्चा और कौन झूठा, कैसे निश्चय करें? याज्ञवल्क्य वहां कहते हैं कि ''जितना भी द्वैतका ज्ञान है उससे जो कुछ भी प्राप्त होगा वह तो मर्त्य ही होगा और जो उस अमर्त्यका ज्ञान है वह एकत्वको जाने बिना मिल ही नहीं सकता है. इसलिए अब मैं तुम्हें उस एकत्वके बारेमें बताता हूं'' देखो, इस कहानीमें पिछली कहानीसे एकदम ही विपरीत बात है. दोनोंमें एक विपरीत संदेश है, विपरीत आदर्श है. यहां पति-पत्नीके बीच है और वहां माँ-बेटेके बीच है. दोनों कहानियोंमें एक अद्‌भुत विरोधाभास है पर दोनों एक-दूसरेकी विरोधी न हो कर एक-दूसरेकी पूरक हैं. यह बात तुम्हें अच्छी तरह समझनी होगी. यह समझोगे तो ही तुम्हें यह समझ आयेगा कि भागवतमें किसलिए यह कहा गया है कि भागवत आपको वेदका हृदय बतानेवाला

शास्त्र है. **''निगमकल्पतरोः गलितं फलं शुकमुखाद् अमृतद्रवसंयुतं पिबत भागवतं रसम् आलयं मुहुरहो रसिकाः भुवि भावुकाः''** (भाग.पुरा.१।१।३) 'निगम' मानें वेद. वह वेद एक ऐसा कल्पवृक्ष है कि जिसपर भागवत रूपी सुपक्व फल है. यह फल किसी प्रकारका भेदभाव नहीं करता. उपनिषद्का सिद्धांत कहते हुए सांख्यको भी ध्यानमें रखता है और उस सिद्धांतको उपनिषद्से सिन्थेसाइज़् करके बताता है. इस अर्थमें यह वेदका फल है. यह इस रूपरेखाका तीसरा आयाम है. इन तीन पॉइंट्सको तुम्हें रूपरेखाके तौरपर याद रखना होगा. कपिलगीताको समझनेके लिए फिरसे एक बार दोहरा दूं.

१. वेदका सिद्धांत कपिलको ऋषि माननेका है इसलिए कपिल अवतार नहीं है. गीता कपिलको सिद्ध कह रही है और यह भी कह रही है कि सिद्धोंमें मेरा रूप है. भागवत इसका और खुलासा कर रही है कि कपिल अवतार है. अब यह तीनों बातें विरोधाभास लिए हुए हैं पर इनमें इस प्रकारसे एकवाक्यता आ रही है कि जो भगवान् मछली कछुआ घोड़े मनुष्य रूपसे जन्म ले सकता हो तो वह ऋषि कपिलके रूपमें जन्म क्यों नहीं ले सकता! इसलिए जो इन्डोलॉजिस्ट् कहते हैं कि वेद और पुराणों में अलग-अलग सिद्धांत हैं, वह ऐसा है नहीं. सभी जगह एक ही बात कहनेमें आयी है. भागवत वेदोपनिषद्का ही सार हो तो उसमें सांख्यका वर्णन नहीं आना चाहिये और यदि वह सांख्य कह रही है तो ऐसा लगेगा कि उसकी श्रद्धा वेदके प्रति कम है. पर यह जो आपको विरोधाभास दिखलायी दे रहा है वह आपकी अधीरताके कारण है. धैर्य होगा तो यह समझ आयेगा कि वेद और सांख्य में इतना द्वंद्व नहीं है. दोनोंमें केवल दृष्टिकोणका ही भेद है. एकमें एकसे अनेकताकी ओर बढ़ा जा रहा है तो दूसरेमें अनेकतासे एकताकी ओर. यह हमारा पहला पॉइंट् था.

२. जीवनमें त्याग सत्य है कि राग, यह प्रश्न हमारा दूसरा

पाँइट् था रूपरेखाके रूपमें.

३. तीसरा पाँइट् यह है कि वेद उपनिषद् और सांख्य तीनोंका विचार करके भागवतमें कैसे एकवाक्यता आती है यह समझायी है. इसी कारण इसे वेद रूपी कल्पवृक्षका फल कहा है.

हॅगल् नामक एक दार्शनिक हुआ है जो मार्कसिज़म्का पिता कहलाता है. उसने कहा है कि किसी भी दर्शनमें द्वंद्वात्मक प्रक्रिया होती है. सबसे पहले थीसिस् आती है. उसके बाद उसकी एन्टी-थीसिस् आती है. इसके बाद तीसरा स्टेप् होता है सिन्थेसिस्का, जो कि दोनोंको जोड़ती है. इस तरह यह पूरी प्रक्रिया एक डाइलॅक्टिकल् डॅवेलपमॅन्ट् है. यह सभी जगह जैसेकि सोसाइटी हो या बुद्धिमत्ता हो या भावनात्मक कोई विषय हो या दर्शनशास्त्र हो, यह सिद्धांत काम करता है.

आपको एक उदाहरण देता हुं. जब खानोंमेंसे सोना निकालते हैं तो वह पत्थरकी तरह दिखता है. तब सोनेको पत्थर और मिट्टी से अलग करना पड़ता है. अलग करनेपर अब समझो कि एक थीसिस् हुआ पत्थर, उसकी एन्टी-थीसिस् हुआ सोना. दोनों विपरीत लगते हैं. पहले वह पत्थरका ही अंग था. अब वह पत्थरसे विपरीत हो गया. अब वह पत्थर जैसा कदापि नहीं लगता है. अब वह धातु हो गया जो कि पत्थर नहीं है. यदि उसे पिघलायें तो वह द्रवका रूप ले लेगा. यह उसका तीसरा पहलु है जो पहले दोनोंसे भिन्न है. इस तरहसे पहले दो रूपोंकी सिन्थेसिस् हो गयी तो जितनी भी प्रगति होती है वह इसी तरह होती है कि पहले एक थीसिस् आती है फिर उसकी एन्टी-थीसिस् आती है, फिर उन दोनोंकी सिन्थेसिस् आती है, जिसमें उन दोनों थीसिस् और एन्टी-थीसिस् के ॲलीमॅन्ट् होते हैं.

इसी प्रकार वेदमें एक थीसिस् थी कि विभिन्न विविधताओंको

जोड़ कर कैसे एकत्व देखना. उसकी एन्टी-थीसिस् आयी सांख्य कि एकत्वका विभाजन कर उसे विविध रूपोंमें किस प्रकार देखना. उसके बाद तीसरा स्टेप् आता है सिन्थेसिस्का, जो कि भागवतमें किया गया है. इस प्रक्रियाको 'डाइलॅक्टिकल् प्रक्रिया' कहा जाता है. हॅगल् यही बात कहता था कि दुनियामें जितना भी विकास है वह डाइलॅक्टिकल् है. इसलिए भागवतमें वेद भी है और सांख्य भी है. और जो भी विरोधाभास उनमें ऊपरी तौरपर दिखायी दे रहा है उसका समाधान करना चाह रही है. संगीतमें भी यही है 'सा' एक थीसिस् है और उसके बाद आनेवाले सुर 'रे ग' एन्टी-थीसिस् हैं पर जैसे ही 'म' लगाते हैं तो वह सिन्थेसाइज् हो जाता है. 'सा'के साथ 'रे' अथवा 'ग बजानेपर दो अलग-अलग स्वर सुनायी देते हैं पर 'म लगानेपर एक ही स्वर सुनायी देता है. इस अर्थमें हमारे वेदको 'सामवेद' कहा जाता है क्योंकि मूल स्वर 'सा' और 'म' ही हैं. मूल स्वर सात नहीं हैं, केवल चार ही हैं. 'प ध नि सा' तो 'सा रे ग म' का आवर्तन ही है. वैदिक ऋषियोंको इस साउन्ड् टॅक्नोलॉजीका ज्ञान था. हम लोग चाहे उन्हें जंगली मानते हों पर उस समयमें भी उन्हें यह ज्ञान था.

अब एक है अथवा अनेक है, जो बात हम थीसिस् लेवल्पर अथवा एन्टी-थीसिस् लेवल्पर समझते हैं इसका अर्थ यह हुआ कि यदि मैं आपको सीमित क्षेत्र ही दिखाऊ तो यह बात थीसिस् और एन्टी-थीसिस् लेवल् तककी ही आपको समझ आयेगी. सिन्थेसिस् उन दोनोंमें छुपे एकत्वको समझाती है. इनमें यदि कोई झगड़ा है तो वह अपनी दृष्टिकी सीमाका झगड़ा है. पर यदि आपमें बौद्धिक धैर्य है तो आपको यह समझ आ सकेगा कि दिखनेमें चाहे यह दो वस्तु हैं पर हैं यह एक ही.

*''देखा तो अपना साया भी मुझसे जुदा मिला, सोचा तो हर किसीसे मेरा सिलसिला मिला''* देखने गया तो मैं और मेरा

साया दो अलग चीज़ें मुझे दिखायी दीं. पर जब धैर्यसे सोचा तो दुनियाकी हर वस्तुसे मेरा संबंध है, यह समझ आया. वह संबंध ही अपना ढक जाता है दिखायी नहीं देता. पर वह है हर वस्तुके साथ. इसको और ठीकसे समझना हो तो समुद्रके टापुओंको देखें, हर टापू हमें अलग दिखायी देता है. पर पानीके अंदर सब आपसमें जुड़े हुए हैं. यह जब-तक हम स्वयं डुबकी ना लगायें तब-तक देख नहीं सकते.

इतना सब हमको इस विषयकी रूपरेखाके रूपमें समझना होगा. इससे पहले कि हम माँ-बेटेके संवादकी गहरायीमें उतरें.

**प्रश्न :** भागवत प्रकृति-पुरुषको कैसे समझा रही है?

**उत्तर : "प्रकृतिर्हि अस्य उपादानम् आधारः पुरुषः परः सतो अभिव्यंजकः कालो ब्रह्म तत् त्रितयन्तु अहम्"** (भाग.पुरा.११।२४।१९) एक 'तृतीय' होता है जिसका अर्थ है तीसरा और एक 'त्रितय' होता है जिसका अर्थ होता है तिगुना. **"प्रकृतिर्हि अस्य उपादानम् आधारः पुरुषः परः"** यह जो जगत् दिखलायी दे रहा है उसका उपादान मानें मटीरियल् कॉज़् प्रकृति है. वह प्रकृति पर-पुरुष रूपी आधारपर टिकी हुयी है. उदाहरणके लिए जैसे सुनारको कोई गहना बनाना है तो उसमें कुछ हीरे जड़े जायेंगे, कुछ मोती जड़े जायेंगे. वह जब सब वस्तुओंको अपने हाथमें लेगा तो वह हाथ आधार कहलायेगा और सोना हीरा मोती यह सब वस्तुएं उपादान कारण हुयी. **"सतो अभिव्यंजकः कालो ब्रह्म तत् त्रितयन्तु अहम्"** काल इस कारणमें रही हुयी सामर्थ्यको एक निकासका मार्ग प्रदान करता है. जो है वह प्रकट नहीं था पर कालके कारण वह प्रकट हो जाता है. प्रत्येक वस्तु कालके कारण ही प्रकट होती है. दूधमें जामन लगाओ तो वह तुरंत नहीं जमता. कुछ कालके बाद ही जमता है. बालक माँके पेटमें है पर बाहर नौ महीनेके कालके बाद ही आता है. पेटमें है पर कालमें वह प्रकट होता है. अब

क्या उसे माँ प्रकट करती है कि काल? माँ यदि प्रकट करती हो तो तुरंत ही बाहर आ जाना चाहिये. पर ऐसा होता नहीं है. हर वस्तुमें जो सामर्थ्य है वह कालमें अथवा कालके द्वारा ही प्रकट होती है. इस प्रकार तीन वस्तुएं हो गयी. किसी भी वस्तुके प्रकट होनेमें एक उसका मटीरियल् कॉज़् मानें उपादान होता है. दूसरा उसका सब्स्ट्रेटम् मानें आधार होता है और तीसरा काल मानें टाइम्-फॅक्टर् होता है. पर भगवान् यहां कह रहे हैं कि **''ब्रह्म तत् त्रितयन्तु अहम्''** यह तीनों मैं हूं. देखो, यहां जा कर एकत्वकी बात आयी. मैंने ही अपने आपको तीन स्वरूपोंमें विभाजित किया है. उस 'एक ब्रह्म'का तीनमें विभाजित होना वेद-उपनिषद्का संदेश है और तीनोंको पृथक गिनना सांख्य है. भागवत दोनों सिद्धांतोंको छोड़ नहीं रही है वह दोनोंको सिन्थेसाइज़् कर रही है. उपनिषद्में आपको यह मिलेगा कि कैसे इन विविधताओंमें उस एक ब्रह्मको जाना जाये. सांख्य तुम्हें यह बतायेगा कि वस्तुएं किस प्रकार अलग-अलग हैं. 'सांख्य' शब्द संख्यासे आया है. 'संख्या' अर्थात् गणना और गणना, भेद करे बिना हो नहीं सकती. इसलिए उसमें वस्तुओंका प्रभेद समझाया गया है. संस्कृतमें एक मजाककी कहावत आती है जिसको 'मण्डूक-तोलन' न्याय कहा गया है. जिन्दा मैंढकको यदि तोलने जायें तो जिससे उसे तोल रहे हैं वह उसी पलड़ेमें बैठ जाता है. अब उसे किस प्रकार तोलना! जितने भी राजनेता हैं वे सब इसी श्रेणीमें आते हैं. आज जो इस पार्टीमें कल वह उस पार्टीमें चला जाता है. पता ही नहीं चलता कि वह मूलमें किस पार्टीका है और कौनसी विचारधाराका है. इस कारण वहां संख्यान संभव नहीं है. संख्यान करनेके लिए आपको भेद तो दिखना ही चाहिये. सांख्य यह भेद करता है कि कुछ प्रकृति है, कुछ काल है, कुछ पुरुष है. अब आप अगर इस बातपर ही अपने आपको फिक्स् कर देंगे तो सांख्यप्रक्रिया तो आपने समझी परंतु उपनिषद्प्रक्रिया आप भूल गये. उपनिषद् विपरीत दिशामें जाता है

कि जो दिखायी दे रहा है उसे किसी प्रकार जोड़ कर उसमें 'एक' देखनेका प्रयास करो. ऐसा करनेमें यह होगा कि आपको एकत्व तो समझ आयेगा पर उसके विभागोंकी बारीकी आंखसे ओझल हो जायेगी. जबकि होना यह चाहिये कि हमारी दृष्टि किसी एक स्थानपर फिक्स् होनेके बजाय इन दोनोंके बीच पँडुलम्की तरह झूलनी चाहिये, एकसे अनेककी ओर और अनेकसे एककी ओर. तभी पूरा-पूरा दृश्य हमारे सामने सच्चे अर्थमें प्रकट होगा. भागवत यही दृष्टि हमें देती है. यह भली प्रकार सोची-विचारी सिन्थेसिस् है. **''प्रकृतिर्हि अस्य उपादानम् आधारः पुरुषः परः, सतो अभिव्यंजकः कालो ब्रह्म तत् त्रितयन्तु अहम्''** (भाग.पुरा.११।२४।१९) जो तीन हैं प्रकृति पुरुष और काल, वे एक ब्रह्मके ही लिए हुए तीन रूप हैं. ये तीनों आपसमें एक-दूसरेका स्थान नहीं ले सकते. ये तीनों एक-दूसरेसे सर्वथा भिन्न हैं पर एक ऐसा बिन्दु तो होना चाहिये जहां यह तीनों एक हो जा रहे हों. वह बिन्दु ब्रह्म है. पुरुष प्रकृति और काल में ब्रह्मके कुछ विशेष गुण हैं. मेरे कहनेका अर्थ आपको इस उदाहरणसे समझ आ सकेगा. सोना और हीरा यह दो वस्तुएं हैं. एक पत्थर है और दूसरी धातु, पर हैं तो दोनों पृथ्वीके ही हिस्से. पृथ्वीमें इन दोनोंके गुण हैं पर बाहर आनेके बाद सोना सोना है और हीरा हीरा. पर तुम्हारी दृष्टि यदि केवल सोने अथवा हीरे पर अटक गयी तो पृथ्वीका अथवा तत्त्वका ज्ञान तुम्हें हो नहीं सकेगा. पृथ्वी इन दोनोंकी उत्पत्तिका कारण है. पृथ्वीके लिए धातु और पत्थर का कोई भेद नहीं है. इस भेदाभेद दृष्टिको देनेवाला शास्त्र भागवत है.

वेदमें परम-तत्त्वको सुर भी कहा है और असुर भी कहा है. आपको शायद पता ही होगा कि पारसीयोंकी दुकानमें 'अहुरमज़्दा' लिखा होता है. 'अहुर' मानें असुर ही है. मूल तत्त्व सुर भी है और असुर भी है. पुराण किस प्रकार इसका वर्णन करता है — कश्यप

ऋषिकी दो पत्नी थीं, दिति और अदिति. अदितिको आदित्य पुत्र हुआ जो सुर था और दितिको दैत्य पैदा हुआ. दोनों देव और दानव आपसमें झगड़ रहे हैं. हैं वह किसके पुत्र? कश्यप ऋषिके. इस प्रकार वह एकमेंसे ही उत्पन्न हुए हैं. ऋग्वेदमें इसी कारण भगवान्का नाम सुर भी है और असुर भी. भागवत पुराण इसको इस प्रकार समझाती है कि जितने भी दैत्य हैं वे भगवान्के वैकुंठके द्वारपाल हैं. ऋषिके शापके कारण वे दैत्य बन गये. भगवान्ने कहा "तुम पृथ्वीपर जा रहे हो तो मैं भी वहां प्रकट होता हूं" वह भी अवतार ले कर यहां आ गये. **"अजायमानो बहुधा विजायते तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्"** यह अपने यहांका सिद्धांत है. जो इन्डोलॉजिस्ट्को कभी समझमें आ नहीं सकता. इनको केवल झगड़ा ही दिखायी देता है. जो उन्हें नहीं दिखायी देता वह यह कि वह सुर भी है और असुर भी. पुराण आपको इसका उदाहरण दे कर समझा रहा है. ऋषि कश्यपकी कथासे वे लड़ रहे हैं इस कारण ही एक हैं. एक बात समझो कि जब-तक पति-पत्नी लड़ते थे, तब-तक तलाक नहीं होते थे. आज वह लड़ना नहीं चाह रहे हैं. इस कारण तलाक हो रहे हैं. तलाक चाहिये शान्तिके लिए. अरे, साथ रहना मिले तो छोटी-मोटी लड़ाईमें क्या बुरा है? *"वाइस्ता ऐसे कि मुहब्बत ही क्यों ना हो कीजे हमारे साथ अदावत ही क्यों ना हो."* अदावत भी एक तरहका संबंध है. कैसा संबंध, झगड़नेका और फिर हर साल एक बच्चा भी पैदा करना. समझ ही नहीं आता कि झगड़ा है कि मुहब्बत है! तो झगड़ेसे डरना नहीं चाहिये पर साथ रहनेका अपना अभिगम हो तो तलाक नहीं होगा. इसी प्रकार देवताओंका दानवके साथ रहनेका कुछ अभिगम है क्योंकि अंततः तो एक ही बापके बेटे हैं. इसलिए झगड़ते हैं. समझ नहीं आता कि इससे लोग क्यों नाराज हो जाते हैं. नाराज होनेकी आवश्यकता नहीं है, समझनेकी आवश्यकता है. इससे निराश होनेकी आवश्कता नहीं है. इसमें लीला देखनेकी आवश्यकता है.

यह भागवतका दृष्टिकोण है. भागवत कहती है कि स्वर्ग-नर्क-अपवर्ग सभीमें ब्रह्म ही दीखना चाहिये.

बहुत समय पहले सरितामें एक आर्टिकल् आया था. उसने गीताके विभूतियोगके इस वाक्यकी बहुत आलोचना की. "**द्यूतं छलयताम् अस्मि**" (भग.गीता १०।३६) और "**नीतिः अस्मि जिगीषताम्**" (भग.गीता १०।३८) गीताके बहुत ही सुंदर वाक्य हैं. वह लिखते थे कि यह फ्रॉड् वाक्य है. जो व्यक्ति छल कर रहा है वह नीतिज्ञ कैसे हो सकता है! इसपर मैंने उन्हें एक पत्र लिखा. उसमें मैंने लिखा कि "आप इतने चिंतित क्यों हैं? आप उस समय नहीं थे, नहीं तो भगवान् यह भी कहते कि 'मूर्खोंमें सरिताका एडिटर् भी मैं ही हूं." भगवान्को सरिताका एडिटर् होनेमें कोई समस्या नहीं है. जहां भी कोई उत्कृष्टता दिखती हो, भगवान् कह रहे हैं कि वहां मैं हूं. जैसे छलियोंमें जुआरी हूं, नीतिज्ञोंमें मैं नीति हूं. तो मूर्खोंमें वह सरिताका एडिटर् क्यों नहीं हो सकता! लीलाभाव होगा तो ऐसे प्रश्न उठेंगे ही नहीं.

## ( भागवतशास्त्रार्थकी एकवाक्यता )

कपिल-गीताके चौबीस पच्चीस और छब्बीस तीन अध्याय लिये हैं. इसमें चौबीसवां अध्याय मूलमें केवल विषयका परिचय है और पच्चीस और छब्बीसवें अध्यायमें सिद्धान्त वर्णन किया गया है. उसका कथात्मक परिचय यहां दिया गया है. पर महाप्रभुजीकी एक प्रणाली है कि **''शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणे अध्याये वाक्ये पदे अक्षरे एकार्थं सप्तधा जानन् अविरोधेन मुच्यते''** ( त.दी.नि.३।१।२ ) महाप्रभुजी कहते हैं कि समग्र भागवत-शास्त्र उसके बारह स्कन्ध, उन स्कन्धोंमें आनेवाले प्रकरण, उन प्रकरणोंमें आनेवाले अध्याय, उन अध्यायोंमें आनेवाले वाक्य पद और अक्षर इन सातोंमें आपसमें कोई विरोध पैदा न करता हो ऐसा अर्थ हमें समझना चाहिये. तभी आपने भागवतका सच्चा अर्थ समझा, अन्यथा नहीं. वे यह किस कारण कहते हैं यह समझना आवश्यक है.

कोई भी कथा होती है तो उसका कोई थीम् होता है, जिसके आधारपर वह कथा कही गयी है. उस कथाका कोई प्लॉट् होता है. उस प्लॉट्में आते कुछ चरित्र होते हैं. उन चरित्रोंके कुछ डायलॉग् भी होते हैं. उनका आना-जाना भी होता है. कोई भी कहानी हम पढ़ें तो इतनी बात तो हमें समझ आनी चाहिये. कई लोग जब फिल्म् देख कर आते हैं और आप उनसे पूछें कि फिल्म्का थीम् क्या था? तो वे उसकी कहानी बताने लगते हैं. अरे भाई! कहानी नहीं पूछ रहे, थीम् पूछ रहे हैं. थीम् और कहानी में अंतर होता है. जैसे क्राइम् लव् इतिहास सस्पेंस् साइंस्-फिक्शन् सोशियल् इत्यादि कई प्रकारके थीम् हो सकते हैं. एक-एक थीम्पर कितनी सारी कहानियां लिखी जा सकती हैं. उन अनेक कहानियोंमें प्लॉट् भी कई सारे हो सकते हैं. कभी-कभी एक ही कहानीपर कई सारी फिल्में आ जाती हैं, पर प्लॉट् बदलनेके कारण हमको उनमें कुछ अलग दिखायी देता है. डायलॉग् ॲक्टर् गीत बदल देते है, इस

तरह हमें हर बातको समझना चाहिये कि उस कहानीका प्लॉट्-थीम् क्या है. उसके बाद फिल्ममें एक स्क्रीन्-प्ले भी होता है. स्क्रीन्-प्लेमें यह निर्देश होते हैं कि कहानीको किस प्रकार आगे बढ़ाना है. वे भी कई प्रकारके हो सकते हैं.

इसी प्रकार समग्र भागवतका अर्थ क्या है, इस बारेमें लोगोंमें बहुत मतभेद है. एक उदाहरण देता हूं कि कुछ लोग यह समझते हैं कि यह इतिहास है. कोई ऐसा कहता है कि यह इतिहास नहीं माइथोलॉजी है. कुछ लोग कहते हैं कि यह केवल पंचतत्रकी तरह कल्पित कथाएं हैं. कथाके आधारपर कोई संदेश दिया गया है. उनमें चरित्र सारे कल्पित हैं पर संदेश सही दिया गया है. यह कोई बाहरके व्यक्तियोंकी बात नहीं है. अपने महात्मा गांधी भी यही मानते थे कि कृष्ण कोई ऐतिहासिक चरित्र नहीं थे पर उनके माध्यमसे जो बात कही गयी है, वह समझने लायक है. भगवान् रजनीश भी यही कहते थे कि दुनियामें जितने भी महापुरुष हुए हैं वे सब मोनो-डाइमॅन्शनल् हैं. केवल कृष्ण ही ऐसा चरित्र है जो कि मल्टी-डाइमॅन्शनल् है. हमें लगेगा कि यह तो हमारी ही बात कर रहा है पर जब किसीने उनसे पूछा कि कृष्ण किस कालमें हुए थे? तो उनका उत्तर था "वह तो हुए ही नहीं हैं क्योंकि जो भी मानव होगा वह मोनो-डाइमॅन्शनल् ही होगा. मल्टी-डाइमॅन्शनल् होना किसीके लिए संभव ही नहीं है. जो नहीं हुआ उसकी हम एक आइडियोलॉजी गढ़ सकते हैं कि व्यक्तिको इस प्रकारका होना चाहिये." कर दिया ना पूरी बातपर पोतना! कृष्णका इतना बखान किया और *"साहिलपे लाई और सफीने डुबो दिये, यूं ज़िदगीने हमको हसाया कि रो दिये"* नावको किनारे तक तो पहुंचाया और फिर डुबो दिया. कृष्णका ऐसा बखान किया और फिर कहा कि वह तो था ही नहीं. वह तो एक कल्पना है आइडियल् है कि मनुष्य ऐसा होना चाहिये. अब वह रामायण हो अथवा महाभारत

हो अथवा भागवत हो, इनमें पहले थीम् तो प्रकट होना चाहिये कि यह इतिहास है, मिथ् है अथवा ज्ञान देनेके लिए कोई गढ़ी हुयी कहानी है. इसको महाप्रभुजी शास्त्रार्थ कहते हैं. समग्र भागवत-शास्त्रका अर्थ क्या है यह पहले हमें निश्चित करना चाहिये. यह निश्चित करनेके पश्चात् यह निश्चित करना चाहिये कि उसमें आनेवाले स्कन्धोंका अर्थ क्या है और वह अर्थ थीम्के विरुद्ध तो नहीं जा रहा है! थीम् कुछ और कह रहा है और कहानी कुछ और, यह तो नहीं हो सकता. मैंने देखी तो नहीं है पर लोग ऐसा कहते हैं कि दारासिंहकी एक भीमकी पिक्चर् आयी थी. जिसमें उसने गदा धारण कर रखी थी और साथमें हाथकी घड़ी भी पहन रखी थी. भीमके समयमें हाथकी घड़ी कहां थी! ऐसी ही एक अमेरिकन् फिल्म् भी आयी थी. उसमें एक भारतीय चरित्र था, जिसका बिगुल् बजानेका रोल था. जैसे ही वह बिगुल् बजाता, सेनाको गोली चलानी होती थी. अब सच्ची गोलियां तो चला नहीं सकते थे पर उसको एक्टिंग् तो ऐसी करनी चाहिये थी कि गोली चली और वह मर गया पर वह मरता ही नहीं है, बिगुल् बजाता ही रहता है. डाइरॅक्टर् बेचारा परेशान हो गया. पर वह मरता ही नहीं था. डाइरॅक्टर् उसे फटकार लगाता है तो वह कहता है "अब ध्यान रखूंगा" उसके बाद एक सीन् आता है जिसमें तोप छूटती है और वहांका किला टूट जाता है. यह सब एक बटन्से संचालित था. पर उस लड़केका पैर उस बटनपर पहले ही पड़ जाता है तो तोप छूटनेसे पहले ही वह किला ढह जाता है. वह लड़केका नाम था हुंसडी बख्शी. अद्भुत चरित्र था उसका. हर समय कहानी थीम्के साथ ही तो चलनी चाहिये और थीम् भी कहानीके साथ सिंक्रोनाइज़् होना चाहिये. मैंने अखबारमें पढ़ा था. एक फिल्म्में मीनाकुमारीको समुद्रमें गिरना होता है. जिस समय वह गिरी थी तो कोई और कपड़े थे. पर जब उसे निकाला तो उसके कोई और ही कपड़े थे. कहानीमें एकवाक्यता तो होनी चाहिये कि जो कपड़े पहन कर वह डूबी,

उसी कपड़ेमें उसे बाहर आना चाहिये. पर लोग भूल जाते हैं. इसी कारण महाप्रभुजी कहते हैं कि जब भी आप किसी शास्त्रका अर्थ कर रहे हैं तो शास्त्र स्कंध प्रकरण अध्याय वाक्य पद और अक्षर में एकवाक्यता तो होनी ही चाहिये. यदि एकवाक्यता खंडित हो रही है तो वह उस शास्त्रका सच्चा अर्थ नहीं है.

एक बार मैं यू.पी.की किसी स्कूलमें व्याख्यानके लिए गया था. व्याख्यान मेरा और वहांके एक पंडितजीका भी था. मैंने आयोजकोंसे कहा कि ''मुझे तो केवल कृष्ण-भक्तिके शास्त्रका ही ज्ञान है. आपको यदि कुछ इस बारेमें सुनना हो तो ही मैं कुछ बोलूं. और किसी विषयपर तो मेरे लिए बोलना कठिन होगा.'' मैंने कृष्णपर जैसे ही बोलना प्रारंभ किया, वहां बैठे शास्त्रीजीका माथा ठनक गया. क्योंकि वह ध्यान-साधनामें अधिक विश्वास रखते थे. उन्होंने अपना व्याख्यान प्रारंभ किया ''यह कृष्णलीला किस लिए है? इसलिए कि ब्रह्मका ध्यान कैसे किया जाये. ध्यानका तीर भगवान्के चरणोंमें ऐसा मारो कि भगवान् लहु-लुहान हो जायें, खड़े न रह पायें, तुम्हारे बसमें हो जायें.'' मैंने सोचा कि यह ध्यानका वर्णन हो रहा है कि शिकारका? कह तो वह भी कृष्णलीलाके बारेमें ही रहे थे पर थीम् कुछ अगल और कहानी कुछ अलग थी. कहानी कृष्णलीलाकी थी और थीम् थी ब्रह्मध्यानकी. उपनिषद्में इस बारेमें एक वचन है **''प्रणवो धनुः शरो हि आत्मा ब्रह्म तद् लक्ष्यम् उच्यते, अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत्''** (मुण्ड.उप.२।२।४) यह प्रणव जो ॐकार है वह धनुष है और आपकी आत्मा 'शर' मानें तीर है. यह बात ब्रह्मके ध्यानके लिए तो ठीक है पर कृष्णलीलाके लिए ऐसा खूंखार ध्यान धरो तो ये भक्त्यात्मक ध्यान ना हो कर शिकारात्मक ध्यान हो गया. एकवाक्यता नहीं आती है. हमें असमंजस लगता है कि क्या कहना चाह रहा है! अब शास्त्रीजीसे कोई पूछे कि कोई उनका ध्यान करते समय यदि उन्हें ऐसा तीर मार

दे, तो क्या आप उसके बसमें आ जायेंगे? फिर क्या आप उसे पढ़ा पायेंगे? कहनेका अर्थ यह है कि बहुतसे लोग कहानीके मूडमें अथवा थीमके मूडमें बह जाते हैं और एकवाक्यता रख नहीं पाते. महाप्रभुजी कहते हैं कि यह अर्थ करनेकी प्रक्रिया ठीक नहीं है. ठीक प्रक्रिया है **''शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणे अध्याये वाक्ये पदे अक्षरे एकार्थं सप्तधा जानन् अविरोधेन मुच्यते''** एक अर्थ ऐसा होना चाहिये कि जिसमें इन सभीमें विरोधाभास प्रकट ना होता हो. तभी तुम्हें सच्चा अर्थ समझ आयेगा, नहीं तो नहीं आयेगा. इसलिए महाप्रभुजी हमेशा शास्त्रार्थ स्कंधार्थ प्रकरणार्थ अध्यायार्थ भी समझाते हैं, वाक्यार्थ पदार्थ और अक्षरार्थ भी समझाते हैं. और वह भी इस प्रकार कि उसमें विरोधाभास न हो. यह महाप्रभुजी घोषणा करके कह रहे हैं कि ''मैं अर्थ तो करुंगा भागवतका पर वह इस विचारपर आधारित होगा.''

### (भागवतकी रूपरेखा और कपिलगीताका स्थान)

अब वे इन अध्यायोंके बारेमें अपने क्या विचार रख रहे हैं वह मैं आपको बताना चाहता हूं. इतने कम समयमें स्कंधार्थ प्रकरणार्थ आदि लेना कठिन है क्योंकि समयकी सीमा भी है और इस समय उसकी आवश्यकता भी नहीं है. कभी फुरसतसे उस विषयको भी लेंगे. अभी जो समझनेवाली बात है वह यह है कि तृतीय स्कंधमें सर्ग-लीलाका वर्णन है. जो तैत्तिरीय उपनिषद्में ब्रह्मका वर्णन किया गया है **''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म''** (तैत्ति.उप.३।१) जिससे यह जगत् उत्पन्न हो रहा है, जिसमें स्थित है और जिसमें लीन होनेवाला है वह 'ब्रह्म' है. उस ब्रह्मका भागवतमें भगवान्के रूपमें वर्णन है. जब उस ब्रह्मका भगवान्की लीलाके रूपमें वर्णन हो रहा है तो वह ब्रह्मके ब्राह्मिक आयामको छोड़ कर नहीं किया जा रहा है. उस ब्राह्मिक थीमको पकड़ कर, उस भगवल्लीलाका

वर्णन करनेमें आया है. 'लीला' मतलब कथा. उसमें थीम् ब्राह्मिक है पर कथा लीलाकी है. जो उपनिषद्में कहा गया है कि ब्रह्ममेंसे इस जगत्की उत्पत्ति है तो भागवत उसे दो भागोंमें विभाजित करती है और वह हैं सर्ग और विसर्ग. 'सर्ग' मानें creation of raw material मानें अनगढ़ सृष्टिकी उत्पत्ति और 'विसर्ग' मानें refinement to unfinished product मानें उस अनगढ़ सृष्टिका संस्कार और वर्गीकरण. उपनिषद्में जो ब्रह्मसे उत्पत्तिका वर्णन है वह कथामें दो तरहसे सर्ग और विसर्ग (तीसरे और चौथे स्कंधमें) वर्णित हुआ. वहां जो स्थितिका वर्णन है कि जगत् उसी ब्रह्ममें स्थित है वह यहां भगवान्के छह गुणों ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य की लीलाके रूपमें वर्णन हुआ है. क्योंकि भगवान् ही कारण है स्थितिका. इसलिए वह किस प्रकारसे अपने छह गुणोंसे उस सृष्टिको स्थित रखता है, इसका छह प्रकारसे छह स्कंधोंके द्वारा स्थान पोषण ऊति मनवन्तर ईशानुकथा और निरोध (स्कंध पांचसे दशम तक) वर्णन किया गया है. स्थितिको छह तरहसे बतलाया गया है. पहला 'स्थान' मानें placement. अब जिसको स्थान दिया है उसका वहां 'पोषण' मानें maintenance भी होना चाहिये. इसलिए पोषणका लीलारूपमें वर्णन हुआ. जैसे नौकरीपर भी यदि किसीको रखते हैं तो उसको वहां उचित सुविधा मिल रही है कि नहीं, हम देखते ही हैं. उसके बाद 'ऊति' मानें जिसका जहां placement अथवा स्थान दिया जा रहा है. उसमें उस स्थानके अधिकार आनेसे अच्छे बुरे या तटस्थ संस्कार उपजेंगे. जैसे किसीको पुलिसके जॉबपर रखा तो उसमें उस तरहके संस्कार आयेंगे. किसीको जज्के स्थानपर रखा तो उसमें जज्के संस्कार आयेंगे. इसको संस्कृतमें 'वासना' कहते है. जैसे संस्कार वैसी वासना.

मैंने एक पत्रिकामें पढ़ा था कि लंडन्में एक दंपतिने एक कुत्ता पाला था. किसी दिन उनमें आपसमें बहुत झगड़ा हो रहा था. कुत्ता यह देख कर उनपर भूँकने लगा. थोड़ी देर बाद उस

दंपतिमें मारा-मारीकी नौबत आ गयी, तो कुत्तेसे रहा नहीं गया और उसने दोनोंको काट लिया. अब कुत्तेको उन्होंने घरके सदस्यकी तरह पाला था. तो उसे उन दोनोंका लड़ना भा नहीं रहा था. जब वे नहीं माने तो उसने उनको काट लिया. शायद यह उसका उनकी लड़ायी रोकनेके लिए पिटायी करनेका तरीका था. तुमने उस कुत्तेको अपने घरके सदस्यके रूपमें पाला है. जैसे बच्चा अपने माँ-बापके लड़नेसे गुस्सा आनेके कारण रोता है वैसा ही गुस्सा उस कुत्तेको भी आया. इस प्रकार हम जिस स्थानपर रह रहे हैं वहांके संस्कार हममें पड़ते हैं और उसी प्रकारकी वासनाएं हममें जाग्रत होती हैं. वह अच्छी बुरी अथवा तटस्थ तीनों प्रकारकी हो सकती हैं. यह इस 'ऊति' स्कंधमें बताया गया है. अब अच्छी वासनाओंके कारण धर्म आता है जो कि स्थितिका ही एक हिस्सा है. और अष्टम अध्याय मन्वन्तर लीलाका विषय है. अब धर्मका अगला विषय है भक्ति. धर्म होगा तो ही तो भक्ति जाग्रत होगी. वह अधर्मसे तो जाग्रत नहीं होगी. नवम स्कंध 'ईशानुकथा' भक्तिविषयक है. भगवान् जिसको भक्ति देना चाह रहे हैं उनको भक्तिके अनुसार वे स्वयं मिलते हैं और जिसको कुछ और तरहसे मिलना चाहते हैं उसे उस प्रकारसे मिलते हैं. जैसे रावण-कुंभकर्णको मारा और विभीषणको तारा, यह भक्तिकी कथा ही तो हुयी. वे तीनों भक्तिकी कथाके हिस्से हैं. बालीको मारा पर सुग्रीवको तारा, यह भी भक्तिकी कथा है. इन कथाओंमें विरोधाभास तो नहीं होना चाहिये. यह जगत् किस प्रकार स्थित है, उसको समझानेके लिए भागवत कहती है कि किसीको भक्ति करनेपर भगवान् स्थित रखता है और किसीको भक्ति करे बिना भी स्थित रखता है क्योंकि वे भगवान् हैं. अब जब भक्ति हो गयी तो उसका चरमोत्कर्ष यह है कि जगत्में रहनेपर भी भक्त भगवान्को कभी भूलता नहीं है. इसी बातको 'निरोध' कहा गया है. 'निरोध' मानें किसी सीमामें बंधना.

महाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि **''हरिणा ये विनिर्मुक्ताः ते मग्ना भवसागरे''** (नि.ल.११) भगवान् जिसको छोड़ देते हैं वह तो भवसागरमें डूब जाता है और जिसे पकड़ लेते हैं वह तैर जाता है. सामान्यज्ञान तो ऐसा है कि जो संसारमें है वह बंधनमें है और जो संसारमें नहीं है वह मुक्त है. पर महाप्रभुजी प्रश्न उठा रहे हैं कि किसके बंधनमें और किससे मुक्ति.

रविन्द्रबाबूने एक बहुत सुंदर बात कही है *''तोमार आमार प्रभु करे राखी, आमार आमार आमि सेइ टुकु थाकवोकि, तोमाय आमि कोथाओ नाहि ढाकि, आमार आमार आमि सेइ टुकु थाकवोकि, तोमार लीला होबे ए प्राण भरे, ए संसारे रेखे छे ताइ धरे, रहिबो बांधा तोमार बाहु डोरे बंधन आमार सेइ टुकु थाकवोकि''* ''प्रभु! मैं तुझे अपना बना कर रखूंगा, इतनी मेरी अहंता-ममता कायम रहनी चाहिये. मेरी अहंता-ममता इतनी मत समाप्त कर देना कि मैं तुझे अपना प्रभु ही न स्वीकार पाऊं और तू मुझे अपना ही न माने. तू कभी मेरी आंखसे ओझल न होना, सामने रहना. तेरी लीलाका मुझे अनुभव होता रहे. इसलिए मेरे प्राण टिके रहने चाहिये. मैं इसलिए इस संसारमें जीना चाहता हूं, मरना नहीं चाहता. तेरे बाहु-बंधनमें बंधा हुआ रहूं. मुझे इस बंधनसे मुक्त तू मत करना. इतनी ममता मेरी बाकी रहनी चाहिये.'' इसका नाम है 'निरोध'. उपनिषद्में कहा गया है कि जगत्की उत्पत्ति और स्थिति का कारण ब्रह्म है पर उस ब्रह्मको भगवान्के रूपमें देखना हो तो उसे छह गुणोंसे देखना पड़ेगा. ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य ये गुण हैं तो वे भगवान् हैं. नहीं हैं तो ब्रह्म क्या कम था! तू ब्रह्मसे भगवान्में परिणत हुआ तो तेरे गुण भी तो परिणत होने चाहिये. वहां केवल एक स्थितिका वर्णन है जो यहां छह प्रकारसे स्थान पोषण ऊति मन्वन्तर ईशानुकथा निरोध के रूपमें वर्णन करनेमें आया है.

इसके बाद आती है मुक्ति, मानें हम जगत्में स्थित हैं और यहांसे ब्रह्मकी ओर बढ़ें उसका नाम 'मुक्ति'. वहां केवल ब्रह्मकी तरफ बढ़ना इतना ही कहा है पर भागवतमें इसके छह प्रकार हैं — सालोक्य सामीप्य सारूप्य सार्ष्टि एकत्व सायुज्य. क्योंकि यहां भगवल्लीलाके रूपमें उसका वर्णन करना है. ब्रह्ममें मुक्ति किस प्रकार होगी और भगवान्में मुक्ति किस प्रकार होगी! भगवान् तो छह गुणोंवाले हैं, इसलिए छह प्रकारसे मुक्ति हो सकती है. 'सालोक्य' अर्थात् उन्हींके लोकमें, 'सामीप्य' अर्थात् उनके समीप, 'सारूप्य' मानें उनकासा रूप, 'सार्ष्टि' मानें उनका और अपना ऐश्वर्य एक समान हो जाये, 'एकत्व' मानें वह और हम एक हो जायें, 'सायुज्य' मानें उनमें मिल जायें. देखो, सायुज्य और एकत्व में थोड़ा भेद है. जैसे पनडुब्बी सागरमें डूब कर भी अपना एक अलग अस्तित्व रखती है, यह सायुज्य है. पर नदी सागरमें मिल कर सागरका ही रूप ले लेती है यह एकत्व है. ऐसे विभिन्न प्रकार मुक्तिके भागवतमें वर्णित हैं.

इसके बाद आती है आश्रयभावापत्ति. सभीका उसमें लीन होना. जिसको प्रलय भी कहा गया है. जो कुछ उसमेंसे उत्पन्न हुआ है वह वापस उसमें लीन हो जाता है. उपनिषद्में इसका केवल आश्रयभावापत्तिके रूपमें वर्णन हुआ है पर भागवतमें इसका पांच प्रकारसे वर्णन है. इस प्रकार भागवत प्रत्येक वस्तुको भगवान्के ॲन्गल्से देखती है. उसी बातको उपनिषद् ब्रह्मके ॲन्गल्से देखता है. वस्तु वहकी-वह है पर आप किस ॲन्गल्से उसे देख रहे हैं इसपर निर्भर करता है. जैसे यदि आप जमीनपर हैं तो आपको पहाड़की ऊंचाई, गढ्ढोंकी गहराई सब दिखाई देंगे. पर जैसे ही आप हवाई यात्रा करते हैं तो सब सपाट दिखता है. यह ऊंच-नीचका प्रभेद प्लेन्से नहीं दिखाई देता है. और ऊपर जायें तो कुछ भी दिखाई नहीं देगा, केवल नीली पृथ्वी ही दिखेगी. पृथ्वीपरकी वस्तुएं नहीं बदलती पर अपने देखनेका दृष्टिकोण बदल जाता है. उसी प्रकार उपनिषद्के

ॲन्गल्से ब्राह्मिक दृष्टि मिलती है और भागवतके ॲन्गल्से देखनेपर भगवद्-दृष्टि मिलती है. इस प्रकार उपनिषद्में वर्णित उत्पत्ति स्थिति और लय भागवतमें दस प्रकारसे वर्णित किये गये है. तीसरे स्कंधसे ले कर बारहवें स्कंध तक, पहला और दूसरा स्कंध अधिकार और साधन का है. ऐसे बारह स्कंध हैं. उसमेंसे तृतीय-स्कंध सर्गलीला है. उसके एक विषयका चिंतन हम यहां करेंगे

पूरी भागवतका अर्थ **''श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा, सर्वभक्तसमुद्धारे विस्फुरन्तं परं नुमः''** (त.दी.नि.३।१।१) यह भागवत शास्त्रका पूरा विषय है. इस प्रकार भागवतकी थीम् हुआ 'श्रीकृष्ण' और वह कृष्ण कैसा जो दश-लीलायुत है. वह दशलीला सुख-दुःखरूप न हो कर परमानंदरूप हैं. अब एक बात समझो कि कोई भी लीला अथवा कहानी सुख-दुःखके बिना तो गढ़ी नहीं जा सकती. हर कहानीमें हीरो-हिरोइन्-विलन् तो होंगे ही और इनमें सुख-दुःख तो होंगे ही. यहां मुख्यता थीम्की है. अब चाहे वह प्रेमकी कथा हो, युद्धकी कथा हो, द्वेषकी कथा हो पर मुख्यता यहां थीम्की है, जो कि यहां कृष्ण है. उसके अंदर आनेवाली कथाओंमें सुख-दुःखका वर्णन है. एक बात समझो कि जहां सुख होता है वहां दुःख नहीं होता और जहां दुःख होता है वहां सुख नहीं होता. दोनों एक-दूसरेके विरोधी हैं पर परमानंदमें दोनों खप सकते हैं. वह किस प्रकार जैसे कि कोई बहुत डरावनी फिल्म् हो तो डर तो लगता है पर आनंद तो आता ही है. कोई ट्रेजेडीकी फिल्म् हो तो रोना आता भी हो तो भी हम उसे छोड़ कर तो नहीं चले जाते क्योंकि उसमें आनंद आता है. परमानंद इसीको कहते हैं कि जिसमें रोनेमें झगड़नेमें हँसनेमें जीनेमें मरनेमें सभीमें एक आनंदकी अनुभूति हो. परमानंद सुख-दुःखको छोड़ कर नहीं चलता. उन्हें साथ ले कर चलता है. 'ख'का अर्थ होता है इन्द्रिय. जिस कार्यसे इन्द्रिय प्रसन्न होती हो वह हमें सुख लगता है और जिससे वह अप्रसन्न

होती हो वह हमें दुःख लगता है, पर आनंद उससे ऊपरकी वस्तु है.

उदाहरणके लिए, अपनी आंखमें कोई कॅमेरेकी लाइट् डाले तो हमें दुःख होता है पर हीरो-हिरोइन्के आंखपर तो सारा-सारा दिन यह रोशनी रहती है. पर आदत हो जानेके कारण उन्हें उसका दुःख नहीं लगता अपितु पैसा मिलनेकी लालचके कारण उन्हें उसमें आनंद मिलता है. इसी प्रकार जिसे मिर्ची खानेकी आदत हो उसे आंखमें आंसू आनेपर भी उसमें आनंद आता है. बिना मिर्चीके उसे खानेका स्वाद ही नहीं आता. **''श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं सदा, सर्वभक्तसमुद्धारे विस्फुरन्तं परं नुमः''** कोई एक प्रकारका भक्त ही नहीं, सभी प्रकारके भक्तोंके उद्धार करनेमें जो समर्थ हो वैसा कृष्ण भागवतकी थीम् है. इस थीम्को बतानेके लिए भागवतमें बारह प्रकारसे कहानियां वर्णित हुई हैं. जो कि भागवतके बारह स्कंध हैं. इन कहानियोंकी इसके आगे उपकथाएं या प्रकरण हैं. उन प्रकरणोंके अध्याय डायलॉग जैसे वाक्य अक्षर हैं. इन सभीमें किसी भी लेवल्पर विरोधाभास नहीं आना चाहिये, एकवाक्यता होनी चाहिये.

एक साधारण समझ ऐसी है कि सृष्टिकी रचना मुक्तिकी विलोम है और मुक्ति सृष्टि-रचनाकी विलोम है. गालिबका एक बहुत प्रसिद्ध शेर है— *''न था कुछ तो खुदा था, कुछ न होता तो खुदा होता, डुबोया मुझको होनेने, न होता मैं तो क्या होता!''* जब मैं पैदा नहीं हुआ था तो भगवान् था और पैदा नहीं हुआ होता तो भगवान् ही होता. मेरा दुःख प्रारंभ हुआ जब भगवान्मेंसे 'मैं' बना. अगर मैं नहीं भी होता तो क्या हो जाता. बहुतसे लोग इसी प्रकार समझते हैं कि 'होना' मुक्तिका विपरीत शब्द है. महाप्रभुजी और भागवत ऐसा नहीं मानते हैं क्योंकि आपका होना आपके बसमें नहीं है. यह तो भगवान्की लीला है. जिन लोगोंको अपने होनेमें भगवान्की लीला दिखाई नहीं देती, वे समझते हैं कि मेरे 'होने'के

कारण मैं डूब गया. हमको ऐसा लगता है कि अपने 'होने'से हम तैर गये. जैसे दयारामभाई कहते हैं कि *''व्रज वालु रे वैकुंठ नहीं जाऊं त्यां नंदनो कुंवर क्यांथी लाऊं, मने गमे ना चतुर्भुज थाउ रे''* हमको वैकुंठ अच्छा नहीं लगता है. हमें यहां होना अच्छा लगता है, वह इसलिए क्योंकि यह परमानंदकी लीला है. लीला है तो दुःख-सुख तो आयेंगे ही पर यदि लीलाका अनुभव है तो परमानंदका अनुभव होगा. यदि लीलाका अनुभव नहीं होगा तो सुख-दुःखका अनुभव होगा क्योंकि फिर आपको अपने होनेका अनुभव होगा और आपके होनेमें तो सुख-दुःख साथ लगे ही हुए हैं. इससे यह समझ लेना चाहिये कि केवल दृष्टिकोण अलग-अलग है. बात वहींकी-वहीं है. इसी कारण महाप्रभुजी कहते हैं कि सर्गलीला मुक्तिलीलाके विपरीत नहीं है. सर्गलीलामें कितने ही मुक्तिके प्रकार हैं और मुक्तिमें कितने ही सर्गलीलाके प्रकार हैं. जैसे मैंने आपको बताया कि सालोक्य सामीप्य आदि होनेके ही तो प्रकार हैं. आपसे कोई पूछे कि ''वह कैसे मुक्त हुए?'' तो आप कहेंगे कि ''उनको सालोक्य प्राप्त हुआ.'' तो सालोक्य एक होनेका ही तो प्रकार है कि वह उनके लोकमें गये. कैलाशवास स्वर्गवास वैकुंठवास यह सब होनेके ही तो प्रकार हैं. इस तरह दोनोंमें दोनों प्रकार हैं. हम इस जगत्को भगवल्लीला मानते हैं. इस कारण हम इस बातका आनंद ले सकते हैं. जिनको भगवल्लीलाका बोध नहीं है उन्हें लगता है कि *''डुबोया मुझको होनेने.''* यह मत समझ लेना कि परमानंद है तो दुःख नहीं होगा. दुःख तो होगा ही पर वह अंततः आनंदका विषय ही होगा. जैसे किसी फिल्ममें ट्रेजेडी है तो वह एक मजेका ही हिस्सा है. इस तरह अपना लीलाका सिद्धांत, अपने होनेका सिद्धांत नहीं है.

इस कारण महाप्रभुजी कह रहे हैं कि यहां सर्गलीलाके अंतर्गत मुक्तिका वर्णन आ रहा है.

## ।। चतुर्विंशाध्यायविवरणम् ।।

सुबोधिनीकारिका :

**चतुर्विंशे तथा अध्याये मोक्षो बुद्धिश्च वर्ण्यते।।**
**कपिलो हि हरिर् बुद्धिः उपदेशो भजिस्तथा।।**
**ऋणत्रयपरित्यागो मोक्षार्थं तस्य वर्ण्यते।।१।।**

अनुवाद : इस चौबीसवे अध्यायमें मोक्ष और बुद्धि का वर्णन किया गया है. महर्षि कपिल तो स्वयं श्रीहरि हैं और उनकेद्वारा दिया गया बुद्धिका उपदेश एवं भजन और पितृऋण ऋषिऋण और देवऋण, ऐसे तीनों ऋणोंका परित्याग मोक्षके लिये वर्णित हुआ है।।१।।

विवेचन : ऐसा माना गया है कि **''जायमानो वै ब्राह्मणः त्रिभिः ऋणवान् जायते''** (तैत्ति.संहि.६।३।१०।५) व्यक्तिके पैदा होनेके कारण उसपर तीन ऋण चढ़ जाते हैं. वे तीन ऋण हैं ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण और देव-ऋण. पहले पितृ-ऋण समझें. हम जिस समाजमें रह रहे हैं उस समाजके भूतकालका जो भी कुछ अपने पास है अथवा जो भी कुछ उस समाजसे हमें विरासतमें मिला हो; चाहे वह सांस्कृतिक हो अथवा सभ्यताकी दृष्टिसे हो, उसका अपने ऊपर ऋण तो है ही. यदि इसके बारेमें हमें जागृति नहीं है तो हम उस ऋणको चुकाना भूल जायेंगे. उस भूतकालके प्रति जागृत होना ही हमारा पितृओंके प्रति ऋण चुकाना होगा. दूसरा है ऋषि-ऋण. हम जी रहे हैं तो हमें ज्ञानपूर्वक जीना चाहिये. यह ज्ञान हमें ऋषिद्वारा ही प्राप्त होता है. इस कारण ऋषि-ऋण भी हमें चुकाना चाहिये. इस वर्तमानको ठीकसे जानना ही ऋषि-ऋण चुकाना कहलायेगा. इसी प्रकार अपने भविष्यके बारेमें जानकारीसे हमारा देव-ऋण चुकता होता है.

**''जायमानो वै ब्राह्मणः त्रिभिः ऋणवान् जायते''** (तैत्ति.संहि.६।३।१०-।५) व्यक्तिके ऊपर भूत वर्तमान और भविष्य के रूपमें यह तीन

ऋण चढ़ जाते हैं. उदाहरणके लिए आज पाकिस्तानपर अब्जों रुपयेका कर्ज है. इसका अर्थ है कि जो भी पाकिस्तानमें पैदा हो रहा है उसको किसी न किसी रूपमें वह कर्ज चुकाना ही होगा. यह पितृ-ऋण है. हम जिस समाजमें पैदा हो रहे हैं उस समाजका कुछ भूत है कुछ वर्तमान है और कुछ भविष्य है. हम जब भी पैदा होते हैं तो इन तीन ऋणोंके साथ ही पैदा होते हैं. अपने भूतकालको भली प्रकार जान कर, वर्तमानको अच्छी तरह बरत कर और भविष्यके बारेमें जागृत रह कर, उसे ठीकसे नियंत्रित करनेसे यह तीनों ऋण चुकता होते हैं. जो भी व्यक्ति इन तीन ऋणोंको चुकाये बिना चला जाता है, शास्त्र उसके बारेमें यह कहता है कि **''ऋणानि त्रीणि अपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेद् अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजति अधः''** (मनुस्मृ.६।३५) तीन ऋण चुकानेके बाद ही तुम्हें मोक्षकी इच्छा करनी चाहिये. इनको चुकाये बिना यदि तुम मोक्षकी इच्छा रख रहे हो तो मोक्ष तो नहीं मिलेगा, अपितु तुम्हारा अधःपतन होगा. **''अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो व्रजति अधः''** (मनुस्मृ.६।३५) मानें जो आपका भूतकालका वर्तमानका और भविष्यका ऋण आपने नहीं चुकाया और आप मुक्त होना चाहते हैं क्योंकि *''तेरी दुनियामें दिल लगता नहीं मुझको ए मालिक उठा ले''* तो मालिक उठायेगा तो नहीं बल्कि और गढ्ढेमें डाल देगा. इसी कारण पुराने जमानेमें अपने यहां बचपनमें संन्यास लेनेकी मनाई थी. इसीलिए हमारे यहां ऐसी व्यवस्था थी कि ब्रह्मचर्यमें शास्त्र पढ़ कर आप ऋषि-ऋण चुकायें, गृहस्थसे आप पितृ-ऋण चुकायें और वानप्रस्थसे आप देवताओंका ऋण चुकाते थे. इस तरह इन तीनों आश्रमोंमें रह कर आप तीनों ऋण चुका दो. बादमें आपको मोक्ष मिलनेका अधिकार प्राप्त होता था.

जैन-बौद्धने कहा कि हमें बचपनसे ही मोक्ष चाहिये. हम ऋण चुकानेमें विश्वास नहीं करते. इसकी देखा-देखी अपन् सनातनियोंमें

भी यह फॅशन् चल गई कि बचपनमें ही मोक्ष चाहिये. बेचारे छोटे-छोटे बालकोंको संन्यासी बना देते हैं! अब नन्हे बालक बेचारे चांद घुटा सकते हैं, भगवा कपड़े पहन सकते हैं पर उस ऋणका क्या? वह तो नहीं चुकाया उन्होंने. जब ऋण नहीं चुकाया तो समाजका अध:पात होता है. ऋण चुकानेके बाद आप यदि मोक्षकी इच्छा करते हैं तो रिटायरमॅन्ट्की उम्रमें तो रिटायर् होना ही चाहिये. ऋण चुका दिया तो रिटायर् तो होना ही चाहिये. जिससे कि दूसरे व्यक्तिको अवसर मिले. इसलिए मोक्षकी इच्छा अपने यहां चौथे चरणमें थी. जो कि 'संन्यास-आश्रम' कहा जाता था. पहला ब्रह्मचर्य, उसके बाद गृहस्थ, फिर वानप्रस्थ और अंतमें संन्यास. यह आदर्श व्यवस्था थी कि ऋषिऋण चुकानेके लिए ब्रह्मचर्य, पितृऋण चुकानेके लिए गृहस्थ, देव-ऋण चुकानेके लिए वानप्रस्थ, यह तीनों ऋण चुकानेके बाद ही आप मोक्ष प्राप्तिके लिए संन्यास ले सकते हो. इन ऋणोंको चुकाये बिना यदि आप मोक्ष प्राप्तिकी इच्छा रख रहे हो तो आप समाजको एक गलत संदेश दे रहे हो. इससे समाजका उत्कर्ष नहीं होता है अपितु अपकर्ष होता है. यही इस अध्यायमें कहा और समझाया गया है कि **''ऋणत्रयपरित्यागो मोक्षार्थं तस्य वर्ण्यते''** तीन ऋण इस प्रकार चुकानेके बाद आपको मोक्षार्थ प्रवेश करना चाहिये. यह इस चौबीसवें अध्यायका विषय है. यह प्रकरणका अर्थ है. इसके बाद वाक्यार्थ पदार्थ अक्षरार्थ आयेगा.

**( कर्दमऋषिद्वारा देवहूतिको सान्त्वन )**

**मैत्रेय: उवाच**

श्लोक :

**निर्वेदवादिनीम् एवं मनो: दुहितरं मुनि:।**
**दयालु: शालिनीम् आह शुक्लाभिव्याहृतं स्मरन्॥१॥**

अनुवाद : **मैत्रेय कहते हैं कि वैराग्यकी बात कहनेवाली मनुराजाकी सुशील पुत्रीको शुक्लनारायणके दिये हुए वरदानका स्मरण करके**

दयालु कर्दम मुनिने कहा।।१।।

**( मोक्षदाता भगवान् कपिलदेवके अवतारका उपक्रम )**

**ऋषिः उवाच**

श्लोक :

**मा खिदो राजपुत्रि इत्थम् आत्मानं प्रति अनिन्दिते!।।**
**भगवान् ते अक्षरो गर्भम् अदूरात् सम्प्रपत्स्यते।।२।।**

अनुवाद : **कर्दम ऋषि बोले, हे अनिन्द्य राजपुत्री! तुम अपने लिए इस प्रकार आत्मनिंदारूप खेद मत करो. क्योंकि तुम्हारे गर्भसे कछु समय बाद अन्तयार्मीसे अधिक अक्षररूप भगवान् जन्म लेनेवाले हैं।।२।।**

विवेचन : "किसी विरक्तको देख कर तुम्हें लगता है कि मैं तो विरक्त नहीं हूं" तो कोई भी यदि विरक्त हुआ है तो वह तो तीनों ऋण चुका कर विरक्त हुआ है. ऋण चुकाये बिना वैराग्यका भाव क्यों आना चाहिये? इससे पहले तो कर्तव्यका भाव होना चाहिये. "इसलिए तुम आत्मनिंदासे मत ग्रसित हो". इससे पूर्वकी पृष्ठभूमि यह है कि देवहूति सोच रही है कि "सभी वैराग्य ले रहे हैं और मैं तो संसारमें फंसी हुई हूं". पर संसारसे तो तब छूटना चाहिये जब कर्तव्योंका निर्वाह पूरा हो जाये. वह तो देवहूतिने अभी किया नहीं है. यह तो उत्कर्षके बजाय अधःपातका कारण हो जायेगा. इसलिए कर्दम ऋषि उसे समझा रहे हैं कि "**मा खिदो राजपुत्रि इत्थम् आत्मानं प्रति अनिन्दिते भगवान् ते अक्षरो गर्भम् अदूरात् सम्प्रपत्स्यते.**" "**तुम किसी बातकी चिंता मत करो क्योंकि तुम्हारे गर्भसे अंतर्यामीसे अधिक अक्षररूप भगवान् जन्म लेंगे.**

श्लोक :

**धृतव्रता असि भद्रं ते दमेन नियमेन च।।**

तपोद्रविणदानैश्च श्रद्धया च ईश्वरं भज॥३॥
स त्वया आराधितः शुक्लो वितन्वन् मामकं यशः॥
छेत्ता ते हृदयग्रन्थिम् औदर्यो ब्रह्मभावनः॥४॥

अनुवाद : भगवान् यदि खुद प्रकट होनेवाले हों तो साधन करनेकी ज़रूरत नहीं है अतः समझाते हैं, तुमने तप सुवर्णादिके दान, इन्द्रियनिग्रह करके स्नान आदि नियमोंका पालन करके व्रतोंका निर्वाह किया है, इस लिये श्रद्धापूर्वक ईश्वरका भजन करो॥३॥

इस प्रकार आराधना करनेपर श्रीहरि तुम्हारे गर्भसे अवतीर्ण हो कर मेरा यश बढ़ायेंगे और ब्रह्मज्ञानका उपदेश करके तुम्हारे हृदयकी अहंकारमयी ग्रंथिको काटेंगे॥४॥

सुबोधिनी : तर्हि साधनं न कर्तव्यम् इति आह धृतव्रता इति. साधनानि सिद्धे भगवति प्रवर्तन्ते. यदा भगवान् स्वयमेव आगमिष्यामि इति मन्यते, तदा साधनानि कृतानि भगवन्तं बोधयन्ति, प्राप्नुवन्ति, वशीकुर्वन्ति, उत्पादयन्ति. यथा लोके स्वभावतो भोक्तारम् अतिथिनिमन्त्रणादीना वशीकृत्य भोजयन्ति, नतु अभोक्तारम् उपायशतैरपि. यतो भगवान् स्वयं समागन्ता, अतः साधनानि कर्तव्यानि. तत्र कानिचिद् देहशुद्ध्यर्थम् आदौ कर्तव्यानि तानि तव न कर्तव्यानि इति आह धृतव्रता असि इति. पातिव्रत्यव्रतं धृतमेव त्वया वर्तते. अतः परं त्वयि गते गमिष्यति इति चेत् तत्र आह भद्रं ते इति. ते भद्रम् अस्तु. अस्मद्वाक्यादेव व्राताकरणेऽपि व्रतिनइव तव फलं भविष्यति इति आशीः. सिद्धे व्रते भगवत्प्रसादार्थं पञ्चसाधनानि कर्तव्यानि इति आह. दमः इन्द्रियनिग्रहः कर्तव्यः. नियमो भगवदीयैरेव धर्मैः व्यवहर्तव्यमिति नियमाः स्नानादयो वा देहस्य, तदा 'च'कारेण प्रथमाः ग्राह्याः. तपः प्रसिद्धं कृच्छ्रादिरूपम्. द्रविणानि द्रव्याणि सुवर्णादीनि भगवदर्थं कर्तव्यानि इति एकं साधनम्. द्रविणदानं च अन्यद्, दानमेव वा. अन्यथा अवान्तरबहुत्वे बहुवचनं व्यर्थं स्यात् ''प्रयतात्मनः''

(भग.गीता ९।२६) इति वाक्यात्. दमो नियतः. व्रतानां हरितोषजनकत्वाद् आविर्भावे तेऽपि प्रयोजकाः. "यज्ञो दानं तपश्चैव" (भग.गीता १८।५) इति भगवदुक्तशास्त्रार्थकरणे भगवान् परितुष्यतीति तपः प्रभृतीनां ग्रहणम्. 'द्रविण'पदेन च यज्ञाः 'भगवन्मखरूपा उक्ताः'. श्रद्धा अत्र सर्वांगम्. ननु सिद्धे किम् इति एतावन्ति साधनानि? तत्र आह ईश्वरम् इति. सः न येन केनापि नियम्यः, अतो असिद्धवदेव साधनानि कर्तव्यानि इति अर्थः. ततः किं भविष्यति इति आशङ्क्य आह सः त्वया इति. मया आराधितोऽपि त्वया चेद् एवम् आराधितः. स हि शुक्लः निर्दोषपूर्णगुणविग्रहो मामकं यशो वितन्वन्, लोके कर्दमस्य पुत्रो जातः इति कीर्तिं वितन्वन्, ते हृदयग्रन्थिं भेत्स्यति. अदोषार्थे, आवश्यकार्थे, विश्वासार्थे, च आह औदर्यः इति उदरे भव औदर्यः. ननु तस्य मत्पुत्रस्य कथं मदज्ञानदूरीकरणसामर्थ्यम्? तत्र आह ब्रह्मभावनः इति ब्रह्म भावयति अनुभावयति स्वस्मिन् अन्यस्मिन् च इति. अतः त्वय्यपि ब्रह्म आविर्भाव्य हृदयग्रन्थिं छेत्ता. एवम् आश्वासनम् उक्तवान्॥३-४॥

अनुवाद : सब साधनोंको सिद्ध करके अन्तमें भगवान्के लिये प्रवृत्त होना चाहिये. जब भगवदागमन होता है तब जो साधन किये होते हैं उसके कारण भगवान्का बोध होता है, भगवान् प्राप्त होते हैं, भगवान् वशीभूत और प्रकट भी होते हैं. जैसे लोकमें जो भोजन करना चाहता है ऐसे अतिथिको निमन्त्रण देके स्नेहाधीन करके उसे भोजन कराया जाता है; किन्तु जो भोजन नहीं करना चाहता हो उसे तो अनेक उपायोंसे भी भोजन नहीं कराया जा सकता क्योंकि भगवान् स्वयं प्रकट होनेवाले हैं. अतः साधन तो करने ही चाहिये. उन साधनोंमेंसे कुछ तो देहकी शुद्धिके लिये होते हैं. उन साधनोंको देवहूतिको करना आवश्यक नहीं है क्योंकि अनेक व्रत स्वयंने ही किये हैं जैसे कि पातिव्रत्यका व्रत. कर्दम ऋषिके गृहत्यागसे यह व्रतभंग नहीं होगा. क्योंकि स्वयं पति हि व्रतभंग नहीं हो ऐसा वरदान देना चाहते है. व्रतोंके पूर्ण होनेपर भगवान्को प्रसन्न करनेके

लिये पांच साधन करने चाहिये : **दम** इन्द्रियनिग्रह करना, **नियम** भगवत्सम्बन्धी धर्मोंमें परायण रहेना. अथवा स्नानादि कर्तव्य देहकी शुद्धिके लिये. **तप** कृच्छ्रादि, स्वर्णादि द्रव्योंका दान भगवान्‌के लिये करना. अन्यथा पांचों साधनोंमेंसे एक साधनके लिये बहुवचनका प्रयोग अनावश्यक होगा. व्रतोंके कारण भगवान्‌के प्रसन्न होनेपर भगवान्‌को प्रकट करनेके लिये वे प्रयोजक बनते हैं. क्योंकि भगवान् गीतामें कहते हैं कि यज्ञ दान और तप तो करने ही चाहिये. भगवान्‌के द्वारा कहे वचनोंको शास्त्रके अनुरूप कर्तव्यनिर्वाहसे भगवान् परितुष्ट होते हैं. अतः 'तप' आदिका उल्लेख किया. यहां 'द्रव्यों'को कह कर भगवान्‌के यजनरूप कर्तव्योंका निर्देश किया. श्रद्धा होनी हर साधनमें आवश्यक अंग ही है॥३॥

यदि, भगवान् स्वयं प्रकट होनेवाले हों तो इतने साधन क्यों करने? समाधानके रूपमें यहां समझनेकी बात यह है कि भगवान् तो ईश्वर होनेसे कोई नियमके अधीन नहीं हैं. अतएव साधन करनेके बावजूद भी साधन नहीं किये हैं ऐसा साधकता व्यवहार होना चाहिये. उससे क्या लाभ? वहां बताते हैं कि कर्दमने जैसे भगवान्‌की आराधना की ऐसे देवहूतिको भी ऐसी आराधना करनी चाहिये. ऐसे करनेसे शुक्ल निर्दोषपूर्णगुणविग्रह भगवान् कर्दमके यश विस्तारनेके लिये दुनियामें उनके घर पुत्रके रूपमें अवतरित हुए ऐसी कीर्ति बढायेंगे. और वे (भगवान्) देवहूतिके हृदयकी सभी ग्रन्थिओंका छेदन करेंगें. यह आवश्यक बातके ऊपर विश्वास हो इसलिये देवहूतिके गर्भसे प्रकट होंगे. देवहूतिके पुत्र देवहूतिका अज्ञान कैसे दूर कर पायेंगे? ऐसी शंकाका समाधान करते हैं कि वह पुत्र स्वयंके और अन्यके बारेमें ब्रह्मज्ञान प्रदान करनेवाला प्रकट होगा. अतः ब्रह्मको जन्म देनेवाली माता देवहूतिको आश्वस्त रहना चाहिये॥४॥

<u>विवेचन</u> : भगवान् जब स्वयं प्रकट होते हों तो साधन करनेकी

आवश्यकता नहीं है ऐसा लगता हो तो समझानेके लिए कहते हैं कि तुमने तपस्या दान इन्द्रियनिग्रह आदि नियम निभाये हैं और श्रद्धापूर्वक ईश्वरको भजा है. इसलिए तुम्हारे गर्भसे भगवान् प्रकट होंगे. इसलिए तुम आत्मनिंदा मत करो. **साधनानि सिद्धे भगवति प्रवर्तन्ते, यदा भगवान् स्वयमेव आगमिष्यामि इति मन्यते, तदा साधनानि कृतानि भगवन्तं बोधयन्ति, प्राप्नुवन्ति, वशीकुर्वन्ति, उत्पादयन्ति** जब-तक भगवान् तेरे गर्भमें प्रकट नहीं होते हों तब-तक ये सारे साधन तो तुझे करने ही होंगे. इसके पहले मुक्तिकी तेरी इच्छा होना ऋण चुकाये बिना छूटने जैसा अपराध है. अर्थात् भगवान्को तेरे गर्भमें आनेके लिए जैसी शुद्ध देह चाहिये उतनी शुद्धिके साधन तो तुझे करने ही होंगे. इससे पहले तू यदि मुक्त होना चाहती हो तो तू मुक्त नहीं होगी. तेरा अध:पतन होगा. **यथा लोके स्वभावतो भोक्तारम् अतिथिनिमन्त्रणादीना वशीकृत्य भोजयन्ति नतु अभोक्तारम् उपायशतैरपि** किसीको भोजनकी इच्छा हो तो ही तो हम उसे भोजनपर आमंत्रण देंगे. किसीको यदि भोजनकी इच्छा ही नहीं है तो उसको आमंत्रित करनेपर क्या करेगा!

हमारे गोस्वामी परिवारोंमें एक लाक्षणिक विशिष्टता है. अक्सर हमारे यहां विवाहका समय संध्याका रहता है. विधि पूरी होते-होते रातके बारह-एक बज जाते है. उसके बाद भोजनके लिए आमंत्रण दिया जाता है. अब इतनी रात तक कौन भूखा रह सकता है? यह लोगोंको पता होता है इसलिए सब मेहमान भोजन घरसे करके ही आते हैं. यहां भी पत्तल पूरी परोस दी जाती है और लोग खाते हैं केवल पापड़. बाकी सारा परोसा हुआ भोजन बेकार जाता है. क्योंकि आमंत्रण भोजनका है इस कारण भोजनके लिए जाना तो पड़ता है, नहीं जायें तो लोगोंको बुरा लगे और भोजन करे तो पेट बिगड़े. इसलिए केवल पापड़ लेते हैं. मेरी बेटीके लग्न-प्रसंगमें मैंने सोचा कि मुझे यह सब नाटक नहीं करना है. इस कारण

पहले तो मैंने लग्नका समय सुबहका रखा और दूसरा किसीको भी भोजनका निमंत्रण नहीं दिया. कई लोगोंको बुरा लगा. लगभग दोपहर बारह बजे, जब शादी पूरी हो गई, तो मैंने लोगोंसे पूछा ''भूख लगी है?'' तो सभीने 'हां' कहा. तो मैंने कहा ''भोजन तैयार है चलिये.'' तैयारी तो सब रखी ही थी. पर मुझे भोजन बेकार फेंकना नहीं था. समय अनुकूल होनेके कारण सभीने शांतिसे भोजन किया. भोजनका निमंत्रण यदि दिया होता तो सब घरसे भोजन करके ही आते. **यथा लोके स्वभावतो भोक्तारम् अतिथिनिमन्त्रणादीना वशीकृत्य भोजयन्ति नतु अभोक्तारम् उपायशतैरपि** यही बात यहां कहना चाह रहे हैं कि अतिथिको भोजनके लिए निमंत्रण उसे वश करनेके लिए दिया जाता है. पर किसे? इसके उत्तरमें कहते हैं **'भोक्तारम्'** जिसे भोजनकी इच्छा हो. यदि किसीको इच्छा ही न हो तो आप सौ उपाय भी करें, तो उसे नहीं करा सकते. **नतु अभोक्तारम् उपायशतैरपि.**

**यतो भगवान् स्वयं समागन्ता, अतः साधनानि कर्तव्यानि.** क्योंकि भगवान् स्वयं आने ही वाले हैं. इसलिए तू साधननिष्ठ हो कर तैयारी कर. भगवान् तेरे मातृत्वका उपभोग करनेके लिए आना चाह रहे हैं. इसलिए तुझे तैयार रहना है क्योंकि वे भोक्ताके रूपमें आना चाह रहे हैं. इसलिए साधन तो तुझे करने ही होंगे. मुक्तिकी अभी तू शीघ्रता मत कर. **तत्र कानिचिद् देहशुद्ध्यर्थम् आदौ कर्तव्यानि तानि तव न कर्तव्यानि इति आह. धृतव्रता असि इति. पातिव्रत्यव्रतं धृतमेव त्वया वर्तते. अतः परं त्वयि गते गमिष्यति इति चेत् तत्र आह भद्रं ते इति.** इसमेंसे कितने कर्तव्य तुझे देहशुद्धिके करने थे, वे तो तू कर ही चुकी है. ऐसा करनेके कारण ही तुझे वैराग्य आया और इस वैराग्यके कारण ही तुझमें मुक्तिकी कामना जागृत हुई. पर यह उचित नहीं है क्योंकि भगवान् प्रकट होना चाह रहे हैं. **ते भद्रम् अस्तु. अस्मद्वाक्यादेव व्रताकरणेऽपि व्रतिनइव तव फलं भविष्यति इति आशीः** इतना तो तू निश्चित समझ ले कि मेरे वाक्योंपर

यदि तू विश्वास रखेगी तो तेरा कल्याण निश्चित होगा ही और भगवान्ने क्योंकि तेरी कोखसे जन्म लेना निश्चित किया है इसलिए करना तो तुझे पड़ेगा ही. **सिद्धे व्रते भगवत्प्रसादार्थं पञ्च साधनानि कर्तव्यानि इति आह.** जब तेरा व्रत पूरा होगा तो पांच साधन तुझे करने होंगे **दमः इन्द्रियनिग्रहः कर्तव्यः** 'दम' मानें इन्द्रियोंपर नियंत्रण करना **नियमो भगवदीयैरेव धर्मैः व्यवहर्तव्यम् इति** 'नियम' मानें जो भगवदीय धर्म हैं उनको व्यवहारमें लाना. **नियमाः स्नानादयो वा देहस्य** स्नानादि जो देहके धर्म हैं वह **तदा 'च'कारणे प्रथमा ग्राह्याः. तपः प्रसिद्धं कृच्छ्रादिरूपम्.** जो कृच्छ्रादि तपके प्रसिद्ध रूप हैं वह **द्रविणानि द्रव्याणि सुवर्णादीनि भगवदर्थं कर्तव्यानि इति एकं साधनम्. द्रविणदानं च अन्यद्, दानमेव वा.** जो सुवर्ण दानादि कार्य है वह तुझे भगवदर्थ करने चाहिये. यह ही एक साधन है **अन्यथा अवान्तरबहुत्वे बहुवचनं व्यर्थं स्यात् ''प्रयतात्मनः...'' (भग.गीता ९।२६) इति वाक्यात्. दमो नियतः. व्रतानां हरितोषजनकत्वाद् आविर्भावे तेऽपि प्रयोजकाः. ''यज्ञो दानं तपश्चैव'' (भग.गीता १८।५) इति भगवदुक्तशास्त्रार्थकरणे भगवान् परितुष्यतीति तपः प्रभृतीनां ग्रहणम्. 'द्रविण'पदेन च यज्ञाः भगवन्मखरूपा उक्ताः. श्रद्धा अत्र सर्वाङ्गम्. 'दम'** मानें आत्मनियंत्रण. यह तो अतिआवश्यक है और व्रत हरिको संतोष देनेवाला है क्योंकि भगवान्को लगना चाहिये कि यह कोख मेरे जन्म लेने लायक है.

**ननु सिद्धे किमिति एतावन्ति साधनानि? तत्र आह ईश्वरम् इति.** क्योंकि यह तो ईश्वर है. उसे किसी भी वस्तुसे बांधा नहीं जा सकता. तू ऐसा न समझ लेना कि तेरे इन नियमोंके करनेके कारण ईश्वर तेरी कोखसे जन्म लेगा. ईश्वर आनेवाले हैं इसलिए तुझे यह नियम पालने हैं.

देखो, दोनों बातोंमें अंतर आ गया. पहली बात है ''मैं यह कर रही हूं इस कारण ईश्वर मेरे यहां आ रहे हैं'' और दूसरी ''मैं इस देहको शुद्ध रखूं क्योंकि ईश्वर मेरे यहां आ रहे हैं''.

ईश्वर किसीसे बंधा हुआ नहीं है कि कोई कुछ करे तो ईश्वर वहां आ जाये. और न आये तो आप उसे नोटिस् दो कि इतने दिन हमने साधन किये आप आ क्यों नहीं रहे हो! इसलिए उसके आनेके लिए व्रत नहीं करना है पर आनेवाला है इसलिए व्रत करना है.

**प्रश्न :** दमको अतिआवश्यक क्यों बताया गया है?

**उत्तर :** किसी भी बातके लिए आत्मनियंत्रण तो आवश्यक है ही. आपको पढ़ना है तो चाहे मन कुछ भी करे पर पढ़ाईमें ध्यान लगाना पड़ेगा. नाचना हो तो भी आत्मनियंत्रण आवश्यक है. आपको पतले रहना होगा. खूब घी खा कर आप मोटे हो गये तो नाचोगे कैसे! ऐसे कुछ भी काम ठीकसे करना है तो और बातोंसे ध्यान हटा कर उस काममें लगाना होगा, यह है आत्मनियंत्रण. इसी तरह यदि बालकको जन्म देना है तो जो काम आप साधारण अवस्थामें करते हैं वह गर्भावस्थाके समय तो नहीं कर सकते. यही बात कर्दम मुनि यहां कह रहे हैं. व्रत करनेका इसलिए कहा क्योंकि यदि भगवान् प्रकट हो रहे हैं तो उन्हें लगना चाहिये कि उनके लिए व्रत रखा है. यह व्रत प्रभुको संतोष देनेके लिए है.

**सः न येन केनापि नियम्यः, अतो असिद्धवदेव साधनानि कर्तव्यानि इति अर्थः** साधन किसलिए करने, वह इसलिए नहीं करने कि इन्हें करनेसे ईश्वर मेरे नियंत्रणमें आ जायेंगे. इनको करनेसे कुछ भी नहीं होगा पर क्योंकि वे आनेवाले हैं इसलिए मुझे कुछ तो करना चाहिये. जैसे अतिथि आनेवाले हो तो हम घरकी सफाई करते हैं. अब वह आये या न आये पर हमें इतना ध्यान तो रखना चाहिये कि अतिथि यदि आ जाय तो घर बिखरा हुआ नहीं लगना चाहिये. हम घरकी सफाई रखें॥३॥

**ततः किं भविष्यति इति आशङ्क्य आह सः त्वया इति**

**मया आराधितोऽपि त्वया चेद् एवम् आराधितः** ऋषि अपनी पत्नीको कह रहे हैं कि मैंने इस प्रकारसे आराधना की है और तू भी ऐसा करेगी तो; **सः हि शुक्लः निर्दोषपूर्णगुणविग्रहो मामकं यशो वितन्वन् लोके कर्दमस्य पुत्रो जातः इति कीर्तिं वितन्वन्** निर्दोष पूर्णगुणवान् शुक्ल-नारायण भगवान् हमारा यश बढ़ानेके लिए तेरे गर्भसे प्रकट होंगे. **ते हृदयग्रन्थिं भेत्स्यति. अदोषार्थे, आवश्यकार्थे, विश्वासार्थे च आह औदर्यो इति. उदरे भव औदर्यः** और वे जब आयेंगे तो वे ही तेरी हृदयग्रन्थिका भेदन करेंगे. उसके पश्चात् ही तू वैराग्यकी कामना करना. अभी इसके लिए उत्सुक मत हो **ननु तस्य मत्पुत्रस्य कथं मद् अज्ञानं दूरीकरणसामर्थ्यम्? तत्र आह ब्रह्मभावनः इति ब्रह्म भावयति अनुभावयति स्वस्मिन् अन्यस्मिन् च इति. अतः त्वय्यपि ब्रह्म आविर्भाव्य हृदयग्रन्थिं छेत्ता एवम् आश्वासनम् उक्तवान्.** यह जो हमारा पुत्र होगा, वह पुत्र होते हुए हमारा अज्ञान कैसे दूर करेगा? साधारणतया तो मां-बाप ही पुत्रका अज्ञान दूर करते हैं. तो कहते हैं कि वह जब तेरी कोखमें आयेगा तब उसके ही कारण तेरी बुद्धिमें भी ज्ञान उपजेगा. वह अकेला ही नहीं जन्मेगा. उसके साथ तेरी बुद्धिमें ज्ञानका भी जन्म होगा. जब ज्ञान होगा तो संशय अपने आप दूर हो जायेंगे. अतएव ब्रह्मको जन्म देनेवाली माता देवहूतिको आश्वस्त रहना चहिये. ॥४॥

**मैत्रेयः उवाच**

श्लोक :

**देवहूत्यपि सन्देशं गौरवेण प्रजापतेः ॥**
**सम्यक् श्रद्धाय पुरुषं कूटस्थम् अभजद् गुरुम्॥५॥**
**तस्यां बहुतिथे काले भगवान् मधुसूदनः ॥**
**कार्दमं वीर्यम् आपन्नो जज्ञे अग्निरिव दारुणि॥६॥**

अनुवाद : **देवहूतिने भी प्रजापतिके सन्देशमें गौरवभावसे भलीभांति श्रद्धा रखके कूटस्थ पुरुषका गुरुभावसे भजन किया॥५॥**

इस प्रकार बहुत समय बीत जानेपर भगवान् मधुसूदन कर्दमजीके वीर्यरूपसे देवहूतिके गर्भसे प्रकट हुए जैसे काष्ठमेंसे अग्नि प्रकट होती है वैसे॥६॥

**( भगवद्वचनोंकी प्रमाणरूपता )**

श्लोक :

**स्वीयं वाक्यम् ऋतं कर्तुम् अवतीर्णो असि मे गृहे॥**
**चिकीर्षुः भगवान् ज्ञानं भक्तानां मानवर्धनः॥३०॥**

अनुवाद : आप अपने भक्तोंका मान बढ़ानेवाले हैं. आपने अपने वचनोंको सत्य करनेके लिए और सांख्ययोगका उपदेश देनेके लिए ही मेरे घरमें अवतार लिया है. भगवान् जिसके घरमें जन्म लेते हैं उसका जगत्में मान तो बढ़ता ही है॥३०॥

सुबोधिनी : किञ्च, यथा वेदाः प्रमाणं तथैव भगवद्वाक्यम् इति "अथ अहम् अंशकलया" ( भाग.पुरा.३।२१।३२ ) इति वाक्याद् अवतीर्णम् इति आह स्वीयं वाक्यम् इति. अवतीर्णस्तु लोके ज्ञानप्रचारणार्थं भक्तानां मानं च वर्धयितुं काष्ठवृक्षादिकं परित्यज्य मे गृहे अवतीर्णो असि नतु स्वभाग्येन वा कारणान्तरेण वा इति॥३०॥

अनुवाद : और, भगवान्के विषयमें जैसे वेदवचनोंको प्रमाण माना जाता है ऐसे स्वयं भगवद्वचनोंको भी प्रमाण मानना चाहिये. यह बतानेके लिये कर्दम ऋषि कहते हैं कि भगवान् स्वयंकी अंश-कलासे अवतीर्ण हुए हैं. स्वयंके वचनोंको सत्य करनेके लिये मेरे घरमें आप अवतीर्ण हुए हो. वह भक्तोंके ज्ञान और मान बढ़ानेके लिये ही. इसमें न तो भाग्य कारण है न अन्य कुछ कारण॥३०॥

**( भगवान्की सर्वरूपता )**

श्लोक :

**तान्येव ते अभिरूपाणि रूपाणि भगवन्! तव॥**
**यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानाम् अरूपिणः॥३१॥**

अनुवाद : **जो रूप भगवान्‌के भक्तोंको रुचिकर होता है वैसे लौकिकरूपोंसे रहित होनेके बावजूद भगवान्‌के लिये वैसे लौकिकरूपोंको धारण करके प्रकट होना तो योग्य ही है॥३१॥**

विवेचन : भगवान्‌का लौकिक रूपोंसे रहित होनेपर भी जो-जो रूप भक्तोंको रुचते हों, वैसे रूप धारण करके प्रकट होना उचित ही है. ऐसा इसलिए कि तुम्हारा रूप चाहे उनके योग्य हो अथवा ना हो पर यदि भगवान् तुम्हारे यहां जन्म लेते हों तो तुम्हारे जैसा ही रूप वे प्रकट करते हैं॥३१॥

सुबोधिनी : **ननु तथापि हीनभावः कथं भगवतः उपपद्यते? तत्र उपपत्तिम् आह तान्येव इति. पुरुषोत्तमस्य हीनभावो न उचितः नच अयं हीनभावः, उभयविधानि भगवतो रूपाणि उचितानि यानि सर्ववेदप्रसिद्धानि आनन्दमयानि, यानि च भक्तानां रोचन्ते. एतावताऽपि भगवान् अरूपएव. तान्येव आनन्दमयानि रूपाणि हे भगवन्! ते अभिरूपाणि, योग्यानि, यानि च भक्तानां रोचन्ते. नराकृतीनि तानि च भगवतो अभिरूपाणि.(अनुरूपाणि) यथा पूर्वं यानि रूपाणि कृतवान् तानि भगवतो वेद आह. यानि पश्चाद् भक्तानुरोधेन कृतवान् तानि अपि अभिरूपाण्येव सामग्र्याः तुल्यत्वात्. अवचनन्तु इदानीन्तनत्वात्. एतावत्त्वं निषेधः च नास्त्येव. अन्यथाभानन्तु बुद्धिदोषाद् अन्येषां, भक्तानान्तु तद् आनन्दरूपमेव, अन्यथा रुचिः न स्यात्॥३१॥**

अनुवाद : किन्तु भगवान् स्वयं कैसे हीनभावमें प्रकट हुए? वहां उपपत्ति दे रहे हैं. जो पुरुषोत्तम है उसमें हीनभाव नहीं हो सकता. और ऐसे लौकिकरूपमें अवतीर्ण होना वह हीनभाव है ही नहीं. क्योंकि भगवान्‌के दोनों प्रकारके रूप—जो सर्ववेद प्रसिद्ध हो ऐसे आनन्दमय रूप, वैसे ही भक्तोंके रुचिके अनुसार रूप भी उचित है. (भगवान् अरूप हैं) अतः वेद तो भगवान्‌ने लिये हुए आद्यरूपोंका निरूपण करते हैं. उसके बाद भगवान्‌की ऐसी महिमाका आनन्द लेनेवाले भक्तोंको

जो नराकृति आदि रूप रुचिकर हों, ऐसे रुप भी भगवान् प्रकट करते हों तो वे भी स्वरूपविचारसे योग्य ही हैं. यह या वह, दोनों रूपोंको प्रकट करनेके लिये जो सामग्री (स्वरूपगत और लीलागत आनन्दको प्रकट करनेका सामर्थ्य और भावानुरूप स्वभाव रूपी) तो समान होनेके कारण. अब, हालमें कोई भक्तके भावानुरूप स्वरूप भगवान् प्रकट करें तो वह (स्वरूप) वेदके प्रकट होनेके बाद होनेसे वेदोंमें वर्णित न भी हो पर उसका निषेध तो नहीं है. वेदोंमें ऐसा तो निरूपण नहीं किया है कि वेदोंमें जितने रूपों वर्णित हुए हैं उनसे अधिक रूपों नहीं हो सकतें अथवा भगवान्में किसी तरहके रूप होनेकी सम्भावना ही नहीं है. (भगवान्) लौकिकरूप धारण करनेसे लोकमें वे रूपोंसे जुड़े हुए अन्य सभी गुणधर्मों स्वीकारने पड़ेंगे, ऐसा विचार हमारी बुद्धिका दोष है भगवान्का नहीं. क्योंकि भक्तोंके लिये ऐसे लौकिकरूप भी आनन्दात्मक ही होते हैं॥३१॥

विवेचन : **पुरुषोत्तमस्य हीनभावो न उचितः** पुरुषोत्तमको हीन-भावमें नहीं आना चाहिये. हम तो मनुष्य हैं पर भगवान् तो मनुष्य नहीं हैं, तो वे हीन-योनिमें क्यों प्रकट होना चाहेंगे! इस पर कहते हैं कि **नच अयं हीनभावः, उभयविधानि भगवतो रूपाणि उचितानि यानि सर्ववेदप्रसिद्धानि आनन्दमयानि यानि च भक्तानां रोचन्ते.** हमारे लिए हमारा रूप हीन-भाववाला है. क्योंकि हमारा रूप अग्नि जल तेज वायु आकाश के संघातसे बना हुआ है. इन पंचतत्त्वोंमें इस संघातके कारण जो विकार उत्पन्न होते हैं वे अपनेमें भी दिखलायी देते हैं. जैसे पानीमें कोई गंध नहीं है, मिट्टीमें भी कोई गंध नहीं है पर जब दोनों मिलते हैं तो थोड़ी देरमें गंध आने लगती है. इसी प्रकार पंचतत्त्वोंके संघातसे जो अपना देह बना हुआ है उसमें विकार आयेगा ही. पर भगवान्का देह संघातसे उत्पन्न नहीं होता है. उनका मनुष्यदेह भी संघातिक नहीं होता, दिव्य होता है. होता है मनुष्य देह ही पर यह पंचमहाभूतके संघातसे उत्पन्न नहीं

होता. हमें लगेगा कि यह कैसी बात है! पर समझो कि आज-कल यदि हम अपना वर्च्युअल् फोटो खिचवाएं तो वह हमारा जैसा ही लगेगा पर अपने शरीरके विकार उसमें नहीं आयेंगे. लगेगा बिल्कुल अपने जैसा ही. बात भी हमारी तरह करेगा, चलेगा-फिरेगा भी हमारी तरह पर उसमें हमारे शारीरिक विकार नहीं होगा. आज-कल ऐसा भी हो गया है कि किसीको बात करनी हो तो हमें उसके सामने होनेकी आवश्यकता नहीं है. वह हमारे वर्च्युअल् रूपके साथ बात कर सकता है. उस वर्च्युअल् रूपके लिए स्क्रीन्की भी आवश्यकता नहीं है. वह खुलेमें भी प्रोजेक्ट् किया जा सकता है, जैसे लेसर्-किरण शोमें आपने देखा ही होगा. वर्च्युअल् फोटोमें रूप आपका होगा, बोली आपकी होगी, क्रियाशीलता भी बिल्कुल आपकी होगी. आप अपनी भावनाएं भी उसमें डाल सकते हैं पर आपके विकार उसमें नहीं होंगे. उदाहरणके लिए घी खानेसे उसका कोलेस्ट्रोल् नहीं बढ़ेगा. इसी प्रकार भगवान् अपना रूप ले कर बाहर प्रकट हो सकते हैं. वह अपने जैसा रूप होगा पर अपने जैसे विकार उनमें नहीं होते हैं.

पहलेके जमानेमें लोगोंको यह बात समझ नहीं आती थी पर जबसे यह वर्च्युअल् फोटोग्राफी शुरू हुयी तबसे हमें इसको समझनेमें कोई परेशानी नहीं होनी चाहिये. वर्च्युअल् रीयलिटीमें कोई दोष नहीं होता. सारे गुण ही होते हैं. यदि दोष आ भी गया है तो आप उसे डिजिटली ठीक कर सकते हैं. यह अपनेमें संभव नहीं है. डॉक्टर्की दवाईसे जो विकार दूर नहीं हो सकता, उसका हमारे पास कोई इलाज नहीं है. **तान्येव ते अभिरूपाणि रूपाणि भगवन्! तव, यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानाम् अरूपिणः. एतावताऽपि भगवान् अरूपएव. तान्येव आनन्दमयानि रूपाणि हे भगवन् ते अभिरूपाणि, योग्यानि यानि च भक्तानां रोचन्ते. नराकृतीनि तानि च भगवतो अभिरूपाणि.** तू अरूप है. तेरा कोई मनुष्य जैसा रूप नहीं है पर भक्तजनोंको

जैसा अच्छा लगे ऐसा रूप तू धरता है. इस कारण इसमें हीन भाव लानेकी आवश्यकता नहीं है. उदाहरणके लिए एक बात समझो कि आपके समक्ष यदि आपकी वर्च्युअल् रीयालिटी आये तो क्या आपको डर लगेगा? नहीं लगेगा. पर यदि एनेकोंडाकी अथवा शार्ककी वर्च्युअल् रीयलिटी आ जाये तो डर लगेगा. इसलिए भगवान् जब मनुष्योंके बीचमें प्रकट होते हैं तो उन्हींका रूप ले कर प्रकट होते हैं. इस कारण उनसे डरकी कोई बात नहीं है. तुम्हें यदि डराना हो तो वह एनेकोंडाका रूप भी ले कर आ सकता है. पर जब वह आपको अपना भक्त मान कर आता है तो वह ऐसा रूप लेता है कि आपको लगेगा कि यह तो बिल्कुल मेरे लड़के जैसा है. पर उस रूपमें होते हुए भी आपमें जो विकार हैं वे उसमें होने आवश्यक नहीं हैं. **यथा पूर्वं यानि रूपाणि कृतवान् तानि भगवतो वेद आह. यानि पश्चाद् भक्तानुरोधेन कृतवान् तानिअपि अभिरूपाण्येव(अनुरूपाण्येव) सामग्राः तुल्यत्वात्. अवचनन्तु इदानीन्तनत्वात्.** और वचन यह है कि ऐसा नहीं है कि भगवान्का बस ऐसा रूप ही हो सकता है. उसके तो कई रूप हो सकते हैं. **एतावत्त्वं निषेधः च न अस्तिएव. अन्यथाभानन्तु बुद्धिदोषाद् अन्येषाम्** इसमें यदि आपको बुद्धि-दोषके कारण अन्यथा-भान हुआ कि यह तो मेरे जैसा ही है, तो ऐसे भावका हमें निषेध करना चाहिये.

आपको एक मज़ेदार बात बताऊं. जब पहली बार ईस्ट् इन्डीज़के डच् लोग (इन्डोनेशियाके) टापूपर अपना पानीका जहाज ले कर गये. वहांके आदिवासियोंने उनका भव्य स्वागत किया. उनकी ऐसी धारणा थी कि देवता पश्चिम दिशासे पानीके रास्तेसे आयेंगे. उन्होंने उन्हें अपना देवता मान लिया और उनके आगे आत्मसमर्पण कर दिया. उससे पहले उन्होंने गोरे लोग भी नहीं देखे थे. डच लोगोंने भी उनका ऐसा व्यवहार देख कर उन्हें अपने जहाजपर बुला कर खूब खिलाया. वहां उन आदिवासियोंने एक शीशा देखा. उनके लिए

यह बहुत आश्चर्यकी वस्तु थी कि जिसमें अपना प्रतिबिंब देखा जा सकता हो. वह उसे देख कर बहुत खुश हुए. हुआ यह कि रातको उन आदिवासियोंमेंसे एक लड़केने उस शीशेको चुरानेके विचारसे उस जहाजमें प्रवेश किया. अचानक वहां उस जहाजका कॅप्टन् आ गया और उसने इसको रोकना चाहा. हाथापायीमें इस लड़केके हाथसे चक्कू चल गया और वह कॅप्टन् वहीं मर गया. उस लड़केने जा कर अपने कबीलेमें यह बात बतायी कि वे लोग कोई देवता नहीं हैं. उन्हींकी तरह साधारण मनुष्य है जो मरते हैं. इतना सुनते सब आदिवासी वहां आये और उन्होंने सभीको मार दिया और खा गये. **अन्यथाभानन्तु बुद्धिदोषाद् अन्येषाम्** उन्हें भी डच लोगोंके बारेमें बुद्धि-दोषके कारण अन्यथा-भान हो गया था कि ये देवता हैं. वह बुद्धि-दोष निवृत हो गया तो बादमें समझ गये कि ये तो साधारण मनुष्य हैं.

ऐसे ही भगवान्के बारेमें भी हममें ऐसे बुद्धि-दोषके कारण अन्यथा भाव आ सकता है कि यह तो मेरे जैसा ही है. **भक्तानान्तु तद् आनन्दरूपमेव, अन्यथा रुचिः न स्यात्** कहते हैं कि भक्तोंको ऐसा नहीं होता कि घड़ीमें धूप और घड़ीमें छांव क्योंकि भक्तोंमें प्रेम होता है और इसी कारण उन्हें भगवान्में सदा आनन्द ही दिखलायी देता है॥३१॥

श्लोक :

**परं प्रधानं पुरुषं महान्तम्**
**कालं कविं त्रिवृतं लोकपालम्॥**
**आत्मानुभूत्या अनुगतप्रपञ्चम्**
**स्वच्छन्दशक्तिं कपिलं प्रपद्ये॥३३॥**

अनुवाद : **अतः पर प्रधान पुरुष महत् काल ब्रह्मा त्रिगुणात्मक अहंकार लोकपालक देवताओं स्वयंकी अनुभूतिमें ही प्रपंचको भी**

अनुभव करनेवाले कर्तुम् अकर्तुम् अन्यथाकर्तुं सर्वरूपसमर्थ कपिल आश्रयणीय हैं।।३३।।

सुबोधिनी : भगवतः फलरूपत्वं फलसाधकत्वं च उपपाद्य सर्वरूपत्वम् उपपादयति ब्रह्मत्वाय परम् इति. सर्वरूपं कपिलं प्रपद्ये. तानि रूपाणि गणयति परम् अक्षरं, प्रधानं प्रकृतिः, पुरुषः तद् अधिष्ठाता, महान् मुख्यः पुत्रः, कालो गुणक्षोभकः, कविः महतो अभिमानी, मूलब्रह्मा सूत्रात्मको वा, त्रिवृद् अहङ्कारः, लोकपालाः सर्वएव देवाः. एवं कारणरूपत्वम् उक्त्वा कार्यरूपत्वम् आह आत्मानुभूत्या इति. अनुगतः स्वस्मिन् लीनः, स्थितः, उत्पन्नो वा प्रपञ्चो यस्य. ज्ञानशक्त्याऽपि उत्पत्तिपक्षे उत्पत्तिः, अन्यथातु प्रलयः. ततश्च प्रपञ्चरूपो निष्प्रपञ्चरूपः च कपिलः उक्तो भवति. तथात्वे सामर्थ्यं स्वच्छन्दशक्तिम् इति स्वेच्छावशवर्तिनी तस्य शक्तिः।।३३।।

अनुवाद : भगवान् केवल फलरूप और फलसाधक ही नहीं पर सर्वरूप होते है. उसका उपपादन यहां 'पर' = सर्वरूप भगवान् कपिलके शरणकी बात कर रहे हैं. सर्वरूप भगवान् कपिल आश्रयणीय हैं. उनके रूप गिनाते हैं : **परं** अक्षररूप, **प्रधान** त्रिगुणात्मिका प्रकृति **पुरुष** प्रकृतिका अधिष्ठाता, **महान्** प्रकृति-पुरुषका प्रमुख पुत्र, **काल** प्रकृतिके गुणोंमें क्षोभ पैदा करनेवाला तत्त्व, **कवि** महत् तत्त्वका अभिमानी मूल ब्रह्मा अथवा सूत्रात्मक प्राण, **त्रिवृद्** अहंकार, **लोकपाल** सृष्टिसंचालक विविध देवता. ऐसे भगवान् कपिलकी कारणरूपता निरूपित करनेके बाद अब कार्यरूपता निरूपित करनेके लिये कहते हैं 'जिसकी आत्मानुभूति'में यह प्रपंच खुदमें लीन स्थित और उत्पन्न होता अनुभूत होता हो. ब्रह्मवादके अन्तर्गत उपपत्तिपक्ष और उत्पत्तिपक्ष, ऐसी दोनों प्रक्रिया स्वीकारी है. उनमेंसे (क्रियाशक्ति ज्ञानशक्ति और आनन्दशक्ति तीनों शक्तियोंमें) ज्ञानशक्तिद्वारा उत्पत्तिपक्षकी प्रक्रिया मान्य रखके यहां उत्पत्तिपक्ष वर्णित किया है. अन्यथा सृष्टिमें उत्पन्न पदार्थों ज्ञानशक्तिद्वारा तो ब्राह्मिक एकत्वमें लीन होंगे ऐसे कोई विचार करेगा. अतः कपिल

रूपी भगवान् भी सप्रपंच और निष्प्रपंच दोनों रूपोंवाले हो सकते हैं. 'स्वच्छन्दशक्ति' अर्थात् सभी शक्तियाँ उनकी इच्छाके अधीन है ऐसा दरसाया॥३३॥

विवेचन : भगवान्के सर्वरूपोंकी गणना यहां की गयी है. वे अक्षर हैं, 'प्रधान' प्रकृति है, उसमें(प्रकृतिमें) स्थित 'पुरुष' है, 'महान्' प्रकृति-पुरुषका प्रमुख पुत्र है, 'काल' प्रकृतिके गुणोंमें क्षोभ पैदा करनेवाला तत्त्व है, 'कवि' महत्तत्त्वके अभिमानी मूल ब्रह्मा अथवा सूत्रात्मक प्राण है, 'त्रिवृद्' अहंकाररूप है, 'लोकपाल' सृष्टिसंचालक सर्वदेवरूप है, कारण और कार्य रूप भी वह ही हैं. ऐसे भगवान् अपनी आत्मानुभूतिसे प्रपञ्चमें प्रकट हुए हैं. अपनी ज्ञानशक्तिसे उत्पत्ति पक्षमें उत्पत्ति, अन्यथा प्रलय करते हैं. भगवान् प्रपञ्चरूप होते हुए भी निष्प्रपञ्च हैं. बिल्कुल वर्च्युअल् रियलिटी जैसा है. वे तुम्हारा रूप होते हुए भी तुम नहीं हो. ऐसे भगवान् उनके यहां कपिलके रूपमें प्रकट हुए हैं॥३३॥

**(सांख्यद्वारा आत्मदर्शनकी प्रक्रिया)**

श्लोक :

**एतद् मे जन्म लोके अस्मिन् मुमुक्षूणां दुराशयात्॥**
**प्रसंख्यानाय तत्त्वानां सम्मताय आत्मदर्शने॥३६॥**

अनुवाद : **जो लोग मोक्षप्राप्त करनेकी इच्छावाले हो उनको दुराशयके संघातसे मुक्त होके आत्मदर्शनमें उपयोगी सम्मत प्रक्रिया तत्त्वोंके प्रसंख्यानकी है.॥३६॥**

सुबोधिनी : **प्रयोजनमपि पूर्वोक्तमेव इति तद् आह द्वाभ्यां एतद् मे इति. एतद् मे इति. मे एतद् जन्म दुराशयाद् मुमुक्षूणाम् अर्थे. आशयः संघातात्मा, सः चेद् दुष्टः, तदा आत्मानं नाशयति. अतः एवं भावाद् उत्क्रमिष्यतः प्राणिनः उद्धारार्थं तत्त्वानां सङ्ख्यानं कर्तव्यम्. साक्षादपि**

हि दृश्यमानाः अत्यन्तासङ्कीर्णाः स्थाण्वादयो वक्रकोटरादिभिः पुरुषादिभ्यो विविच्यन्ते, नतु अन्यथा; किं पुनः अतीन्द्रियाः मिथो मिश्रीभूताः काल-आकाशादयः. अतएव तेषां तत्त्वानां प्रसङ्ख्यानं कर्तव्यम् उद्देशलक्षणाभ्याम्. तस्याऽपि प्रयोजनम् आत्मदर्शने. निमित्ते सप्तमी. आत्मज्ञानार्थं तत्त्वानामपि सङ्ख्यानं कर्तव्यम्, अन्यथा संघाते पतितः आत्मा न तेभ्यो विवेकम् अर्हति. नच अद्वयात्मज्ञानप्रतिपादकश्रुतिविरोधः, विद्यमाने हि भेदव्यवहारे साङ्ख्यप्रवृत्तिः. नहि स्वभावतो यादृशं जगद् अनिर्द्धारितम् आत्मज्ञाने उपयुज्यते, उद्देश्यापरिज्ञानद्वारा आत्मज्ञानार्थम् इति तत्त्वविदः. इतरभिन्नतया आत्मज्ञानार्थम् इति अन्ये. तेषान्तु स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां परलोकेप्सूनां श्रुतिश्रवणाभावाद् वेदविरोधो न आशङ्कनीयः. तेषां संघातजनित-दोषरूपाहङ्काराभावएव फलम्. अतः तादृशधर्मोपचितकालान्तरोत्पन्नब्राह्मणदेहे पुनः श्रुत्यनुसारेण आत्मविचारो भविष्यतीति न किञ्चिद् अनुपपन्नम्. अतएव प्रसङ्ख्यानम् आत्मदर्शने सम्मतम्. नहि आत्मविदः साङ्ख्ये विप्रतिपद्यन्ते ॥३६॥

अनुवाद : जन्मका प्रयोजन भी पहले कहा था वही इस दो श्लोकोंसे कहते हैं. मेरा यह जन्म मोक्षार्थिओंके दुराशयरूप देहादिसंघातसे मुक्तिप्रदान करनेके लिये है. संघात रूपी आशय ही यदि दुष्ट हो तो वह आत्मविनाशक हो जाता है. ऐसे आशयसे उत्क्रान्ति प्राप्तिकी इच्छावाले प्राणिओंके उद्धारके लिये तत्त्वोंका प्रसंख्यान आवश्यक होता है. यद्यपि प्रत्यक्ष दीखता ठूंठ आदि, तिरछे या खोखले भागके कारण या पुरुषसे अलग ही दीखते होनेसे भिन्नतया समझमें आ जाते हैं, अन्यथा तो नहीं. पर यदि कोई इन्द्रियातीत पदार्थ एक-दूसरेके साथ मिल गये हों जैसे काल-आकाश, उनको एक-दूसरेसे अलग करना सरल नहीं होता. अतः तत्त्वोंको भिन्न-भिन्न संज्ञाओंको और लक्षणोंके आधारपर जान लेना जरूरी है. इस तत्त्वोंको पृथक् करनेका प्रयोजन आत्मदर्शनको सुकर बनाना है. आत्माको अलग करनेके लिये अनात्मभूत तत्त्वोंकी जानकारी आवश्यक होती है. नहीं तो देहादिके संघातमें कैद आत्माको

देहादि संघातसे अलग नहीं किया जा सकता. ऐसा करनेसे आत्माका अद्वैत प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिवचनोंसे विरोध उपस्थित नहीं हो पाता. क्योंकि जो भेदव्यवहार है उसको उद्देश्य बना करके सांख्यशास्त्र प्रवृत्त हुआ है. स्वरूपनिर्धारणके बिना स्वभावसिद्ध जगत् जैसा अनुभूत है वह कभी भी आत्मज्ञानमें उपकारक हो नहीं पाता. बाह्यदेशमें इदंकारसे निर्दिष्ट जगत्को आभ्यन्तर ऐतदात्म्याकारके रूपमें जानना तत्त्वविद जरूरी मानते हैं. अन्य कहते हैं कि सभी पदार्थोंसे आत्माको भिन्न जानना मुक्तिके लिये जरूरी है. उनके मतमें श्रौतसाधनामें अनधिकारी ऐसे स्त्री-शूद्र आदिको ज्ञानसे मोक्षप्राप्ति करानेवाले शास्त्रमें श्रुतिविरोधकी आशंका नहीं कर सकते. क्योंकि देहादि संघातसे युक्त आत्मामें देहादि संघातके दोषोंकी अनुभूति न हो वही उनके लिये फलरूप माने हैं. अतः उस प्रकारके धर्मोंवाला काल जब आता है तब योग्य ब्राह्मण शरीरमें फिर श्रुतिवचनोंके आधारसे आत्मविचार शक्य हो सकता है. कुछ भी अनुपपन्न नहीं है. अतः तत्त्वोंका प्रसंख्यान आत्मज्ञानके लिये मान्य रखा गया है. अतएव आत्मविदोंको सांख्यके लिये मतभेद नहीं हैं॥३६॥

विवेचन : **एतद् मे इति. मे एतद् जन्म दुराशयाद् मुमुक्षूणाम् अर्थे.** यह मेरा जन्म है. लोकमें जो मुमुक्षू हैं अर्थात् जो मुक्तिकी कामना तो करते हैं पर जिनको किसी दुराशयके कारण मुक्ति नहीं मिलती है. जैसे हमें मुक्ति मिलनेकी इच्छा तो है पर मनमेंसे दुराशय जाता नहीं हैं, तो भगवान् प्रकट हो कर सबसे पहले यह करते हैं कि मुमुक्षूओंके हृदयसे दुराशय मिटाते हैं. गर्भसे स्वयं प्रकट हो रहे हैं और बुद्धिसे दुराशय हटा रहे हैं. वह किस प्रकार **तत्त्वानां प्रसंख्यानं** सभी तत्त्वोंको पृथक् करनेसे जीवको अपना आत्मदर्शन होगा क्योंकि प्रकृतिके विभिन्न तत्त्वोंके संघातके कारण कौनसा तत्त्व कहां है, हमें इसका पता नहीं चलता. कहां आत्मा है, कहां देह है, कहां बुद्धि है, कहां इन्द्रिय है, कहां पृथ्वी है, कहां तेज

है, कहां जल है, कहां वायु है, कहां आकाश है, यह कुछ भी हमको पता नहीं चलता. पर जैसे हम रक्तका विश्लेषण करते हैं और पता लगाते हैं कि रक्त इन-इन तत्त्वोंसे बना है. पर यदि हम रक्तको देखें तो कुछ पता नहीं चलता. उसी प्रकार तत्त्वसंख्यान करके, उनकी गणना करके, तुम्हारे स्वरूपका ज्ञान करा कर, तुम्हारे दुराशयोंको दूर करनेवाला यह अवतार है. **आशयः संघातात्मा** 'आशय' मानें संघात. सभीका संघात हो जानेसे अपने आशय दुराशय हो जाते हैं. इसलिए हम किसी वस्तुको कहां ढूंढे? संघात होनेके कारण यह हमें पता ही नहीं चलता है. सभी कुछ घुलमिल गया है. **सः चेद् दुष्टः, तदा आत्मानं नाशयति** और यदि आशय दुष्ट हो तो वह आत्माका नाश करता है.

**अतः एवं भावाद् उत्क्रमिष्यतः प्राणिनः उद्धारार्थं तत्त्वानां सङ्ख्यानं कर्तव्यम्.** इस कारण ऐसे दुराशयी भावोंको काटने और प्राणीयोंके उद्धारके लिए तत्त्वकी संख्याओंकी गणना की जानी चाहिये कि जिससे उन्हें पृथक किया जा सके. और यह पता लगाया जा सके कि किस तत्त्वके कारण हृदयमें दुराशय उत्पन्न हुआ है. यह जाननेसे उस रोगका उपचार किया जा सकेगा, यही सांख्य शास्त्रका उद्देश्य है. **अत्यन्तासङ्कीर्णाः स्थाण्वादयो वक्रकोटरादिभिः पुरुषादिभ्यो विविच्यन्ते नतु अन्यथा किं पुनः अतीन्द्रियाः मिथो मिश्रीभूताः कालाकाशादयः.** प्रश्न यह है कि 'अत्यंत संकीर्ण' मानें इस तरहके घुले-मिले रास्तोंसे जो कि वक्र है, नीचे-ऊंचे है, पुरुषको किस प्रकार पृथक किया जा सकेगा! 'अतीन्द्रिय' मानें काल कर्म स्वभाव पंचतत्त्व यहां इस तरह मिश्रित हो गये हैं कि कुछ पता ही नहीं चलता.

**अतएव तेषां तत्त्वानां प्रसङ्ख्यानं कर्तव्यम् उद्देश-लक्षणाभ्यां तस्यापि प्रयोजनम् आत्मदर्शने.** इसी कारण इन तत्त्वोंकी गणना की जा रही है और अंततः इससे आत्मदर्शन हो सकेगा. यह पता क्यों नहीं

चलता, इसका एक उदाहरण देता हूं. मिट्टीका घड़ा कितनी चीजोंसे बना है? ऊपरी तौरपर हमें लगेगा कि केवल मिट्टीसे. पर थोड़ी पैनी दृष्टिसे देखें तो पता चलता है कि उसमें जलका अग्निका वायुका तेजका उपयोग भी हुआ है और आकाशके मानें स्पेसके बिना तो उसका अस्तित्व ही नहीं है. आकाशके बिना तो पानी ठंडा ही नहीं होगा. इस प्रकार उसमें पांचो तत्त्व होते हैं पर दिखलायी हमें केवल मिट्टी ही देती है. संघातकी प्रक्रियामें यह समस्या खड़ी हो जाती है. इसी प्रकार देहमें हमें पंचतत्त्व दिखलायी नहीं देते हैं, केवल मांस रुधिर आदि दिखायी देते हैं. पर निश्चित ही यह तत्त्व हमारे देहकी रचनाके कारण है. जो भी तत्त्व पंचतत्त्वोंमें हैं वे हमारी देहमें हैं पर दिखते नहीं हैं क्योंकि मिश्रित हो गये हैं. इसलिए जब-तक हम इसके तत्त्वोंका संख्यान नहीं करेंगे तब-तक हमें पता ही नहीं चलेगा कि यह बना किससे है! जैसे पॅथॉलॉजीमें जा कर ही हमको पता चलता है कि हमारे रक्तमें कौनसे तत्त्व है और उनमें क्या कमी है. उसी प्रकार तत्त्वोंका प्रसंख्यान करनेका शास्त्र सांख्य-शास्त्र है. **उद्देशलक्षणाभ्याम्** यह तत्त्वोंकी गणना करनेकी प्रक्रिया होगी, उनके उद्देश्य और लक्षण को ध्यानमें रख कर. 'उद्देश्य' मानें कॅटेगोरिकली उसका नाम बताना और 'लक्षण' मानें उसकी परिभाषा बताना. वस्तुके निरूपणकी यही प्रक्रिया है. और इसका प्रयोजन कहते हैं कि **आत्मदर्शने**. प्रत्येक वस्तुको उसके उद्देश्य और लक्षण से जब हम समझ जायेंगे तो अपनी आत्माको उनसे पृथक् करनेमें हमें आसानी होगी.

**निमित्ते सप्तमी आत्मज्ञानार्थं तत्त्वानामपि सङ्ख्यानं कर्तव्यम् अन्यथा संघाते पतितः आत्मा न तेभ्यो विवेकम् अर्हति.** क्योंकि संघातमें फंसी हुयी आत्मा उन पंचतत्त्वोंसे पृथक् दिखायी ही नहीं देती. इसलिए जब तत्त्वोंको गिन लेंगे और समझ लेंगे कि इनमेंसे कोई भी तत्त्व आत्मा नहीं हो सकता तो आत्माको पृथक् कर समझनेमें आसानी

होगी **नच अद्वयात्मज्ञानप्रतिपादकश्रुतिविरोधः** कहते हैं कि उपनिषद् वस्तुओंके भेदको किस प्रकार 'एक' करके देखना, यह समझाता है और सांख्य जहां भी एक हो उसको भागोंमें बांट कर उनका विश्लेषण किस प्रकार करना यह समझाता है. इस प्रकार उपनिषद् सिन्थेसिस् प्रक्रियासे समझाता है और सांख्य ॲनेलॅटिकल् प्रक्रियासे उसी बातको समझाता है. बात वही की वही है. इस प्रकार उपनिषद् और सांख्य एक-दूसरेके विरोधी नहीं हैं. **विद्यमाने हि भेदव्यवहारे साङ्ख्यप्रवृत्तिः**. यदि आपमें भेदव्यवहार चलता हो तो आपको पहले सांख्य समझना चाहिये **नहि स्वभावतो यादृशं जगद् अनिर्द्धारितम् आत्मज्ञाने उपयुज्यते, उद्देश्यापरिज्ञानद्वारा आत्मज्ञानार्थम् इति तत्त्वविदः**. यदि तुम जगत्को ही नहीं समझे तो जगत्से भिन्न आत्माको किस प्रकार समझोगे! इसलिए उस सांख्य उपदेशके द्वारा यह तत्त्वज्ञान हो और आपको आत्मदर्शन हो, यह इसका उद्देश्य है. **इतरभिन्नतया आत्मज्ञानार्थम् इति अन्ये. तेषान्तु स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां परलोकेप्सूनां श्रुतिश्रवणाभावाद् वेदविरोधो न आशङ्कनीयः**. आपको पुराने समयकी बात कह रहा हूं. सतयुगमें आश्रम थे पर वर्ण नहीं थे. सभी एक ही वर्णके थे. बादमें स्पेश्यिलाइज़ेशन् हुआ. जैसे पहले एक ही डॉक्टर् आंखका भी था, हृदयका भी था, किडनीका भी था. स्पेश्यिलाइज़ेशन् होनेके बाद आंखका डॉक्टर् कानका नहीं रहा, कानका डॉक्टर् गलेका नहीं रहा, हृदयका डॉक्टर् ब्रेन्का नहीं रहा, ब्रेन्का डॉक्टर् हड्डीका नहीं रहा. इस तरह सारे डॉक्टर् अलग-अलग हो गये.

मेरी आंखमें देखनेमें समस्या आ रही थी. मैं हॉस्पिटल्में डॉक्टर्को दिखाने गया. एक घंटा तो मैं लाइन्में बैठा रहा. जब नम्बर् आया तो डॉक्टर्ने कहा कि आपकी आंखमें जो तकलीफ है, उसका डॉक्टर् मैं नहीं हूं. आपको दूसरे डॉक्टर्को दिखाना होगा. अरे, पहले बताया होता तो मेरा एक घंटा तो नहीं बिगड़ता! स्पेश्यिलाइज़ेशन्के समयमें आंखके डॉक्टर्में भी ऐसे प्रभेद है. इसके बाद मैं चेन्नईमें शंकर

नेत्रालयमें दिखाने गया. वहां मुझे ढाई घंटा बैठना पड़ा. नम्बर् आने पर डॉक्टर्ने कहा ''महाराज आपकी आंखमें जो समस्या है वह तो मुझे भी है.'' मैंने उससे पूछा ''आप क्या करते हो.'' वह बोला ''नारियलका तेल लगाता हूं, आप भी लगाया करो.'' स्पेश्यिलाइज़ेशन्के जमानेमें यह सारी तकलीफें आती हैं. अपने भारतमें भी जबसे यह स्पेश्यिलाइज़ेशन्का जमाना आया कि कोई स्पेश्यिल् ब्राह्मण हो गया, कोई स्पेश्यिल् क्षत्रिय हो गया, कोई स्पेश्यिल् बनिया हो गया, कोई स्पेश्यिल् शूद्र हो गया. उसके बाद झगड़ा शुरू हो गया. त्रेतायुगमें वर्ण बने, यह द्वापर तक चले. द्वापरका अंत आते-आते इनका( वर्णका ) अंत हो गया था. युधिष्ठिर कहते हैं कि **''जातिः अत्र महासर्प! मनुष्यत्वे महामते! संकरात् सर्ववर्णानां दुष्परीक्ष्या इति मे मतिः''** ( महाभा.३।१७७।२६ ) ''इस समयमें जाति जैसा कुछ रहा नहीं है. सभी कुछ घुलमिल गया है. कोई भी किसीसे भी विवाह कर रहा है.'' यह तो पांच हजार साल पहलेकी कथा है. आज रस्सी तो जल गयी है पर एठन नहीं गयी. सभीको यह अभिमान है कि मैं ब्राह्मण वैश्य क्षत्रिय शूद्र हूं. यह सब तो पांच हजार साल पहले समाप्त हो चुका है पर झगड़ा रह गया है. *''वह अपनी याद दिलानेको रूमाल पुराना छोड़ गये''* झगड़े तो चालू ही हैं. सब एक-दूसरेको गाली दे रहे हैं. हमारे यहां भी ऐसे ही झगड़े है. हम लोग वेल्लनाडु हैं. हमारी ही जातिमें मुर्किनाडु और नियोगी हैं. नियोगी हमें नीचा समझते हैं. हम नियोगीयोंको नीचा समझते हैं. मुर्किनाडु कभी नियोगीमें घुस जाते हैं तो कभी हममें. इस तरह झगड़े चालू ही रहते हैं. यह सब झगड़े कहांसे पैदा हुए, यह पता ही नहीं चलता. पर पैदा हो गये क्योंकि सब घुल-मिल गये हैं.

उस समयमें स्त्री-शूद्र सभीको यज्ञोपवीत दिया जाता था क्योंकि वर्णव्यवस्था थी ही नहीं. वर्णव्यवस्था आनेपर स्त्रियोंको शूद्रोंको यज्ञोपवीत

देना बंद कर दिया गया. कारण यह था कि ये लोग काम करते थे. यज्ञोपवीत केवल पढ़नेवालोंके लिए आवश्यक माना गया. इसलिए इनको यज्ञोपवीत न देनेकी प्रथा प्रारंभ हुयी. यज्ञोपवीत मूलमें वेदाध्ययनके लिए आपका ॲडमिशन् है. जो पढ़ेगा ही नहीं उसे जनेउ पहननेकी आवश्यकता ही नहीं है. 'उपनयनम्' मानें किसीके पास ले जाना, मानें पढ़नेका जो स्थान है उस तरफ ले जाना. इसीलिए उपनयन संस्कार होता था. जब काम ही करना है तो इस संस्कारकी आवश्यकता क्या है? आज-कल कितनी लड़कियोंको यह पीड़ा सताती है कि जब अंतमें रोटी ही पकानी है तो पढ़नेकी आवश्यकता क्या है!

मेरा एक चचेरा भाई था. जब मैं छोटा था तब वह मुझे जयपुरमें एक बार मिला. उसने मुझसे पूछा कि क्या करते हो?'' मैंने कहा ''पढ़ रहा हूं.'' उसने ऐसा ब्रह्म-वाक्य कहा ''पठितव्यं तदपि मर्तव्यं, न पठितं तदपि मर्तव्यं, पठित्वा कुतो मर्तव्यं'' पढ़ोगे तो भी मरोगे और नहीं पढ़ोगे तो भी मरोगे तो पढ़ कर ही क्यों मरना? मस्त रहो. इसलिए वह पढ़ा ही नहीं. हम दोनों एक ही स्थानपर उतरे थे. शामको वहांके वैष्णवोंने मेरा प्रवचन रखा था. अब मैं तो उसकी बात सुन कर ही नर्वस् हो गया था. मैंने उससे कहा कि ''अब मरना ही है तो प्रवचन करके फायदा क्या!'' उसने कहा ''चिंता मत करो रखो प्रवचन.'' वहां सुननेके लिए एक जज् भी आया था. उसने बोलना प्रारंभ किया ''मैं जिस गांवमें जाता हूं, सब कहते हैं प्रवचन करो पर बताओ कि मैं प्रवचन करूंगा तो तुम्हें समझ क्या आयेगा?'' ऐसा कहते-कहते ही वह इस बातपर एक घंटा बोला. एक बहुत मजेदार उदाहरण भी उसने दिया. बोला ''एक कथावाचक कथा कर रहा था. वहां बैठी एक डोकरी रो रही थी. उस कथा वाचकने समझा कि कथाका कुछ अधिक ही असर हो रहा है तो उसने पूछा ''मांजी, आप रो क्यों रही हैं'' वह डोकरी बोली ''मेरे घरमें एक पाड़ा था

वह बोल-बोल कर मर गया. तो तुम भी बोल-बोल कर मर जाओगे. यह जान कर मैं रो रही हूं.'' इस विषयपर वह एक घंटा बोला. मैंने भी सोचा कि अद्‌भुत सामर्थ्य है कि बिना पढ़े एक घंटा बोल गये. कुछ दिन बाद उसीका लुहानावाड़ीमें भी प्रवचन था वहां भी वही बात. उनको वह रटा हुआ था. तब तो मैं समझ गया.

अब स्त्री-शूद्र पढ़ नहीं रहे हैं तो उन्हें मुक्तिका अधिकार है कि नहीं, यह प्रश्न था. अब जो वेद ही नहीं पढ़ा है तो उसमें वर्णित मुक्तिका अधिकार उसे कैसे मिल सकता है! पर कपिल ऋषिने कहा कि चाहे वेद न पढ़नेके कारण तुम्हें मुक्ति न मिले पर सांख्य तुम्हें मुक्तिका अधिकार प्रदान करेगा. भगवान्‌ने कपिल अवतार ले कर एक ऐसा मार्ग दिखाया कि जिसको वेद पढ़नेका अधिकार नहीं था उसके लिए भी मुक्तिका मार्ग उन्होंने प्रशस्त किया. यह कपिल ऋषिका ऋण हम कभी चुका नहीं पायेंगे. कितना बड़ा काम उन्होंने किया था! यही बात महाप्रभुजी कह रहे हैं कि **तेषान्तु स्त्री-शूद्र-द्विजबन्धूनां परलोकेप्सूनां श्रुतिश्रवणाभावाद् वेदविरोधो न आशङ्कनीयः**. स्त्री-शूद्रोंको भी मुक्तिकी कामना तो होगी ही पर उन्हें श्रुति-श्रवणका अधिकार तो है नहीं. तो वेद-विरोध कहांसे होगा, फिर यह होगा किस प्रकार? **तेषां संघातजनित-दोषरूपाहङ्काराभावएव फलम्**. उपनिषद् पढ़नेवालोंको तो आत्मज्ञानसे सबकुछ 'एक' ही दिखलायी देगा और जो उपनिषद् नहीं पढ़ सकते हैं उन्हें आत्मज्ञान सांख्यके द्वारा यह जाननेसे होगा कि आत्मासे पृथक् क्या क्या वस्तुएं हैं. आत्मज्ञान तो दोनों तरह संभव है. आत्मज्ञानसे मुक्ति तो सभीको उपलब्ध है. संघातरूप जो दोष अपनेमें है; जिसके कारण सब मिश्रित हो गया है, वह निवृत्त हो जायेगा और आत्मज्ञान प्राप्त होगा. **अतः तादृशधर्मोपचित-कालान्तरोत्पन्न-ब्राह्मणदेहे पुनः श्रुत्यनुसारेण आत्मविचारो भविष्यतीति न किञ्चिद् अनुपपन्नम्**. इसके पश्चात् जब

ब्राह्मणदेह मिलेगा तो आत्मज्ञान उपनिषद्-अध्ययनसे भी हो सकेगा. **अतएव प्रसङ्ख्यानम् आत्मदर्शने सम्मतम्. नहि आत्मविदः साङ्ख्ये विप्रतिपद्यन्ते** अतएव जो आत्मज्ञानी है उसे कभी भी सांख्यसे आपत्ति आ नहीं सकती. जो आत्माको न मानता हो उसे आपत्ति हो सकती है पर जो मानता हो उसे आत्मज्ञान दोनों तरहसे हो सकता है॥३६॥

श्लोक :

**एष आत्मपथो अव्यक्तो नष्टः कालेन भूयसा।**
**तं प्रवर्तयितुं देहम् इमं विद्धि मया भृतम्॥३७॥**

अनुवाद : **बहुत समयसे यह आत्मदर्शनका मार्ग क्षीण हो कर नष्टप्राय हो गया था, इसे पुनः प्रवर्तित करनेके लिए ही मुझे अवतार ग्रहण करना पड़ा॥३७॥**

सुबोधिनी : **ननु इदं प्रसङ्ख्यानम् आधुनिकं चेत् कृतम् अनेन. अथ परम्परागतं कृतम् अवतारेण इति आशङ्क्य आह एषः इति. अयम् अनादिसिद्धएव आत्ममार्गः. भूयसा कालेन क्षीयमाणो नष्टः पश्चाद् अव्यक्तो लोके क्वापि अप्रकटः. पुराणानां कृशरतया निरूपकत्वाद् न व्यक्तिः. सर्वथा अव्यक्तौ तज्ज्ञातृणां स्मृतिसंस्कारनाशाद् नाशः. तं पुनः प्रवर्तयितुं सर्वेषाम् उद्धारार्थम् इमं देहं मया भृतं विद्धि॥३७॥**

अनुवाद : अब यहां संदेह होता है कि यदि तत्त्वोंका प्रसंख्यान नूतनतया कल्पित हो तो कैसे विश्वास होगा और यदि परम्परागत ही हो तो भगवान्को अवतार लेनेकी आवश्यकता नहीं थी, उसका निराकरण करते हैं. यद्यपि आत्मदर्शनका यह मार्ग तो अनादिकालसे ही सिद्ध था फिर भी बहुत समयसे धीरे-धीरे क्षीण होते-होते लोकमें कहीं भी प्रकट न रहनेके कारण, तदुपरान्त, और पुराणोमें निरूपण होनेके बावजूद उनमें अनेक विषयोंका साथमें निरूपण होनेसे सांख्यसिद्धान्त

वहां सुस्पष्ट होता नहीं है. अतः सब तरहसे अप्रकट रहनेके कारण उनके तत्त्ववेत्ताओंके भी स्मृतिसंस्कार नष्ट हो गये. अतः सबके उद्धारके लिये पुनः तत्त्वसंख्यानका प्रवर्तन करनेके लिये मुझे कपिलशरीर धारण करके भूतलपर अवर्तीण होना पड़ा॥३७॥

**( चौबीसवे अध्यायका उपसंहार )**

बीचकी कथा मैंने छोड़ दी है क्योंकि हमको कहानीके साथ बहुत संबंध नहीं है. हमारा यहां सांख्यज्ञान और भक्ति के साथ संबंध है. महाप्रभुजीका तत्त्वविज्ञान इस कपिलगीतापर आधारित है और महाप्रभुजीका भक्तिशास्त्र भी इस कपिलजीके सांख्यपर ही आधारित है. इसलिए पच्चीस और छब्बीस यह दो अध्याय मैंने लिए हैं. जिससे महाप्रभुजीका सिद्धांत क्या है यह भली प्रकार हमें समझ आ सके. महाप्रभुजी भी भक्तिमें स्त्री-शूद्र सभीका अधिकार मानते हैं **''किरात-हूणा-ऽऽन्ध्र-पुलिन्द-पुलकसाः''** ( भाग.पुरा.२।४।१८ ) यह ब्राह्मणकी अथवा जनेऊ धारियोंकी ही मोनोपॉली नहीं है. भक्तिका अधिकार सभीको है. वेदका अधिकार नहीं मिलता हो तो न मिले. उससे फर्क क्या पड़ा, बात तो वहीकी वही है. भक्तिसे भी हमको लाभ तो वही होना है जो कि वेदके ब्रह्मज्ञानसे होगा. सांख्यज्ञानसे भी वही लाभ होगा. इसलिए सांख्यकी जो श्रेणी है वह महाप्रभुजीका वैचारिक शास्त्र है और कपिलने जो भक्तिका स्वरूप समझाया है वह महाप्रभुजीने षोडशग्रंथमें सम्मिलित किया है. सर्वनिर्णयमें जो महाप्रभुजीने लिखा है वह सब यहींसे लिया गया है.

**प्रश्न :** आपने जो कहा कि संघातसे सभी तत्त्व मिश्रित हो गये वह कैसे ?

**उत्तर :** एक बार किशनगढ़में मुझे बुखार आ गया. मैंने किसी डॉक्टर्को बुलानेको कहा. वहां पहले एक ही डाक्टर् था, जो मर गया था. उसका दवाखाना उसीका कम्पाउंडर् चला रहा था. वह आया और बोला ''आपको निमोनिया टाइफॉइड् या मलेरिया कुछ

भी हो सकता है.'' इस कारण उसने तीनोंकी दवाई दे दी. अब गणना न आती हो तो ऐसी घाल-मेल हो ही जाती है. मैंने उससे कहा भी कि ''तीनों बीमारी एक साथ कैसे हो सकती हैं?'' वह बोला ''हो जाती हैं कभी कभी.'' खैर, बुखार तो उतर गया पर दवाईयोंका ऐसा रिएक्शन् आया कि मेरी चमड़ी छिलकेकी तरह उतरने लगी. मुम्बई आ कर उसका इलाज तीन महीने तक चला. इस प्रकार ठीकसे गणना न आती हो तो ऐसी घाल-मेल हो जाती है. अपने शरीरमें भी यह समस्या आती है घालमेल होनेके कारण.

**प्रश्न :** भक्तिको क्या अपनी मानसिक कामना कह सकते हैं?

**उत्तर :** देखो, दो शरीरोंमें भौतिक आकर्षण होना 'सॅक्स्' कहलाता है. शरीरमें नहीं पर हृदय अथवा बुद्धि में आकर्षण होना 'प्रेम' कहलाता है और आत्मा-परमात्माके बीच आकर्षण होना 'भक्ति' कहलाती है. इन तीनोंमें भी बहुत घाल-मेल होनेके कारण हम लोग समझ ही नहीं पाते हैं कि हमें क्या अनुभव हो रहा है! इन तीनोंको पृथक् करके कैसे देखा जाये, यह गणना किये बिना कैसे हो सकेगा? जो आपकी शारीरिक कामनाएं हैं वह प्रेम तो नहीं है. वह तो सॅक्स् है. जो आपकी भावनात्मक कामनाएं हैं वे सॅक्स्की तो नहीं हो सकती, प्रेमकी हैं. पर परमात्माके लिए आत्मिक कामना 'भक्ति' कहलायेगी. संघातमें सभी कुछ मिश्रित हो गया है. इनको पृथक् नहीं करेंगे तो कैसे पता चलेगा कि है क्या? कभी हमें भक्ति सॅक्स् जैसी लगने लगती है. कभी इसका उल्टा भी होता है. कभी प्रेम सॅक्स् जैसा लगने लगता है. सभीका घालमेल हो गया है. आवश्यकता इनको पृथक् करके देख पानेकी सामर्थ्यकी है.

# ।। कपिलगीता ।।

## ( पच्चीसवे अध्यायका विवरण )

( प्रकरणसंगति तथा अध्यायार्थ )

( सुबोधिनीकारिकाः )

उक्तश् चतुर्भिर् अध्यायैः सप्रसंगो हरेर् भवः ।।
ज्ञानरूपं चरित्रन्तु नवभिः स्वस्य वर्ण्यते ।।१।।
प्रकाराः सगुणाः सर्वे नवो अध्यायाः ततो अत्र हि ।।
नवभावं गता सापि तदन्तेतु अभवो भवेत् ।।२।।
भगवद्रूपनिष्पत्तौ भक्तिः भूतानि सर्वथा ।।
मात्राः तत्त्वानि सर्वाणि भुंक्ते सर्वं यतो हरिः ।।३।।
आत्मा तस्य इन्द्रियं प्रोक्तं येन सर्वं सः पश्यति ।।
योगएव हरेः बुद्धिः तस्मात् सर्वं प्रकाशते ।।४।।
पञ्चविंशे तथा अध्याये भक्तियोगो निरूप्यते ।।
वैतृष्ण्यं तस्य च अंगं हि इतरज्ञानमेव च ।।५।।
परमं साधनं भक्तिर् यथा भवति मुक्तये ।।
यथाशास्त्रस्य कथनं सन्तो भक्तेः च साधकाः ।।६।।
वंशएव मनोः पृष्टस् तेन ज्ञानं न वर्णयेत् ।।
अतः शौनकसंप्रश्नः चरित्रत्वं च बुध्यते ।।७।।

अनुवाद : इक्कीससे चौबीस चार अध्यायोंमें श्रीहरिका जन्म और उनका प्रसंग भी वर्णित किया. अब आगे हरिका ज्ञानरूप चरित्र नौ अध्यायोंमें वर्णित किया गया है ।।१।।

सत्त्वादि तीनों गुणों परस्पर मिलके नौ होनेके कारण यहां भी नौ अध्यायों योजित हुए है. अतः प्राकृत नवविध गुणोंसे आवृत्त भगवान्की माता भी अन्तमें निर्गुणावस्था प्राप्त कर लेगी ।।२।।

भगवान्की तरह गुणातीत कोई हो जाय तो देहादिके घटक पांच महाभूतों या पांच तन्मात्राएं भी सब श्रीहरिके लिये भोग्य बन जाती

हैं॥३॥

आत्मा, उसकी इन्द्रियाँ इत्यादि जो कहा जिससे सबकुछ आत्मा देखता हो वह तो हरिका योग सिद्ध हो तब ही संभव होनेके कारण वह( आत्म ) प्रकाश सबको मिल सकता है॥४॥

इसके कारण पच्चीसवे अध्यायमें भक्तियोगका निरूपण किया गया है. ऐसे उस योगमें वैतृष्ण्य या वैराग्य और देहसे भिन्न आत्माका ज्ञान अंग बनता होनेसे वह भक्तिमें परम साधन बनके उसे मुक्तिदायिनी बना देता है. इसलिये संतपुरुष उसे शास्त्रके अनुसार समझाके भक्तिके साधक बन जाते हैं॥५-६॥

शौनक ऋषिने तो मनुके वंशके बारेमें जब प्रश्न किया था, जिसके कारण ज्ञानका वर्णन विदुरजीने नहीं किया. अतः प्रश्नके अनुरूप चरित यहां वर्णित है॥७॥

विवेचन : **उक्तश्चतुर्भिः अध्यायैः सप्रसङ्गो हरेर्भवः, ज्ञानरूपं चरित्रन्तु नवभिः स्वस्य वर्ण्यते, प्रकाराः सगुणाः सर्वे नवो अध्यायाः ततो अत्र हि, नवभावं गता सापि तदन्तेतु अभवो भवेत्''** इससे पहलेके चार अध्यायोंमें प्रसंगसहित भगवान्के प्राकट्यके बारेमें कहा गया. अब आगे नौ अध्यायोंमें उनके ज्ञानरूप चरित्रका वर्णन करते हैं. और चरित्रके प्रकार गुणकी संख्याके प्रमाणसे हैं. जैसे तीन गुणोंके नौ प्रकार बनते हैं, सात्त्विक-सात्त्विक, सात्त्विक-राजस, सात्त्विक-तामस आदि और एक प्रकार निर्गुणका. इस प्रकार दस संख्या हो तो गुणोंके सारे प्रकार आ जाते हैं. नौ हों तो प्रकृतिके सारे गुण उसमें आ जाते हैं. प्रकृतिके तीनों गुण स्वतंत्रतया काम नहीं करते हैं बल्कि वे आपसमें परस्पर संवाद करते रहते हैं. इस प्रकार वे तीन गुना तीन = नौ गुण हो जाते हैं. नव गुणात्मिका प्रकृति और निर्गुणात्मक पुरुष इस प्रकार सारी सृष्टि दस गुणात्मिका है.

नवगुणात्मिका सृष्टि नौ भवसे अपने आपको प्रकट करती है

और प्रकृतिसे पृथक् पुरुषका इसमें अभव रहता है. उसका कोई भव प्रकट नहीं होता. प्रकृतिका भव होता है. 'भव' मानें जन्म या होना. भवसे उद्भव, संभव, प्रभव आदि शब्द बने है. प्रकृतिका जो प्रकार है वह भवका प्रकार है. पुरुषका प्रकार अभवका प्रकार है. जो निरंतर परिवर्तनशील हो उसका नया-नया जन्म होता रहता है. इसीलिए वेदमें ऐसा प्रश्न पूछनेमें आता है कि ''कौन नहीं होता है?'' इसका उत्तर देते हैं कि ''सूर्य नहीं होता क्योंकि सूर्य सदा एकसा ही रहता है.'' फिर पूछते है कि ''कौन होता रहता है?'' इसके उत्तरमें कहते हैं ''चन्द्र होता रहता है क्योंकि हर दिन वह अपनी सूरत बदल देता है.'' इसीलिए आपने कभी ध्यान दिया हो तो पुष्टिमार्गकी पिछवाईयोंमें सूर्य और चन्द्र दो किनारों पर बने होते हैं. वह प्रकृति और पुरुष दोनोंको दरसाते हैं. भव और अभव दोनों दिखाये जाते हैं. भवके भी स्वामी प्रभु हैं और अभवके भी स्वामी वह ही हैं. जैसा वेदमें कहा है कि **''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैव अमूर्तञ्च मर्त्यञ्च अमृतञ्च स्थितञ्च यच्च सच्च त्यच्च''** (बृह.उप.२।३।१) **''निलयनञ्च अनिलयनञ्च निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च विज्ञानञ्च अविज्ञानञ्च सत्यञ्च अनृतञ्च सत्यम् अभवत्''** (तैत्ति.उप.२।६) **''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे''** = ब्रह्मके दो रूप हैं **''मूर्तञ्चैव अमूर्तञ्च''** = वह मूर्त भी है और अमूर्त भी **''मर्त्यञ्च अमृतञ्च''** = वह नश्वर भी है और अनश्वर भी. **''स्थितञ्च यच्च''** = वह स्थिर भी है और अस्थिर भी. **''सच्च त्यच्च''** = वह प्रकट भी है और अप्रकट भी. **''निलयनञ्च अनिलयनञ्च''** = वह किसी स्थानमें रहता भी है और नहीं भी रहता. **''निरुक्तञ्च अनिरुक्तञ्च''** = वह पारिभाषित किया भी जा सकता है और नहीं भी किया जा सकता. **''विज्ञानञ्च अविज्ञानञ्च''** = वह ज्ञान भी है और अज्ञान भी. **''सत्यञ्च अनृतञ्च''** = उसका रूप सत्य भी है और झूठ भी. देखो, एक सत् होता है और एक ऋत होता है. 'सत्' मानें जो प्रकट हो. 'त्यत्' मानें जो अप्रकट हो. सत् और त्यत् दोनोंको मिला कर सत्य बना है और

जो प्रकट भी न हो और अप्रकट भी न हो वह 'ऋत' तो हो ही सकता है. यह नहीं कहा जा सकता कि 'ऋत' पूरी तरहसे झूठ ही हो. 'ऋत' पूरे तौरपर सत्य भी नहीं है और असत्य भी नहीं है.

सही मायनेमें इंग्लिश्का 'राइट्' शब्द इसीका अनुवाद है पर अब उन्होंने उसका मूल अर्थ बदल दिया है. 'राइट्' शब्द ऋतसे ही लिया है. इसका मूल उच्चारण 'ऋट्' ही था पर बादमें उन्होंने 'जी-एच्'को मौन कर दिया. इसलिए वह हो गया राइट्. इसका विलोम है रॉन्ग् ट्रू और अनट्रू. थोड़ा अलग शेड् लिए हुए शब्द हैं. कभी-कभी ट्रू गलत हो सकता है और अनट्रू सही हो सकता है. जैसे कोई किसीके ऊपर गाड़ी चढ़ा दे तो वह ट्रू तो है पर रॉन्ग् है. आप ट्रुथ्की तुलना राइट्से नहीं कर सकते पर आज-कल इंग्लिश्का 'राइट्' शब्द वह शेड् नहीं ले रहा है जो कि 'ऋत'का है. 'अनृत'का अर्थ तो रोन्ग् ही है. आज-कल हम ऋतको रित्की तरह बोलते हैं पर इसका उच्चारण थोड़ा अलग है. 'ऋत' वॉवेल् है, कॉन्सोनॅन्ट् नहीं है. 'कॉन्सोनॅन्ट्'का अर्थ है कि जो ध्वनि किसी दूसरी ध्वनिके सहयोगसे बोली जाये, वह 'कॉन्सोनॅन्ट्' कहलाती है. 'कॉन्' मानें सहयोग और 'सोनॅन्ट्' मानें ध्वनि. जिसको संस्कृतमें 'व्यञ्जन' कहा जाता है. मानें जो किसीके सहारेसे अपने आपको व्यक्त कर पाये. 'वॉवेल्' मानें जिसको बोलनेके लिए किसी दूसरी ध्वनिका सहारा न लेना पड़े. संस्कृतमें इसे 'स्वर' कहा जाता है. 'स्वर' मानें 'स्वस्मिन् रमते'. जो अपने आपमें ही रमण करता हो; किसीके सहारेके बिना, वह स्वर है जैसे अ आ इ ई आदि. पर 'क' बोलनेमें 'अ'का सहारा लेना पड़ता है. (क्+अ=क) इसलिए वह व्यञ्जन है. इसी प्रकार 'ऋ' स्वर है. 'ररररर....' इसको बोलनेमें किसी स्वरका सहारा नहीं लेना पड़ता इसलिए यह स्वर है. इस प्रकार ब्रह्म सत्य भी है और ऋत भी.

इस तरह भवके प्रकार हुए मूर्त मर्त्य स्थित सत् निलयन निरुक्त विज्ञान सत्य और अभवके प्रकार हुए अमूर्त अमर्त्य यत् त्यत् अनिलयन अनिरुक्त अविज्ञान अनृत. इस प्रकार भव और अभव के प्रकारोंका निरूपण वेदमें इस प्रकार किया गया है॥१-२॥

**भगवद्रूपनिष्पत्तौ भक्तिः भूतानि सर्वथा मात्राः तत्त्वानि सर्वाणि भुङ्क्ते सर्वं यतो हरिः** इन उपरोक्त दस प्रकारोंसे मानें भवके नौ और अभवका एक, भगवद्रूप निष्पन्न होता है. अभवका एक जो कहा वह निर्गुणके अर्थमें कहा. ऊपर जो अभवके प्रकार बताये हैं वे नकारात्मक संबंधसे गिनाये गये हैं और जितने भवके प्रकार हैं वे सकारात्मक संबंधसे गिनाये गये हैं. जैसे मैं कहूं 'लाल' और 'लाल नहीं' तो दूसरेमें तो दुनियाका हर रंग आ गया. इसी तरह भवके प्रकार बहुत विशेष हैं. और अभवके प्रकार सर्वव्यापक हैं. भव एक सीमाको पकड़ कर चलता है पर अभव किसी सीमाको पकड़ कर नहीं चलता. यहां इस विषयमें यह बात प्रकृति और पुरुष के संबंधमें कही गयी है. प्रकृति एक सीमाको पकड़ कर चलती है और पुरुष सीमासे परे है.

आपको थोड़ा आसान करके बताता हुं. प्रकृतिके एक विषयके रूपमें यदि आप मनुष्य हो तो आप वृक्ष नहीं हो, कीड़े नहीं हो. यदि आप वृक्ष हो तो आप और कुछ नहीं हो. यदि आप पशु हो तो आप पक्षी नहीं हो. इस तरह प्रकृतिकी हर वस्तु एक विशेष सीमामें बंधी हुयी है. पर चेतना कहीं भी हो सकती है, वृक्षमें मनुष्यमें सर्पमें पक्षीमें पशुमें कहीं भी वह हो सकती है क्योंकि वह अभव है. इसीलिए तो हम कहते हैं कि आत्मा चौरासी-लाख योनिमें जन्म लेती है, देह तो नहीं लेती. वह तो जिस योनिमें है उसी योनिमें है. इस दरवाजेमेंसे हाथी नहीं आ सकता पर घोड़ा आ सकता है क्योंकि दरवाजेका भी आकार है

और हाथी घोड़े का भी. पर हवाको कौन रोक सकता है! इसी प्रकार थर्मस्में हम चाय ले जाते हैं पर थोड़ी देरमें वह ठंडी तो हो ही जाती है क्योंकि गर्मी निराकार है. निराकारके साथ आने-जानेकी कोई समस्या नहीं है. इसी प्रकार देह आकार लिए हुए है और आत्मा निराकार है. देह भव है और आत्मा अभव. हवा अनिलयन है और आसन निलयन है जैसे पहले वह दुकानमें था, उसके बाद मकानमें आ गया. उसी प्रकार हमारी आत्माका भी निलय अलग-अलग है. हमें पता भी नहीं है कि हमने कौन-कौनसी योनिकी देह धारण की है! इसी कारण नकारात्मक पदको अनंतकी संज्ञा दी जाती है और सकारात्मक पदको सीमितकी. यही प्रकृति और पुरुष का विवेक है. प्रकृति सीमित है और पुरुष असीमित, पर भगवान् इन दोनोंमें नहीं बांधा जा सकता. ऐसा कह सकते हैं कि सीमिति और असीमित यह दोनों ही भगवान्की परिधिमें आ सकते हैं.

**भगवद्रूपनिष्पत्तौ भक्तिः भूतानि सर्वथा** यदि भगवद्रूप निष्पन्न हो तभी भक्तिकी कोई संभावना बन सकती है. वही नहीं होगा तो भक्ति होनेकी कोई संभावना ही नहीं है. **मात्राः तत्त्वानि सर्वाणि भुङ्क्ते सर्वं यतो हरिः** आज हम 'शम' अथवा 'भोग' शब्दका प्रयोग करते हैं. अपनी चेतना अचेतनका भोग करती है. उदाहरणके लिए आप यदि कोई रूप देखते हो तो वह चेतन आंखके द्वारा अचेतन रूपका भोग है. आप कोई संगीत सुन रहे हो तो वह चेतन कानद्वारा अचेतन ध्वनिका भोग है. जब भी अपनी चेतना किसी अचेतन पदार्थके बारेमें जागरूक होती है तो वह 'भोग' कहलाता है. आज-कल हम लोगोंने भोगका एक सीमित अर्थ; जोकि केवल खानेके बारेमें कहा जाता है, उसमें कर दिया है. पर खानेका भी अर्थ यही है कि आप किसी अचेतन वस्तुका अपनी चेतनाके द्वारा उपभोग कर रहे हो पर एक ऐसी परिस्थिति सोचो कि कोई बीमार पड़

जाये और उसे नलियोंद्वारा फीडिंग् की जा रही है तो क्या उसे उसमें आनंद आयेगा? नहीं आयेगा. क्योंकि वह उसे भोग नहीं रहा है. शक्ति अवश्य आयेगी पर आनंद नहीं आयेगा क्योंकि भोजनके भोगमें हमने पोषकत्वके साथ स्वादका भी विचार किया है. आज ऐसा कहा जाता है कि आप जब सो रहे हों तो आपके ब्रेन्की मॅपिंग् करके आपके मस्तिष्कमें वह सारी सूचनाएं डाल सकते है. जिनके बारेमें आपको जरा भी जानकारी नहीं है पर इसमें आपको पढ़नेका आनंद नहीं आयेगा. जाननेको सब मिल जायेगा. जैसे आपको किसी पर्वतके शिखरपर सीधे हॅलिकॉप्टर्से ले जा कर डाल दिया जाये तो उसमें चढ़नेका आनंद तो नहीं आयेगा. जैसे किसी बच्चेके पेटमें सीधे ही कोई चॉकलेट् डाल दे तो क्या उसे आनंद आयेगा? चॉकलेटको धीरे-धीरे चबानेका आनंद तब आयेगा जब उसे मुंहमें रखा जायेगा. यह 'भोग' कहलाता है. 'भोग'का अर्थ है उसको अंतर्लीन करना और साथमें उसका आनंद भी लेना. अब चाहे वह सकारात्मक हो अथवा नकारात्मक हो.

इस तरह चेतना अचेतनका भोग करती है पर भगवान्के संदर्भमें यह बात थोड़ी अलग है. वह चेतन और अचेतन दोनोंका भोक्ता है. हमारी लाचारी यह है कि हम अचेतनका ही भोग करते हैं, चेतनका नहीं. आपको इन सभीसे स्वादसे रूपसे गंधसे स्पर्शसे यदि वंचित रखा जाये तो आपको अकेलापन लगेगा कि नहीं? उस समय आप अपनी चेतनाका भी आनंद नहीं ले पायेंगे. अपनी चेतनाकी लाचारी देखें. चेतना हमेशा अचेतनका ही आनंद ले सकती है. यदि आप अपनी चेतनाका आनंद ले सकनेकी आदत डाल लें तो आपको यदि दु:ख भी होगा तो आपको उसका आनंद आयेगा. हमें अपने दु:खका ही आनंद लेना नहीं आता. कोई हमें पाउडर् लगाये तो हमको आनंद आता है. वह मजा लगानेसे नहीं अपितु पाउडर्की सुगंधका आता है. यह हमारी सीमा है कि हम केवल

अचेतनका ही आनंद ले सकते हैं, चेतनका नहीं. भगवान्‌के साथ कथा कुछ और है. वह अचेतन और चेतन दोनोंका ही आनंद ले सकता है. हमें चेतना आनंददायक नहीं लगती.

एक बात समझो कि हमें सभी कुछ दिखना यदि बंद हो जाये तो नींद आनी शुरू हो जाती है. क्योंकि हमें देखनेको कुछ मिलता है तो जागनेकी इच्छा होती है. नहीं मिले तो सोनेकी इच्छा होती है. हम अपनी चेतनाको उस समय स्विच्-ऑफ् कर देना चाहते हैं. और नींद आती भी हो और कुछ देखनेको मिले तो जागनेकी इच्छा हो जाती है. आपने देखा होगा कि छोटे बालकको यदि कारमें ले जाते हैं तो वह सो जाता है. क्योंकि उसकी कोमल आंखें इतने तेजीसे सीन्‌का बदलना सहन नहीं कर सकती हैं. बड़ोंके साथ भी कभी ऐसा होता है. क्योंकि शायद वह बचपनका हँग्-ओवर् रह गया है. इतने तेजीसे सीन् बदलनेके कारण हमारी आंख थक जाती है और हमें नींद आ जाती है. पढ़ते-पढ़ते भी नींद इसी कारण आती है क्योंकि विषय तेजीसे बदल रहा होता है.

किशनगढ़में मैं एक बार छतपे गीतापर प्रवचन कर रहा था. गर्मीके दिन थे. अचानक ठंडी हवाके साथ मौसम ठंडा हो गया. ऐसेमें वहां लाइट् भी चली गयी. मैंने सोचा कि इस मौसमसे और लाइट्के जानेसे मेरे बोलने और लोगोंके सुननेमें क्यों समस्या होनी चाहिये! इसलिए मैंने प्रवचन चालू रखा. थोड़ी देर बाद लाइट् आयी तो देखा कि सब लोग सो रहे हैं. मैं अकेला ही जाग रहा हूं. मुझे यह समझ नहीं आया कि मैंने इतनी देर बॉलिंग् किसके सामने की? एक वकील वहां बैठे थे उनसे मैंने पूछा "आपको समझ आया?" वह बोले "महाराज अभी तो नींद आ रही है. घर जा कर सोयेंगे. कल इस विषयपर बात करेंगे." तो मूल मुद्दा कहनेका यह है कि अचेतनका भोग ही चेतना करती है और भगवान्‌के

लिए दोनों ही भोग्य हैं. इसलिए भगवान्‌के लिए कहा गया है **''अत्ता चराचरग्रहणात्''** (ब्र.सू.१।२।९) भगवान् चर और अचर दोनोंके भोक्ता हैं. इस प्रकार यदि भव और अभव दोनों सिद्ध हो जाते हैं तो भगवत्ता निष्पन्न हो जाती है. भगवत्ता निष्पन्न होगी तो भक्ति निष्पन्न होगी. इसीसे कहते हैं कि **''मात्राः तत्त्वानि सर्वाणि भुङ्क्ते सर्वं यतो हरिः''** भगवान् मात्रा तत्त्व भूत सभीका भोग करता है. भगवान्‌के लिए ऐसा नहीं है कि यह भोग्य है और यह भोग्य नहीं है. हमारे लिए यह सीमा है कि कुछ भोग्य है और कुछ नहीं॥३॥

**आत्मा तस्य इन्द्रियं प्रोक्तं येन सर्वं सः पश्यति योगएव हरेः बुद्धिः तस्मात् सर्वं प्रकाशते** बहुत ही सुंदर बात कही है कि हमारे तो यह आंख नाक कान इन्द्रियां हैं कि जिनके द्वारा हम जड़ वस्तुओंका भोग करते हैं. पर भगवान्‌की इन्द्रिय हमारी आत्मा ही है कि जिसके द्वारा भगवान् सर्व वस्तुओंका भोग करते हैं. हमारे लिए यह आत्मा द्रष्टा है पर भगवान्‌के लिए यह वस्तुओंको भोगनेके लिए एक इन्द्रिय है. जैसे आत्माके भोगके लिए इन्द्रिय साधन है. वैसे भगवान्‌के लिए हमारी आत्मा भोगका साधन है. हमारी इतनी सीमा है कि यदि देहके बिना हमें कोई आत्मा दीखे तो हमें भूत-प्रेत लगेगा. सन् अठत्तरमें युनिवर्सिटीमें पढ़ता था. मेरे एक चचेरे भाई थे, जिनका नाम भी श्याम था. एक दिन वह किसी बीमारीके कारण चल बसे. यह खबर यहांके अखबारोंमें छपी. मैं उस दिन क्लास्‌में गया तो वहां सभी यह चर्चा कर रहे थे कि ''कल-तक तो हमारे साथ बैठा पढ़ रहा था, आज अचानक पता नहीं क्या हुआ कि मर गया.'' मैं वहां पहुंचा तो लोग घबरा गये. लड़कियोंकी तो चीख ही निकल गयी. मैंने उन्हें समझाया कि वह मेरा चचेरा भाई था, जिसके बारेमें खबर छपी है. तब वे समझें. अक्सर ऐसा हो जाता है कि मरनेवाला यदि दोबारा आ जाये तो लोग डर

जाते हैं. आत्मासे हमें ऐसी नफरत है. देह बिनाकी आत्मा आये तो हमें डर लगता है. फिर चाहे वह कितना भी सगा-संबंधी क्यों न हो! देह और आत्मा साथ हैं इस कारण हमें सब अच्छा लग रहा है. पर हमें अकेली आत्मा अच्छी नहीं लगती. यह हमारी एक सीमा है भगवान्‌की यह सीमा नहीं है.

**आत्मा तस्य इन्द्रियं प्रोक्तं येन सर्वं सः पश्यति** इस आत्मा रूपी इन्द्रियके द्वारा वह सबकुछ देख रहा है. आप देख रहे हो अपनी इन्द्रियके द्वारा और वह देख रहा है हमारी आत्मासे, जो उसकी इन्द्रियका काम करती है. **योगएव हरेः बुद्धिः तस्मात् सर्वं प्रकाशते** और हरिकी बुद्धि कौनसी है? वह है अपना योग. हम कहीं भी ध्यान लगायें तो वह हरिकी बुद्धि हो जाती है. हम योग अथवा ध्यान नहीं करते तो इसका अर्थ है कि भगवान् अपनी बुद्धि नहीं उपयोगमें ला रहे हैं. मानें आपकी चित्तवृत्तिका निरोध ही उसकी बुद्धि है. या इसको यों समझें कि भगवान् अपनी बुद्धि आपके संदर्भमें उपयोगमें ला रहे हैं, तो आपकी चित्तवृत्तिका निरोध हो रहा है. वह अपनी बुद्धि उपयोगमें न लाये तो आपका कहीं भी ध्यान नहीं लगेगा. जैसे आप कहीं घूम रहे हैं और आपको सभी दुकानोंके बोर्ड तो नज़र आ रहे हैं. पर किसी एकको आप पढ़ना चाहते हो आंखसे, तो सभी नज़र आ रहे हैं पर क्यों किसी एक पर ही अपनी चित्तवृत्तिका निरोध होता है? आपको एक उदाहरण देता हूं. आप सभीने टोयोटा गाड़ी देखी होगी. उसका सिम्बॉल् भी देखा होगा. उसमें 'टोयोटा' शब्दके पूरे अक्षर आ जाते हैं, पर कितने लोगोंने इसपर ध्यान दिया है?

**प्रश्न :** तो क्या यह कहा जायेगा कि ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि भगवान्‌ने अपनी बुद्धिका प्रयोग नहीं किया. फिर तो यह सीधा-सीधा दोषारोपण भगवान् पर होगा.

**उत्तर :** आप चाहे तो दोषारोपण कर सकते हैं. पर मुद्दा यहां दोषारोपणका नहीं है. मुद्दा यहां यह है कि हम जो विशेषरूपसे कर रहे हैं उसका सम्मिलित रूप भगवान् है. जैसे देखते हो आंखसे पर आप कहते हो कि मैं देख रहा हुं. आप सुनते हो कानसे पर कहते हो कि मैं सुन रहा हुं. तो सभी कुछ आपकी सॅल्फ्-अवेयरनेस्में एकाकार हो रहा है. इसी प्रकार सारी आत्माएं जो कुछ भी जान रही हैं, कर रही हैं, अनुभव कर रही हैं, वे भगवान्में एकाकार हो रही हैं. वह हम सबकी आत्माओंके द्वारा ही सब कुछ जान रहे हैं. इसी कारण हम यह कहते हैं कि "वह सब कुछ देख रहा है, सुन रहा है." जैसे आपके सभी अनुभवोंका आपकी सॅल्फ्-अवेयरनेस्में यूनिफिकेशन् हो रहा है उसी प्रकार जीवमात्रकी आत्माके अनुभवोंका यूनिफिकेशन् भगवान्में हो रहा है. यह समझानेके लिए ही यहां कह रहे हैं कि जो हमारा योग है उसे भगवान् बुद्धिकी तरह उपयोगमें लाते हैं.

**प्रश्न :** आपने कहा कि भगवान् ही सभी कुछ कर रहा है तो जितने गलत काम हो रहे हैं, क्या वह भी भगवान् ही कर रहे हैं?

**उत्तर :** यदि भगवान् हैं और वह सब कुछ बना है तो क्या गलत और क्या सही, क्या पाप और क्या पुण्य, सभी उसके अंतर्गत ही तो आयेंगे. यदि ऐसा नहीं है तो आपको मानना पड़ेगा कि भगवान् यह है और वह नहीं है. फिर तो भगवान् अपूर्ण हो गया. हमें किसी और शक्तिको भी मानना पड़ेगा. पर ऐसा है तो नहीं क्योंकि वह पूर्ण है. यह जो पाप-पुण्य सही-गलत है, वह बहुत संकीर्ण विचारधारा है. ये मानवीय दृष्टिसे तो सही है पर भगवान्के दृष्टिकोणसे सही नहीं है. उसके लिए तो यह सब एक खेल है, लीला है. डायॅक्टर्के लिए हीरो-विलेन्में भेद नहीं है. पर दर्शकोंके लिए हीरो अच्छा है और विलेन् खराब. किसी

भी नाटकमें दोनोंकी आवश्यकता रहती है. विलेन् न हो तो हीरो हीरो नहीं रह जायेगा और हीरो न हो तो विलेन्की क्या आवश्यकता है! नाटकके लिए दोनों जरूरी हैं. इसी प्रकार भगवान्के लिए अच्छा-बुरा कुछ भी नहीं है. यदि भगवान्को कुछ अच्छा अथवा बुरा लगे तो वह किसको दोष देगा? वह तो सभीका भोक्ता है **''अत्ता चराचरग्रहणात्''** चर-अचर दोनोंको ग्रहण करता है. पृथ्वी यदि ऐसा पक्षपात करे कि मंदिर ही होना चाहिये, कसाईखाना नहीं होना चाहिये. महल ही होने चाहिये, झोंपड़ी नहीं होनी चाहिये. बाग ही होने चाहिये, गटर् नहीं. ऐसा पक्षपात धरती नहीं कर सकती. उसके लिए तो दोनोंका अस्तित्व ठीक हैं.

इस तरह हम समझ सकते हैं कि ईश्वरके लिए अच्छा-बुरा कुछ भी नहीं है. यह तो अपने संदर्भमें कह सकते हैं कि यह अच्छा है और यह बुरा. पर ब्राह्मिक दृष्टिकोणसे न कुछ बुरा है और न अच्छा. जीवन और मरण आपके संदर्भमें हैं पर ब्राह्मिक दृष्टिसे सब बराबर हैं. इसके साथ यह भी समझ लो कि हम अपने संदर्भकी उपेक्षा भी नहीं कर सकते. हां, हमें ब्राह्मिक दृष्टिकोणको भी ध्यानमें रखना होगा. आप यदि बाग लगाना चाहते हैं तो इसमें कोई बुरायी नहीं है पर आप पृथ्वीसे यह कहने लगें कि अब यहां गटर् होनी ही नहीं चाहिये, यह तो ठीक नहीं है. गटर् नहीं रहेगी तो बाग ही गटर् बन जायेगा. इसलिए पृथ्वीको तो गटर् रखनी ही होगी. आप हॉस्पिटल् बनाते हैं बहुत अच्छी बात है पर उसमें आप कहें कि मुर्दाघर नहीं होगा, तो मुर्दे जायेंगे कहां? मनुष्यकी स्त्रियोंके तो दो ही स्तन होते हैं पर और प्राणियोंमें तो चार-छह स्तन होते हैं क्योंकि उनके एक साथ कई बच्चे जन्म लेते हैं. उनके कम हों तो वे इतने सारे बच्चोंको पालेंगे कैसे? वह काले-गोरेमें भेद तो नहीं करते. इसी प्रकार पृथ्वीको तो सभीको पालना है. वह अपने बच्चोंमें भेद नहीं कर सकती. यहां-तक कि

आप यदि कुतियाको बाघका बच्चा भी देंगे तो वह उसे भी दूध पिला कर पाल देगी. क्योंकि एक मातृत्वकी ललक प्राणियोंमें है उसी प्रकार पृथ्वीमें भी ललक है. वह सबको पालती है. ऐसा नहीं है कि वह संतोंका ही पोषण करेगी, दुष्टोंका नहीं. हम एक-दूसरेको मारते हैं, पृथ्वी नहीं मारती. जितने भी जैसे भी पुत्र उसके जन्म लेते हैं, सभीका पोषण करती है. बादलको ऐसा नहीं है कि कहां बरसना है. वह पानीमें भी बरसता है और जमीनमें भी. इस तरह जो भी ब्राह्मिक वस्तुएं हैं उनमें अच्छे-बुरेका भेद नहीं होता. जो व्यक्तिगत विषयमें अच्छे-बुरेका भेद होता है. इसलिए भगवान्को देव ही अच्छे लगते है दानव नहीं, ऐसा नहीं है. उन्हें तो दोनों ही अच्छे लगते हैं क्योंकि दोनों ही भगवान्की लीला हैं. हां, दानवोंको वे मरवाते हैं और देवोंको बचाते हैं. जैसे डायरॅक्टर् हीरोको बचाता है और विलेन्को मरवाता है. पुराणोंमें यह भगवान्ने करके दिखलाया है. प्रह्लाद दानव था पर भगवान्का भक्त था. वृत्रासुर दानव था पर भगवान्का भक्त था. राजा बलि भी दानव था. भगवान्को देव-दानवोंके बीच कोई पक्षपात नहीं है. **योगएव हरेः बुद्धिः तस्मात् सर्वं प्रकाशते** हरिकी बुद्धि योग है, इस कारण सर्वमें प्रकाश तो वह करेगी ही. आपकी बुद्धिमें प्रकाश नहीं होगा तो जो भी आंखके सामने आ रहा है वह बिना ध्यानके चला जायेगा.

मुझे जो वेद पढ़ानेवाले गुरुजी थे, उन्होंने एक बार अपने गुरुजीकी कथा मुझे सुनायी. वह उन्हें सर्कस् दिखाने ले गये. टिकिट् ले कर अंदर बैठ गये. कार्यक्रम आरंभ होनेमें थोड़ा समय था, तो उन्होंने सोचा कि इस समयका उपयोग क्यों नहीं किया जाये! उन्होंने आंख मीच कर वेद-पारायण प्रारंभ कर दिया. सारा सर्कस् समाप्त हो गया पर उनका वेद-पारायण समाप्त नहीं हुआ. सर्कस् खत्म होनेपर मेरे गुरुजीने उन्हें चलनेके लिए कहा तो वे बोले "सर्कस् तो देख लें." मेरे गुरुजीने कहा "वह तो कबका समाप्त

हो गया.'' वे वेद-पारायणमें इतने लिप्त थे कि उन्हें पता ही नहीं चला कि कब सर्कस् खत्म हो गया!॥४॥

**पञ्चविंशे तथा अध्याये भक्तियोगो निरूप्यते वैतृष्ण्यं तस्य च अङ्गं हि इतरज्ञानमेव च** इस प्रकार पांच अध्यायोंसे सांख्य और योग का वर्णन करके अब भक्तिका निरूपण करते हैं. 'सांख्य' मानें भव, 'योग' मानें अभव. दोनोंके आनेके बाद जब भगवान् आये तो भक्तियोगमें एक प्रकारकी छुपी हुयी वितृष्णा होती है. क्योंकि जब भी आप किसी एक वस्तुपर ध्यान केन्द्रित करते हो तो दूसरी वस्तुकी उपेक्षा करते ही हो. बिना और वस्तुओं परसे ध्यान हटाये, आप किसी भी वस्तुपर अपना ध्यान केन्द्रित कर ही नहीं सकते. आपका ध्यान कब हटेगा कि जब आपका ध्यान किसी और वस्तु पर जायेगा. गुरुजीका ध्यान क्यों नहीं भंग हुआ? सर्कस्में आवाज़ तो आयी ही होगी और वह कानोंमें भी पड़ी होगी पर उनका वेद-पारायणमें इतना ध्यान लगा कि और आवाज़े उन्हें आनी ही बंद हो गयीं. इस तरह योगका अंग ही होती है वितृष्णा और 'तृष्णा' मानें प्यास जागी तो योग भंग. अब वह तृष्णा चाहे रूपकी हो, गंधकी हो, स्वादकी हो, स्पर्शकी हो, तृष्णा जागी और योग भंग. वह नहीं जागे तो आपको योग सिद्ध है.

हरिवंशराय बच्चनने मधुशाला लिखी है. उसमें उन्होंने लिखा है ''बज़ी नफीरी और नमाज़ी भूल गया अल्लाताला, गाज गिरी, पर ध्यान सुरामें मग्न रहा पीनेवाला, शेख! बुरा मत मानो इसको, साफ कहूं तो मस्जिदको अभी युगों तक सिखलायेगी ध्यान लगाना मधुशाला.'' (मधुशाला.३।४९) जैसा ध्यान लगाना मस्जिद नहीं सिखा सकती वैसा मधुशाला सिखा सकती है. इस प्रकार ध्यानमें वितृष्णा एक अभिन्न अंग है. **पञ्चविंशे तथा अध्याये भक्तियोगो निरूप्यते** इसलिए अब पच्चीसवें अध्यायसे भक्तियोगका प्रारंभ करते हैं क्योंकि

अब भगवान् प्रकट हो गये हैं॥५॥

**परमं साधनं भक्तिः यथा भवति मुक्तये यथाशास्त्रस्य कथनं सन्तो भक्तेः च साधकाः** यह जो परम साधन भक्ति है यह मुक्ति कब प्रदान कर सकती है **यथाशास्त्रस्य कथनं सन्तो भक्तेः च साधकाः** सन्त भक्तिका वर्णन इस प्रकार करते है जैसा शास्त्र उसका वर्णन करते हैं, मन गढ़न्त ढंगकी भक्ति नहीं. जैसे तृप्ति देसाईको है कि जहां स्त्रियोंको मना है वहां ही जा कर भक्ति करनी है. वह सबरीमालामें जा कर भक्ति करना चाह रही थी. उसे सबरीमालाकी भक्तिसे कुछ लेना-देना नहीं है. 'ना' क्यों कहा, इसलिए वहां जाना है. अहंकारके कारण भक्तिकी भावना हो रही है. कल तो कोई लड़का भी कहेगा कि "लेडीज़् यूरिनल्में मैं क्यों नहीं जा सकता!" तब क्या होगा? यह कोई स्वस्थ मनुष्यका काम नहीं हैं. इस प्रकारकी जो एक्टिविज़म् है वह ठीक नहीं है. कल कोई बेचारा अपने सगेवालोंका अंतिम-संस्कार स्मशानमें कर रहा हो और आप वहां दांडिया नाचने पहुंच जायें. तो क्या यह ठीक कहलायेगा!! 'ना' कहें तो कहते हैं कि "जेन्डर् डिस्क्रिमिनेशन् कर रहे हो". इस प्रकारकी भक्ति यथाशास्त्र न हो कर यथा-अहंकार है. कल तो कोई ब्रह्मचारी रहना चाहे तो वह वहां भी पहुंच जायेगी कि "मुझे तुमसे विवाह करना है तुम यह जेन्डर् डिस्क्रिमिनेशन् कर कैसे सकते हो विवाह न करके." तृप्ति देसाईको तृप्त करना अत्यधिक कठिन है. नाम तृप्ति है पर काम तृष्णाके है. इस तरह शास्त्रके अनुसार यदि तुम भक्ति करो तो ही वह भक्ति है अन्यथा नहीं॥६॥

**वंशएव मनोः पृष्टः तेन ज्ञानं न वर्णयेत् अतः शौनकसम्प्रश्नः चरित्रत्वं च बुध्यते** इससे पहले अध्यायमें उसने प्रश्नमें मनुका वंश पूछा. वहां ज्ञानका वर्णन नहीं है मनुके वंशका वर्णन है कि उसके वंशमें कर्दम हुए कपिल हुए आदि. इसलिए मनुके वंशका वर्णन

करते हुए नौ अध्यायोंसे कपिलजीका चरित्र बता रहे हैं॥७॥

यह महाप्रभुजीके द्वारा किया गया कपिलगीताका परिचय है.

**प्रश्न :** यह कपिलजी मनुके वंशमें हुए तो और कौन कौन हुआ ?

**उत्तर :** जितनी मानव सृष्टि है वह पूरी मनुके वंशमें है. हम सभी उसीके वंशके हैं. इस कारण यहां ज्ञानका वर्णन नहीं हुआ है, वंशका वर्णन किया गया है. यहां सांख्य-योगद्वारा भगवान्‌को जाननेकी प्रक्रियाका वर्णन इससे पहले किया ही जा चुका है. केवल योगसे आपको अभवका ज्ञान होगा, केवल सांख्यसे भवका ज्ञान होगा. जब यह दोनों हो जायेंगे तो आपको भगवान्‌का ज्ञान होगा. भगवान्‌के ज्ञानके लिए भक्तिकी आवश्यकता है क्योंकि यह तीनों ही 'भज्' धातुसे बने हैं. जिसका भजन किया जाये वह 'भगवान्', जो भजन कर रहा है वह 'भक्त' और इन दोनोंके बीचके संबंधको 'भक्ति' कही जाती है. 'भजन'का अर्थ होता है, आनंद होना. जब भी आप किसीका आनंद उसकी पूर्णताके साथ लेते हो तो वह भक्ति है. जब ऐसी भक्ति आप करते हो तो भगवान्‌का सच्चा ज्ञान आपको होगा. जब उसकी पूर्णताको छोड़ कर आप उसकी भक्ति करते हो तो आपको उसके किसी अंशका ही ज्ञान हो पायेगा.

**प्रश्न :** अपने यहां तो कई ऋषि-मुनि हुए हैं. सभीने ज्ञान-वर्धक बातें कही हैं. कपिलगीतामें ऐसा विशेष क्या है जो महाप्रभुजी इसको इतनी प्राथमिकता दे रहे हैं ?

**उत्तर :** महाप्रभुजीके सारे ग्रंथोंका सिद्धांत इस कपिलगीताके आधारपर है. महाप्रभुजी कहते हैं कि पुष्टिमार्गमें गुरु किसको बनाना चाहिये इसपर कहते हैं कि **''कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दंभादिरहितं नरं श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुः आदरात्''** (त.दी.नि.२।२२७) जो कृष्णसेवापर हो, जो दंभादिरहित हो और जो भागवततत्त्वज्ञ हो, यह तीन गुण जिसमें हों उसे ही गुरु बनाना चाहिये. इसकी व्याख्या करते हुए महाप्रभुजी कहते हैं कि जो गुरु तुम्हें भक्तिका उपदेश करे उसे ही यदि भक्तिका ठीक ज्ञान न हो तो वह तुमको भक्तिके नामपर कुछ

और ही उपदेश कर देगा. ''**अन्यथा मनसि अन्यद् विधाय अन्यथाकरणे न फलसिद्धिः (भवति)**'' (त.दी.नि.प्र.२।२२७) मनमें कोई और ही भाव है और कह रहे हैं कि भक्ति करनी है. तो ऐसे उपदेशसे भक्ति नहीं उपजेगी. मानो कि तृप्ति देसाई सबरीमाला जा कर दर्शन कर ले, पूजा कर ले, तो क्या वह भक्ति कहलायेगी? नहीं! वह तो केवल उसके अहंकारकी संतुष्टि कहलायेगी.

आपको एक उदाहरण देता हुं. उडुपीमें एक पुरंदरदास था. वह मछलीमार था. उसके इस व्यवसायके कारण उसे मंदिरमें जानेकी अनुमति नहीं थी पर उडुपीमें जो उलूखलबद्ध कृष्ण हैं; जो कि माध्व संप्रदायके सेव्य हैं, उनकी भक्ति उसमें इतनी विशेष थी कि मंदिर जानेकी अनुमति न होनेके कारण मंदिरके पीछे बैठ कर कृष्णको वह पद सुना रहा था. उसके पद इतने उच्चकोटिके हैं, बिल्कुल अपने सूरदासजीके समकक्ष. उसके पद सुन कर जो पूर्वाभिमुख कृष्ण थे वे पीछे मुड़ गये और पश्चिमाभिमुख हो गये और उसे दर्शन दिये, दीवारमें भी एक बड़ा छेद हो गया!!! आजतक वह उल्टे ही बिराजते है. माध्व संप्रदायका एक मठ यहां भी है. उसके स्वामी मेरे मित्र है. उनके यहां आठ पीठ हैं. हर पीठाधीशकी दो वर्षके लिए बारी आती है उडुपीमें सेवाके लिए. जब उनकी बारी आयी तो उन्होंने मुझे मित्र होनेके नाते उडुपी दर्शनके लिए बुलाया. ठाकुरजीके निज मंदिर तक मुझे ले गये. वहां स्वरूप देख कर मुझसे रहा न गया और मैंने आगे बढ़ कर ठाकुरजीके चरणस्पर्श कर लिए. यह देख कर वह बोले ''गोस्वामी! इन दो वर्षोंमें हमारे अलावा हमारे संप्रदायके दूसरे स्वामी भी ठाकुरजीके स्पर्श नहीं कर सकते. आपको हमारी आज्ञाके बिना ठाकुरजीको स्पर्श नहीं करना चाहिये.'' सचमें मेरी गलती थी पर मैं उस स्वरूपके लावण्यको देख कर अपने आपको रोक ही नहीं पाया. मैंने उनसे माफी मांग ली और कहा कि ''पुरंदरदास जैसे ही मुझे समझ लीजिये.'' उस स्वरूपका

इतिहास सुनने लायक है. एक पानीका जहाज गुजरातसे कोचीन जा रहा था. राहमें उडुपी आता था. वहां किसी कारणवश वह डूब गया. उस समय मध्वाचार्यजी समुद्र किनारे संध्या कर रहे थे. उन्हें वहां उन कृष्णके द्वारा आज्ञा हुयी कि "मैं इस जहाजमें हूं. आप मुझे लेने आओ." वे तैर कर वहां गये और उस स्वरूपको पधरा कर ले आये और उनका मंदिर सिद्ध करवाया. वह स्वरूप वहां बिराजता है. पुरंदरदास भी वहीं मछली मार रहे थे. उन्हें भी वह स्वरूप पसंद आ गया पर उसे अंदर जानेकी अनुमति नहीं थी. माध्वोंमें ऐसी प्रथा है कि वहांके स्वामीजी अपने आपको पटरानीकी तरह मानते हैं. इसलिए वे आठ हैं. ठाकुरजी बीचमें और वे उनके आठ दिशामें रहते हैं. उनकी सेवाकी बारी दो वर्षके लिए आती है. अपनी बारीमें उनको एक हजार मनुष्योंको रोजाना भोजन कराना पड़ता है. जिसमें केवल तीनसौ ही ब्राह्मण होते हैं. बाकी किसी भी जाति, किसी भी धर्म के हो सकते हैं. वहां ईसाई मुसलमान भी आते हैं. उसका पूरा खर्चा वे अपनी जेबसे उठाते हैं. चौदह साल तक वे इस कामके लिए ही पैसा जमा करते हैं. वह पूरा उन दो सालोंमें उन्हें खर्च करना होता है. अपने यहां जैसा धंधा नहीं करते वे लोग. यह पुरंदरदास लगभग सूरदासजीसे पचास वर्ष पहले हुए हैं. कन्नड़ भाषाके उनके कृष्ण-भक्तिके बहुत मीठे पद हैं. वे श्रीव्यासरायस्वामीके समयके हैं. श्रीव्यासरायस्वामी महाप्रभुजीके दादागुरु थे. श्रीव्यासरायस्वामीके शिष्य श्रीमाधवेन्द्र सरस्वती, जो महाप्रभुजीके शिक्षागुरु थे.

भक्ति कभी भी संकीर्ण नहीं हो सकती. यह एक ऐसा विशाल और समग्र दृष्टिकोण देती है कि उसमें ज्ञान वैराग्य सांख्य सभी कुछ समा सकता है. जो बात मैं कह रहा था वह यह थी कि महाप्रभुजीका पूरा सिद्धांत इस कपिलगीतापर आधारित है. अभी तो षोडशग्रंथका और सर्वनिर्णयग्रंथका अपना अध्ययन शुरू नहीं हुआ

है. वहां महाप्रभुजीने जो आध्यात्मिक ज्ञानकी बात की है वह पूरी कपिलगीतापर आधारित है. जो बात यहां कही है वही-की-वही बात वहां कही गयी है.

**प्रश्न :** आपने गुरुके जो लक्षण बताये वह एक बार कृपया दुबारा बतायें.

**उत्तर : ''कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दंभादिरहितं नरं श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेद् जिज्ञासुः आदरात्.''** जो कृष्णसेवापर हो, दंभादिरहित हो और भागवत तत्त्वज्ञ हो, यह तीन गुण जिसमें हो उसे ही गुरु बनाना चाहिये. और जो वह भक्तिके बारेमें कह रहा है वह भागवत-शास्त्रके आधारपर होनी चाहिये. आज गोस्वामी बालक यह कह रहे हैं कि स्कूटरमें किक् मारनी यह तनुजासेवा और पॅट्रोल् भराना यह वित्तजासेवा हो सकती है. इस प्रकारकी सेवाका भागवतमें कहीं भी ऐसा वर्णन आया नहीं है. मानों कि यह सेवाका प्रकार सच्चा हो तो गुरुकी अगली जांच है कि वह स्वयं कृष्णसेवापर होना चाहिये. यदि किक् मारना और पॅट्रोल् भराना सेवा है तो गुरुको स्वयं भी ऐसी सेवा करनी चाहिये और वैष्णवोंके यहां ऐसे ही दर्शन करने जाना चाहिये. यह नियम केवल वैष्णवोंपर ही क्यों लागू है? साफ बात है कि जो बताया जा रहा है वह ठीक नहीं है. यह भागवतके आधारपर की जाती सेवाका निर्देश नहीं है. तृष्णा(तृप्ति) देसाई जैसी मनोवृत्तिवाले लोगोंके द्वारा बतायी गयी सेवाका प्रकार है. दूसरी बात कि ठाकुरजीके माहात्म्यज्ञानका वर्णन श्रीभागवतके आधारपर होना चाहिये. वह कहते है कि वैष्णवोंके ठाकुरजी पांच वॉट्के और हमारी हवेलीके ठाकुरजी सौ वॉट्के! अरे भई, बहुत बड़ा झटका लग जायेगा इतने वॉट्के होंगे तो और ठाकुरजीमें वॉट्स् आते हों तो वह किसी सप्लाईसे ही तो आयेंगे. वह सोर्स् कहां है? वह सोर्स् ब्रह्म है, जहांसे वॉट्स् सप्लाई हो रहा है और वह सर्वत्र है. यदि वह सर्वत्र है तो आपके यहां भी है और हमारे यहां भी वह ही है. ऐसा

कैसे हो सकता है कि आपके यहां तो सप्लाई चालू है और हमारे यहां वह कट गया, तो लाइन् काटी किसने?

महाप्रभुजी तो यहां तक कहते हैं कि **''तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं कृत्वा हरेः क्वचित् परिचर्यां सदा कुर्यात्''** (त.दी.नि.२।२२८) ऐसे गुरु न मिले तो गुरुकी परवाह मत करो, कृष्ण सेवा करो **''यन् मूर्तौ कृतं सर्वं भगवति कृतं भवति.''** (त.दी.नि.प्र.२।२२८) मानें मूर्तिको तुम पौढ़ाओगे तो तुमने कृष्णको पौढ़ाया. मूर्तिको तुमने कड़ा धराया तो तुमने कृष्णको धराया. मूर्तिको तुमने भोग धरा तो तुमने कृष्णको भोग धरा. आज-कलके बालक क्या कहते है कि हम पुष्ट नहीं करेंगे तो तुम्हारे ठाकुरजी आरोगे ही नहीं. जब कृष्ण नंदरायजीके घर प्रकटे थे और दान लेते थे, तो आप गये थे पुष्ट करने? किसने यह नियम बनाया वैष्णवोंमें भी ऐसी धारणा हो गयी है कि हमारे ठाकुरजी पुष्ट नहीं है इसलिए वह खेलके है. अरे, यह कोई खिलौना है! महाप्रभुजी तो ऐसा नहीं कह रहे हैं वे तो कह रहे हैं कि ब्रह्मवाद होनेसे ब्रह्म तो सभी जगह है. भगवन्मूर्तिमें भी है. मैं हर समय एक बात कहता हुं कि बीमारी दूर करनेके लिए डॉक्टरकी आवश्यकता है, डॉक्टर् अच्छा लगता है इसलिए बीमार नहीं पड़ जाना. महाप्रभुजीने यह बात उपदेशके रूपमें कही है, जो कपिलगीतामें कथाके रूपमें आ रही है. बात वहीकी वही है पर महाप्रभुजी जब इस भागवतकी बातको कह रहे हैं तो उसका स्वाद जब हम सर्वनिर्णय देखें तो पता चले. जैसे आपने इस कपिलगीताके परिचयमें देख ही लिया होगा कि महाप्रभुजीकी स्टाइल् कैसी है!

हम यदि यह समझ रहे हैं कि पुष्टिमार्गमें तो केवल सेवा-भक्ति ही करनी है, तो तो यह भी समझ लो कि महाप्रभुजीकी भक्तिका प्रोग्राम् केवल रॅस्टोरेन्टके जैसे मठड़ी मोहनथाल बनाने-खानेका नहीं

है. यह बहुत ही सुविचारित गूढ़ प्रोग्राम् है पर हममें भी कोई तृष्णा(तृप्ति) देसाई काम तो कर ही रही है. इसलिए हम ऐसे काम करते हैं पर महाप्रभुजीको कोई ऐसी तृष्णा नहीं है. मुद्दा कृष्णसेवा करनेका है मानें उसकी संपूर्णताके साथ, उसके हर पहलुका आनंद लेनेका है. जब तुम किसी भगवदीयमें अथवा भागवत-कथामें अथवा हवेली दर्शनोंमें अपनी सीमा बांध रहे हो तब तो तुम केवल उसके एक ही पासाको देख रहे हो. यदि एक ही पहलुमें फंसे रहेंगे तो या तो आप योगको समझ कर सांख्यको अनदेखा कर देंगे, या सांख्यमें रह कर योगको भूल जायेंगे. सांख्य समझ आयेगा तो भव तो समझ आयेगा पर अभव समझ नहीं आयेगा. पर भगवान् तो भव और अभव दोनोंके ईश हैं. दोनों ही लीला उनकी हैं. आप लीलाको यदि समझ गये तो दोनों आपको समझ आ जायेगा. नहीं तो भोक्तृत्व आयेगा अथवा संसारसे भागनेकी इच्छा होगी. ये दो उपायके साथ तीसरा भी उपाय है, न भोगो न भागो, भक्ति करो. जिसमें भागना और भोगना दोनों आ जाते हैं. पर आप इन दोनोंकी सीमामें बंध नहीं जाते हो, आपका व्यक्तित्व संकीर्ण नहीं हो जाता. अन्यथा मनुष्य पहले दो उपायोंमेंसे ही एकको चुनता है जैसे तुलसीदासजी कहते हैं *"तिया गयी घर संपति नासी मूंड मुडाय भये संन्यासी."* पत्नी मर गयी, व्यवसायमें घाटा हो गया, तो बचा क्या? इसलिए चांद घुटवा कर संन्यासी हो गये. यह भागनेकी अथवा भोगनेकी बात होगी. इन दो चरम सीमाओंमें जीनेकी क्या आवश्यकता है? भोगो पर इतना नहीं कि परिस्थिति विपरीत होनेपर आपको भागनेकी इच्छा हो जाये.

मेरा एक परिचित व्यक्ति है, वह बहुत बड़ी मिलका मालिक है. उसकी पत्नी भगवान् रजनीशकी चेली हो गयी. एक दिन उसको संन्यासकी तीव्र इच्छा हो गयी. तो साथमें अपने गहनोंका डिब्बा ले कर संन्यासिनी होने चली गयी. वह भी उसके पीछे-पीछे भागा

और बोला "तू संन्यास ले-ले पर गहनोंका डिब्बा तो यहीं छोड़ जा." वह बोली "नहीं मुझे तो इन्हींके साथ संन्यास लेना है." दोनोंमें बहुत झगड़ा हुआ. फिर समझौता इस बात पर हुआ कि वह संन्यासका सॅन्टर् घरपर ही चलायेगी. एक दिन मुझे मिली. बहुत बड़ा रजनीशका लॉकिट् गलेमें लटका हुआ था और कहने लगी "तुम कुत्तोंकी तरह अपने शिष्योंके गलेमें कंठीका पट्टा बांध देते हो." मैंने कहा सही बात है "अपन् एक ही बिरादरीके हैं, तुमने भी तो बांध रखा है." यह सुन कर एकदम भाग गयी.

**प्रश्न :** आपने कहा कि भागवत अहेतुक किसी भी व्यक्तिसे सुननी चाहिये तो क्या वल्लभकुलके बालक भागवत नहीं कर सकते? पर वह करते तो हैं ही.

**उत्तर :** एक बात समझो कि भागवत सुननी तब आवश्यक थी जबकि वह केवल संस्कृतमें ही उपलब्ध थी. वह छपती भी नहीं थी और लोगोंको संस्कृत आती नहीं थी, उस समयमें पुस्तकें केवल ब्राह्मणोंके पास ही होती थी. ब्राह्मण यदि न बांचे तो लोगोंको क्या पता चलेगा कि भागवतमें क्या है! आज जितनी छूटसे यह छप रही हैं उतनी छूट भी पुराने समयमें नहीं थी. इस कारण यह आवश्यक हो जाता था कि यदि आपको भागवत सुननी हो तो ब्राह्मणको बुलाओ और उसीसे भागवत सुनो. आज तो भागवतके सभी भाषाओंमें अनुवाद उपलब्ध हैं. उनकी टीकाएं भी उपलब्ध हैं पर हमें भागवतकथा बैठानेकी आदत हो गयी है इसलिए चैन नहीं आता. जैसे हवेलीयोंमें जानेका रोग हो गया है, वैसे ही भागवत-कथा करानेका रोग हो गया है. ब्राह्मण भी आपके इस रोगका लाभ ले रहे हैं. वह आपके पितरोंको धुंधकारीकी पदवी दे देते है. "आपके पितर प्रेत-योनिमेंसे छूट जायेंगे यदि आप भागवतका पाठ करवाओगे तो." अरे, हमारे पितर क्यों प्रेत-योनिमें जायेंगे? धुंधकारीने तो बहुत पाप किये थे. क्या हमारे पूर्वजोंने ऐसे पाप किये हैं! आपको भागवतका

धंधा करना है तो करो पर हमारे पूर्वजोंको धुंधकारी क्यों सिद्ध कर रहे हो? महाप्रभुजीका सिद्धांत है **''पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम्''** (त.दी.नि.२।२५३) भागवतका तुम स्वयं नित्य नियमसे पाठ करो, न कि साप्ताहिक विधिसे. जीवित अवस्थामें तो करते नहीं हो, मरनेके बाद भागवत बैठाते हो. **''सर्वहेतुविवर्जितम्''** किसी भी हेतुके बिना भागवतका नित्य अभ्यास करो क्योंकि हमारी भक्ति हमारा भगवान् और हमारा भक्तपना यह तीनों भागवतके आधारपर ही तो गढ़े गये हैं. इसलिए यह तो रोज अपने नियममें आनी चाहिये न कि सात दिनके लिए ही. यह सारा तंत्र आपको डरा कर अपना मतलब सीधे करनेका है. तुम्हें यदि डर लगता है कि तुम्हारे पूर्वज धुंधकारी बने होंगे और तुम्हें परेशान करेंगे तो कराओ भागवत सप्ताह. नहीं डर लगता है तो स्वयं करो और निर्भय रहो.

**प्रश्न :** आपने पिछले क्लास्में कहा था कि चेतना अचेतनका ही आनंद ले सकती है परन्तु जब हम किसीके साथ संवादमें हैं तो उसकी आवाज़के साथ-साथ हम उस व्यक्तिका भी तो आनंद लेते हैं, जैसे उसके हाव-भावका. इस तरहसे तो यह चेतनका आनंद लेना ही हुआ. कृपया इस पर प्रकाश डालें.

**उत्तर :** अगर यह बात सत्य हो तो कोई भी व्यक्ति फोनपर बात नहीं करेगा. यह बात यदि सच्ची हो तो कोई भी व्यक्ति सिनेमा देखने नहीं जायेगा. यह बात यदि सच्ची हो तो कोई भी पेंटिंग्, कोई भी मूर्ति किसीको भी अच्छी ही नहीं लगनी चाहिये. ऐसा कहा जाता है कि जब रोमके राजा सीज़र्ने इजिप्त्पर आक्रमण किया तो इजिप्त्के राजाकी इतनी सैन्यशक्ति नहीं थी कि वह उसके साथ लड़ सकें. पूरा देश ही तबाह हो जाता यदि वह युद्ध होता तो. इसलिए इजिप्त्के राजाकी बहन क्लियोपॅट्राने अपने आपको एक कार्पेट्में लिपटवाया और उस कार्पेट्को रोमके राजाको उपहारके रूपमें भेजा. वहां जब राजाके समक्ष उस कार्पेट्को खोला गया तो उसमेंसे

क्लियोपॅट्रा निकली. उसे देखते ही सीज़र् अचंभित रह गया. उसने उससे विवाह कर लिया. इजिप्त्के राजाने तो आत्मसमर्पण कर दिया था क्योंकि उसके पास तो लड़नेकी शक्ति ही नहीं थी पर कहनेको तो क्लियोपॅट्राने आत्मसमर्पण किया था. असलमें तो उसने सीज़र्को जीत लिया था. सीज़र् उसका गुलाम जैसा हो गया था. रोमके हर महलमें सीज़र्की मूर्ति थी. वहां सीज़र्की एक दासी भी थी जो सीज़र्को उतना ही चाहती थी. वह उन मूर्तियोंका आलिंगन करती थी. अब बताओ कि यदि आप किसीको चाह रहे हो तो मूर्तिको आलिंगन करके संतुष्ट कैसे रहा जा सकता है! वह कोई भगवान्की मूर्ति भी नहीं थी, सीज़र्की थी. इसलिए एक बात समझो कि चेतनाको तो रूप रस गंध स्पर्श ही अच्छा लगता है. क्लियोपॅट्राको सीज़र् मिलता था पर दासीको नहीं, इसलिए वह उसी वस्तुका आनंद जड़में लेती थी. पांडवोंको द्रोण गुरुरूपमें उपलब्ध थे पर एकलव्यको नहीं थे. उसने उसी द्रोणकी मूर्ति बना ली और उससे आनंदसे शिक्षा ली. आनंद भी किस पराकाष्ठा तक कि वह अर्जुनसे बड़ा तीरंदाज बना. इस तरह उसके फल भी मिलते ही हैं क्योंकि मनको इससे कुछ लेना-देना नहीं है कि आपके सामने वस्तु चेतन है कि अचेतन. उसे तो केवल इन्द्रियोंके पोषणमें संतुष्टि है और इन्द्रियोंको केवल रूप रस गंध स्पर्श शब्द से ही मतलब है, जोकि अचेतन हैं. इन्द्रिय तो कभी भी सीधे तौरपर चेतन वस्तुका आनंद लेती ही नहीं.

**प्रश्न :** पर ऐसा कहा जाता है कि योगके द्वारा हम अपनी आत्मचेतनामें रमण करते हैं मानें उसका आनंद लेते हैं. एक प्रकारसे यह भी तो चेतनका आनंद लेना ही हुआ.

**उत्तर :** देखो, योगकी प्रक्रियाका प्रशिक्षण वह है, यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार ध्यान धारणा और समाधि. 'यम' आपका जो बाहरी वस्तुओंके प्रति आकर्षण है उसके नियंत्रणके लिए है.

इसे करनेसे जो वस्तु हमें अच्छी लगती है उसके आकर्षणसे हम बाहर आयेंगे. 'नियम' आपका शारीरिक व्यवहारके नियंत्रणके लिए है, जैसे ठंडमें हमें नहाना अच्छा नहीं लगता पर नियम यह है कि नहाना है इसलिए नहाओ. इसे करनेसे हम अपने शारीरिक व्यवहारके आकर्षणसे बाहर आयेंगे. 'आसन' अपनी आसान मुद्रामें न बैठ कर कठिन मानें पद्मासनमें बैठना, जो शरीरको असह्य हो वह करना आसन है. जिससे कि आपमें वापसीके लक्षण आने शुरू हो. यदि हम हमेशा शरीरकी सुविधा ही देखेंगे तो हम उसके आदी हो जायेंगे. जितने भी कठिन आसन हम करेंगे उतने ही हममें सुविधा न मिलनेपर आसानीसे रह पानेकी प्रवृत्ति घट जायेगी. इससे हम शरीरको मिलती सुविधाओंकी आवश्यकतासे बाहर आते हैं. 'प्राणायाम' साधारण रूपमें श्वास क्रिया है वह हमारी भावनाओंके साथ ऊपर-नीचे होती है. क्रोध शांति अथवा प्रेम के प्रसंगमें वह ऊपर-नीचे होती है. प्राणायाम करके हम उसे अपने हिसाबसे चलाते हैं. इसमें भी आरामसे साँस लेनेके क्षेत्रसे हम बाहर आयेंगे. 'प्रत्याहार' जब ऊपर कहा हुआ पूरा सिद्ध हो गया तो अब हमें अपनी इन्द्रियोंको भी अन्तर्मुखी बनाना होगा. आंख नाक कान त्वचा जीभ के जो कार्य हैं उन्हें त्यागना प्रत्याहार है. उसके बाद आता है 'ध्यान'. यह मनको नियंत्रणमें लानेके लिए है. मन जिस भी चीजका विचार करना चाह रहा है वह उसे नहीं करने देना बल्कि अपनी निश्चित की हुयी वस्तुपर मनको केन्द्रित करना, यह स्वतंत्र वैचारिक प्रक्रियासे बाहर आना है. साधारण रूपमें मन हमारे नियंत्रणमें रहता नहीं है. इस प्रक्रियासे वह हो जाता है. इसके बाद आता है 'धारणा'. आप मनको उस ध्यानकी स्थितिमें कितनी देर रख सकते हैं? साधारणतया मन किसी भी एक बातपर तीन मिनट्से अधिक रह नहीं पाता. उसे एक दिन, महीना, छ महीने तक खींच कर ले जाना धारणा है. जब इतना सिद्ध हो जाये तब अगली प्रक्रिया है 'समाधि'की. समाधिमें आप बाहरी जगत्से बिल्कुल कट जाते हैं. इस तरह योग

तो वापस लौटनेकी प्रक्रिया है. इस सबके होनेके बाद आपको हासिल यह हुआ कि आप अपना आनंद ले पा रहे हो मानें आत्मानंदमें लीन हो रहे हो. यह तो वही हुआ कि *न मिली नारी तो बाबा ब्रह्मचारी.* इतना सब होनेके बाद आपके पास रह ही क्या जायेगा लेनेके लिए. आपने सभी ओरसे तो मुंह मोड़ लिया. बस लो आनंद अपनी आत्माकी. अब जब दुनियामें इतने आनंद हैं खानेके पीनेके दौड़नेके टीवी देखनेके आदि तो क्यों कोई आत्मानंदकी ओर जायेगा! जब इतनी वस्तुओंमें आनंद है तो कोई अपनी आत्मानंदका आनंद क्यों लेना चाहेगा पर जब सारे दरवाजे आपने स्वयं ही बंद कर दिये तो लोगे किसमें आनंद? यह कथा ही अलग है. उस कथाका और इस कथाका संबंध नहीं है. यहां तो संलग्न होनेकी प्रक्रिया है और वह छोड़नेकी प्रक्रिया है. वह त्याग भी आपको स्वयंको पीड़ित करके करना है जैसे जैन लोग अठ्ठाई करते हैं भूखे रह कर. वह भी अपने-आपपर नियंत्रणकी प्रक्रिया है.

पाकिस्तानका एक नास्तिक शायर था क्योंकि वह नास्तिक था इसलिए उसे काफिर कह कर उसको बंदी बनानेका आदेश हुआ. बहुत वर्ष वह जेलमें रहा और वहां उसने एक गज़ल लिखी उसका एक शेर है *"कैदके अहसासका मज़ा लिया है मैंने, खुदकी जंज़ीर बजा कर भी मज़ा लिया है मैंने, कैदकी यक्ताना ज़िंदगीका मज़ा लिया है मैंने."* यह सारी चीजें ऐसी हैं कि जिसका मज़ा नहीं लिया जा सकता पर वहां और कुछ ऐसा है ही नहीं कि जिसका मजा लिया जा सके. तो वह उसीमें आनंद तलाश रहा है और करे भी क्या बेचारा! यह तो कथा ही अलग हो गयी. जब भी हम बहुत बीमार होते हैं तो घबरा जाते हैं पर यही बीमारी दो चार साल चले तो व्यक्ति उस बीमारीका आनंद लेने लगता है. यह बीमारीकी ही बात नहीं है, ऐसा पति-पत्नीके बीचके झगड़ेमें भी होता है. शुरुआतमें झगड़ेसे बहुत तकलीफ होती है. कुछ वर्ष

बाद उसमें मजा आने लगता है. कभी आप एक प्रयास करके देखना. आप जिस भी चीजसे बोर होते हों उससे भागना मत. एक बार उस बोरियतका आनंद लेनेका प्रयास करना. थोड़ी देर बाद आप सचमें उसे पसंद करने लगोगे. ऐसा इसलिए होता है क्योंकि अपना स्वभाव ही है आनंद लेनेका. यदि वह बाहरसे न मिले तो भीतरसे मिलने लगेगा.

रशियाका एक बहुत बड़ा लेखक हुआ है ऐन्टोनी चेखोव. उसने एक बहुत सुंदर कहानी लिखी है. दो दोस्त आपसमें चर्चा कर रहे थे कि मृत्युदंड ठीक है कि आजीवन कारावास? पहला कह रहा था कि "मृत्युदंड अच्छा है क्योंकि एक बारमें छुटकारा तो हो जाता है." इस पर दूसरा कहता है "नहीं हमने जीवन नहीं दिया तो उसे लेनेका भी हमें अधिकार नहीं है." चर्चा जब बहुत बढ़ गयी तो पहलेने कहा "यदि तू कारावासको बेहतर कहता है तो चल मैं तुझे कारावास देता हूं. तू अकेला केवल छह महीने रह कर बता." दूसरा इसपर राज़ी हो गया. पहलेने शर्त रखी कि यदि वह इसे बीचमें ही तोड़ना चाहेगा तो वह सजा छह महीनेके लिए और बढ़ा दी जायेगी. वह इसपर भी राज़ी हो गया. उसे एक कोठरीमें बंद कर दिया गया. वहां केवल रोजानाकी आवश्यकताका सामान उसे दिया गया. छह महीने पूरे होनेवाले ही थे कि वह बाहर आ गया कि जिससे उसे वापस छह महीनेके लिए बंद कर दिया जाये. उसे अकेला रहना इतना भा गया कि अब उसे बाहरी संसार अच्छा लगना ही बंद हो गया. बहुत ही रोचक कथा उसने लिखी है. अकेले रहना बहुत कठिन है पर एक बार उसकी आदत हो जाये और उसमें आनंद आने लगे तो बाकी सबसे नफरत हो जाती है. मनका स्वभाव मजा लेनेका है. प्रारंभमें अकेलापन डरावना लगता है, बादमें उसीमें आनंद आने लगता है. प्रश्न यह है कि आप बाहरका आनंद लेना पसंद करते

हैं कि अपने अंदरका ?

**( विदुरका प्रश्न तथा मैत्रेयका उत्तर )**

**शौनकः उवाच**

श्लोक :

**कपिलः तत्त्वसंख्याता भगवान् स्वात्ममायया ॥**
**जातः स्वयम् अजः साक्षाद् आत्मप्रज्ञप्तये नृणाम् ॥१॥**

अनुवाद : **तत्त्वोंकी गणनाके समर्थ भगवान् कपिल अजन्मा होनेके बावजूद अपनी मायासे स्वयं प्रकट हो कर अपना ज्ञान सभी लोगोंको प्रदान किया ॥१॥**

विवेचन : कपिल मुनि किसी कर्मबंधनके कारण नहीं जन्मे थे, अपनी मायासे जन्मे थे. अज होनेपर भी जन्मे थे और उनके जन्म लेनेका कारण था कि लोग समझ सकें कि भगवान् कैसे हैं.

यहां मायासे प्रकट होनेका अर्थ समझ लें. 'माया' मानें शक्ति. वे अपनी शक्तिसे देवहूतिको अपनी माँ बना कर प्रकट हुए. माँ-बापकी शक्तिसे प्रकट नहीं हुए. उन्हें जन्म लेना था, इसलिए वे माँके गर्भमें आये. एक शेर है *लाई हयात आये कज़ा ले चली चले, अपनी खुशी न आये न अपनी खुशी चले.* माँ-बापके दांपत्यके कारण मैं इस दुनियामें आया हुं, कोई अपनी खुशीसे तो आया नहीं हूं और जब मौत ले जायेगी तो चला जाऊंगा. न अपनी खुशीसे आया और न अपनी खुशीसे जाऊंगा. यह आने-जानेका एक प्रकार है और प्रसन्नतासे आने-जानेका भी एक प्रकार तो हो ही सकता है. जैसे घोड़ागाड़ीका घोड़ा उसके सवारकी मर्जीपर चलता है. अपने आने-जानेमें स्वतंत्र नहीं है पर जंगली घोड़ा अपनी मर्जीका मालिक है. इसी प्रकार कपिलजी इस शेरके बिल्कुल विपरीत हैं. वे अपनी खुशीसे आये और अपनी खुशीसे गये. यह स्वमायाका अर्थ है ॥१॥

**मैत्रेयः उवाच**

श्लोक :

**पितरि प्रस्थिते अरण्यं मातुः प्रियचिकीर्षया।।**
**तस्मिन् बिन्दुसरे अवात्सीद् भगवान् कपिलः किल।।५।।**

अनुवाद : **पिता कर्दम ऋषिके वनप्रस्थानके बाद माताको प्रसन्न करनेकी इच्छासे उसी बिन्दुसरोवरके तटपर भगवान् कपिलने निवास किया था।।५।।**

विवेचन : कर्दम ऋषि जब वानप्रस्थ ले कर निकल गये, तब माँको प्रसन्न करनेके लिए कपिलजी बिन्दुसरमें रहे थे. बिन्दुसर पाटनके पास गुजरातमें है. अब तो वहां बहुत छोटासा कुंड जैसा रह गया है, पहले वहां सरोवर था।।५।।

श्लोक :

**तम् आसीनम् अकर्माणं तत्त्वग्रामाग्रदर्शनम्।।**
**स्वसुतं देवहूतिः आह धातुः संस्मरती वचः।।६।।**

अनुवाद : **तत्त्वग्रामके पारदर्शी अनुभवमें परायण होनेसे कोई भी कर्ममें प्रवृत्त नहीं हुए ऐसे अपने आत्मजको देवहूतिने, विधाताके वचनको याद करके प्रश्न किया।।६।।**

विवेचन : वह अकर्मा थे, बैठे रहते थे. अपने अकेलेपनका मजा लेते थे. तत्त्वका जो ग्राम है; साधारणतया हम ग्रामका अर्थ गांवसे लेते हैं. पर 'ग्राम'का सही अर्थ है समूह अथवा समुदाय. जैसे 'स्वरग्राम' मानें सात स्वरोंका समूह. एक खरजग्राम, दूसरा मध्यग्राम और तीसरा गन्धारग्राम. इस प्रकार सप्तस्वर 'तीनग्राम' कहा गया है. गांवको भी ग्राम इसलिए कहा गया है क्योंकि वहां घरोंका समूह होता है. 'तत्त्वग्राम' मानें तत्त्वोंका समूह. हर परिवारमें एक-न-एक

ऐसा व्यक्ति होता है जिसे अपने पूरे परिवारके, पूरे गांवके बारेमें पता होता है कि कौन किसका लड़का है, कौन किसका चाचा-भतीजा है. कई ऐसे भी होते हैं कि जिनको माँ-बापके आगे कुछ पता ही नहीं होता. इस तरह कुछ लोग तत्त्वग्रामदर्शी होते हैं.

हमारे घरके पास एक व्यक्ति रहता है. उसका नाम मैंने सीबीआई रखा है. अब तो वह मेरे पास नहीं आता. पर जब आता था तो उसके पास केवल यही बात थी. एक दिन रातको आ कर बोला "आपको खबर है कि संजय गांधीने इन्दिरा गांधीको कल रात दो बजे दो थप्पड़ लगाये हैं." मैंने कहा "आपको कैसे खबर लगी, आप तो बम्बईमें रहते हैं." बोला "सारी खबर मिलती है." यह है 'ग्रामाग्रदर्शनम्'. आप कोई भी बात पूछें, किसीके बारेमें कुछ कहें तो उसके नजदीकी कोई तो कहानी उसके पास मौजूद होगी ही. इसी प्रकार कपिलजीको तत्त्वोंके बारेमें पूरा ज्ञान था कि कौनसा तत्त्व किसमेंसे निकला. मेरे दादाजीको भी ऐसा ही था. कोई भी आये तो उसके पूरे परिवारके बारेमें उनको पता होता था. और मुझे तो उस व्यक्तिकी भी याद नहीं रहती. कपिलऋषि तत्त्वग्रामके अग्रदर्शी हैं. उनको ठीकसे पता रहता है कि कौनसे तत्त्वका ग्राम है. **"स्वसुतं देवहूतिः आह धातुः संस्मरती वचः"** क्योंकि ब्रह्माजीने देवहूतिको वरदान दिया था कि तेरा पुत्र तेरा उद्धार करेगा. इसलिए पुत्र होनेके बाद उसे लगा कि यही मेरा उद्धार करेगा. इस कारण उसने अपने पुत्रसे पूछा॥६॥

**(माता देवहूतिकी जिज्ञासा और श्रीकपिलदेवद्वारा उपदेशका उपक्रम)**

**देवहूतिः उवाच**

श्लोक :

**निर्विण्णा नितरां भूमन्! असदिन्द्रियतर्पणात्॥**
**येन सम्भाव्यमानेन प्रविष्टा अन्धन्तमः प्रभो!॥७॥**

अनुवाद : **देवहूति बोलें, असद्वासनावाली इन्द्रियोंको मैं खुश रखना नहीं चाहती. क्योंकि उसके कारण तो अन्धन्तममें प्रवेश कर जानेकी संभावना प्रबल हो जाती है।।७।।**

विवेचन : इन इन्द्रियोंको संतुष्ट करनेमें मेरी अब कोई रुचि रह नहीं गयी है. मुझे अच्छा सुनायी दे अथवा खराब, मुझे अच्छी गंध आये अथवा खराब, अच्छा स्वादिष्ट खानेको मिले अथवा खराब, इन सब बातोंमें मेरी कोई रुचि रह नहीं गयी है. मैं निर्विण्णा हूं मानें इनसे असंलग्न हूं. **असदिन्द्रियतर्पणात्** मानें जो इन्द्रियोंको संतुष्ट करनेका असद् प्रकार है उससे मैं असंलग्न हूं. **येन सम्भाव्यमानेन प्रविष्टा अन्धन्तमः प्रभो** असद् इन्द्रियोंके तर्पणसे अपनी चेतना अंधकारमें जाने लगती है.

गीतामें भी भगवान् कहते हैं कि **''या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी, यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः''** (भग.गीता २।६९) दो तरहके पक्षी होते हैं. एक दिनमें विचरण करनेवाले और एक रातमें. इसी प्रकार दो प्रकारके जानवर होते हैं. एक दिनमें विचरण करनेवाले और एक रातमें. किसीके लिए दिन निशाका काम करता है और किसीके लिए निशा दिनका काम करती है. इसी प्रकार मनुष्योंमें भी दो प्रकारकी मनोवृत्ति काम करती है. कोई रातमें जागता है और कोई दिनमें. आजकल तो लगभग सभी बच्चे रातमें ही मोबाइल ले कर जागते रहते हैं. **येन सम्भाव्यमानेन प्रविष्टा अन्धन्तमः प्रभो** मुझे ऐसा लगता है कि मैं इन असद् इन्द्रियोंके कारण अन्धकारमें जा रही हूं. गीताके हिसाबसे अन्धकार और उजाला प्राणीकी आवश्यकतापर निर्भर करता है. जैसे उल्लूको दिनमें दिखायी नहीं देता और कौएको रातमें. ग्रीकमें उल्लूको बहुत बड़ा दार्शनिक कहा जाता है. He is a great philosopher like an owl. जहां कोई नहीं देख सकता वहां उल्लू देख सकता है. इसी प्रकार

जहां किसीके विचार नहीं पहुंच सकते वहां दार्शनिक देख सकता है. और हम कहते हैं, क्योंकि उल्लू दिनमें नहीं देख सकता इस कारण वह मूर्ख है. अब यह सापेक्ष बात हो गयी कि उल्लूको मूर्ख माना जाये अथवा दार्शनिक. अपने-अपने द्रष्टिकोणसे बात अलग-अलग दिखायी देगी. इसी प्रकार देवहूति कह रही है कि **''अन्धन्तममें प्रविष्ट हो रही हूं''** ॥७॥

श्लोक :

**तस्य त्वं तमसो अन्धस्य दुष्पारस्य अद्य पारगम्॥**
**सच्चक्षुः जन्मनाम् अन्ते लब्धं मे त्वदनुग्रहात्॥८॥**

अनुवाद : **उस अपार अन्धन्तमको आप पार करनेवाले हो. आज आपके अनुग्रहसे मुझे सच्ची दृष्टि मिलि है ॥८॥**

विवेचन : और क्योंकि तू सभी तत्त्वग्रामोंको देख सकता है और मुझे पृथक् करके दिखला सकता है कि अन्धकारके उसपार मैं किस प्रकार जा सकती हूं. **'पारगम्'** मानें पार ले जानेवाला. **चक्षुः जन्मनाम् अन्ते लब्धं मे त्वदनुग्रहात्.** तेरे अनुग्रहसे ऐसी आंख उपलब्ध हुयी हैं कि जो अब अन्धेरेमें जाना नहीं चाहतीं. **''तमसो मा ज्योतिर् गमय, मृत्योर् मा अमृतम् गमय''** मुझे अब उजालेकी ओर ले चलो॥८॥

श्लोक :

**यः आद्यो भगवान् पुंसाम् ईश्वरो वै भवान् किल॥**
**लोकस्य तमसो अन्धस्य चक्षुः सूर्यइव उदितः॥९॥**

अनुवाद : **आप सचमुचमें मानवीओंके आदि ईश्वर ऐसे भगवान्, अन्धकारसे अन्धे लोकमें आप चक्षुरूप; एवं सूर्यरूप जैसे उदित हुए हो॥९॥**

विवेचन : अपने पुत्रकी स्तुति करते हुए कहती हैं कि आपके अनुग्रहसे मुझे ऐसी दृष्टि प्राप्त हुयी है. और जो ईश्वर है, वह तो तू ही है. **लोकस्य तमसो अन्धस्य चक्षुः सूर्यइव उदितः** जिन लोगोंकी आंख अन्धकारके कारण अन्धी हो गयी हैं, उनको प्रकाशित करनेके लिए तू सूर्यरूपमें मेरे घरमें उत्पन्न हुआ है॥९॥

श्लोक :

**अथ मे देव! सम्मोहम् अपाक्रष्टुं त्वम् अर्हसि॥**
**यो अवग्रहो 'अहं-मम' इति एतस्मिन् योजितः त्वया॥१०॥**

अनुवाद : **हे देव! इसलिये मेरेमें प्रकट हुए संमोहनको आप ही दूर कर सकते हो. क्योंकि यह शरीरमें 'अहंता'-'ममता'का मेरा आग्रह बंध गया है॥१०॥**

विवेचन : इस कारण मेरा जो सम्मोह है उसे तू ही दूर कर सकता है. मोह क्या है? तो कहते हैं **यो अवग्रहो 'अहं-मम'इति एतस्मिन् योजितः त्वया** समस्या यहां ये है कि इस प्रकारकी दो घटनाएं आती हैं. एक याज्ञवल्क्य कात्यायनी और मैत्रेयी की है. और दूसरी देवहूति और कपिलमुनि की. याज्ञवल्क्यकी दो पत्नी थी. एक कात्यायनी और दूसरी मैत्रेयी. याज्ञवल्क्यने एक दिन कहा कि वह घरसे जा रहे है. जाते समय उन्होंने मैत्रेयीसे कहा "मैं अब वनकी ओर प्रस्थान कर रहा हूं, इसलिए अपनी संपत्तिके दो भाग कर रहा हूं. दोनों भाग बराबर तुम दोनोंके लिए हैं. अब मुझे जानेकी अनुमति दो." इस बात पर मैत्रेयीने उनसे कहा "यदि आप मुझे अपनी अर्धांगिनी मानते हैं तो जिस संपत्तिको आप छोड़ रहे हैं, उसमें ही मेरा भाग क्यों? जिस संपत्तिको आप पाने जा रहे हैं, उसमें मेरा भाग क्यों नहीं? जिस संपत्तिको आप छोड़ रहे हो, उसे आप पूरा कात्यायनीको दे दों. मुझे उसकी कोई आवश्यकता

नहीं है.'' याज्ञवल्क्य कहते हैं कि ''तेरा केवल नाम ही मैत्रेयी नहीं है, तू बात भी मैत्रीकी ही कर रही है.'' उसके बाद उन्होंने मैत्रेयीजीको ब्रह्मज्ञानका उपदेश दिया. पहली कथा यह थी जो लगभग इसी प्रकारकी स्थितिकी है. यहां भी वैसी ही स्थिति है पर वह माँ-बेटेके बीच है. क्योंकि कपिलको भी वैराग्य लेना है. पति कर्दमऋषि तो चले गये. अब पुत्र जानेको कह रहा है. यहां माँ पूछ रही है कि ''मेरा अपने पुत्र मानें आपमें माँ होनेका जो मोह है, वह सत्य है कि मिथ्या है? और यदि तू भगवान् भी है तो भगवान्में मोह सच्चा है कि झूठा है?'' वैसे तो जगत्में नहीं पर भगवान्में तो मोह होना चाहिये. अब यदि भगवान् ही पुत्ररूपमें प्रकट हुआ हो तो उसमें मोह सच्चा कि झूठा, इस परिस्थितिका उत्तर नहीं मिल रहा है.

इसमें दुविधा यह आ रही है कि जीवात्माका परमात्माके प्रति मोह तो हो सकता है पर यदि परमात्मा किसीके घर पुत्र बन कर प्रकट हुआ है तो इस परिस्थितिमें उनके बीच माँ-बेटा होनेके कारण मोह होना चाहिये कि नहीं? इस कारण देवहूतिको लग रहा है कि कुछ यहां अन्धकार है. उसके अंदर यह अन्तर्द्वन्द्व चल रहा है कि उसे कपिलका मोह करना चाहिये कि नहीं! यही बात उनसे पूछ रही है. ऐसा नहीं है कि यह देवहूतिकी ही समस्या है. हम सभी इसी दुविधामें हैं.

एक मजाकका श्लोक है, शास्त्रका नहीं है, इसलिए इसे हल्केसे ही लेना. कविने इसमें आक्षेप किया है. ''मनसा निर्मितं पापं, मयि मा आरोपय अच्युत! इन्द्रियाणां मनश्च अस्मि त्वयैव कथितं पुरा.'' कवि कहता है कि भगवान् गीतामें समझा रहे हैं कि ''जगत्में जो भी कोई श्रेष्ठ है, वह मैं हूं. हाथियोंमें मैं ऐरावत हूं. आयुधोंमें मैं वज्र हूं.'' ऐसा कहते-कहते भगवान् आगे यह कह गये कि

"इन्द्रियोंमें मैं मन हूं." जहां भी मन जाता है वहां इन्द्रियोंको घिसट कर जाना पड़ता है. मनके ऊपर इन्द्रियोंका नियंत्रण नहीं है. मनका इन्द्रियोंपर नियंत्रण होता है. भगवान् यह कहना चाह रहे हैं कि "जिसका नियंत्रण है, वह ईश्वर है अर्थात् मैं हूं." कवि यह कह रहा है कि "मेरे मनसे जो भी गड़बड़ हो रही है वह मेरी नहीं, तेरी ही गड़बड़ है." लगभग इसी प्रकारकी बात देवहूति कह रही है कि "मैं माँ हूं और तू मेरा पुत्र है, ऐसा विचार मेरे मनमें पैदा किसने किया?" अब यदि केवल माँ-बेटेका संबंध हो तो यह विचार माँका ही होगा. परन्तु जीवात्मा और परमात्मा का संबंध हो तो सिस्टम् पैदा करनेवाला तो भगवान् है. और उस सिस्टम्का उपभोग मात्र करनेवाली जीवात्मा है. तो अहंकार और ममता देनेवाला भी तो भगवान् ही है. "अब तेरी बनायी हुयी सिस्टम्से मुझे तुझमें मोह हो रहा है और तू कह रहा है कि सबकुछ त्यागने योग्य है. इनमें क्या तेरी बनायी हुयी सिस्टम्में गलती है अथवा मेरे समझनेमें कोई गलती है! इस बातका मुझे उत्तर चाहिये." माँकी दुविधा बहुत गहरी है. **"यो अवग्रहो 'अहं-मम'इति एतस्मिन् योजितः त्वया"** "इस शरीरमें इस प्रकारकी व्यवस्था मैंने तो नहीं बनायी, तूने ही बनायी है. अब तेरी बनायी व्यवस्थाको मैं तेरे लिए ही उपयोगमें ला रही हूं, तो तू कह रहा है कि त्याग करना चाहिये. यह अहंता-ममता अच्छी नहीं है, तो सत्य क्या है, यह मुझे समझ नहीं आ रहा है. मेरे इस संशयको दूर करो." इस प्रश्नको सुननेसे तो लगता है कि देवहूति अत्यधिक बुद्धिमान थी॥१०॥

श्लोक :

**तं त्वा गता अहं शरणं शरण्यं**
**स्वभृत्यसंसारतरोः कुठारम्॥**
**जिज्ञासया अहं प्रकृतेः पूरुषस्य**
**नमामि सद्धर्मभृतां वरिष्ठम्॥११॥**

अनुवाद : **आपके शरणमें आये होनेके कारण जिनका भरण करना हो उनके लिये आप संसार-तरु-कुठार रूपी हो. इसलिये मुझे प्रकृति और पुरुष की जिज्ञासा होनेके कारण सद्धर्मोके भरण करनेवालोंमें श्रेष्ठ ऐसे आपकी शरणागति नमनपूर्वक स्वीकार करती हूं।।११।।**

विवेचन : अब मैं तेरी शरण हुं. मुझे तू ही बता कि सत्य क्या है? **स्वभृत्यसंसारतरोः कुठारम्** 'भृत्य'का सीधा अर्थ तो नौकर है. पर इसका दूसरा भी अर्थ है आश्रित. आश्रय देनेवाला 'भर्ता' कहलाता है. देवहूति कह रही है "अहंता-ममतात्मक आश्रित संसार रूपी जो वृक्ष है, उसे काटनेवाला तो तू है और तू ही मुझे छोड़ कर जानेकी बात कर रहा है, तो जानेसे पहले मेरे इस संशयको दूर करके जा." **जिज्ञासया अहं प्रकृतेः पूरुषस्य नमामि सद्धर्मभृतां वरिष्ठम्** "प्रकृति और पुरुष की मुझे जिज्ञासा है. सत्-धर्मका जो भरण करता है, उसमें तू वरिष्ठ है, इसलिए नमस्कार करके मैं तुझसे यह प्रश्न पूछ रही हूं." ॥११॥

**मैत्रेयः उवाच**

श्लोक :

**इति स्वमातुः निरवद्यम् ईप्सितं**
**निशम्य पुंसाम् अपवर्गवर्धनम्।।**
**धिया अभिनन्द्य आत्मवतां सतां गतिः**
**बभाष ईषत् स्मितशोभिताननः ।।१२।।**

अनुवाद : **मैत्रेय बोले, ऐसे माताके निर्दोष वचनोंमें प्रकट हुई अभिलाषाको सुनके, लोगोंको अपवर्ग प्रदान करनेवाले कपिल भगवान्, अपनी बुद्धिसे माताको अभिनन्दित करके सभी आत्मवानोंकी गति समझाने लगें. तब उनके मन्दस्मितके कारण उनका मुख**

अतिशय शोभित हो गया।।१२।।

विवेचन : 'ईप्सितं' मानें अभिप्राय. माँके अभिप्रायमें कोई दोष नहीं है. बहुत बार हम किसीपर दोष भी लगाते हैं तो अपना दोषारोपणका भाव नहीं होता और बहुत बार प्रशंसा भी करते हैं तो उसमें दोषारोपणका भाव होता है. जब मैं बड़े मंदिरमें रहता था तो वहां नीचे एक इत्र बेचनेवाला रहता था. वह इतना बदमाश था कि जब भी कोई नया इत्र लाता तो सबसे पहले मेरे पास आता और कहता "श्यामबाबा, नया आया है, आप इसे रखो." मैं कहता "नहीं मुझे अभी नहीं चाहिये." तो कहता "अरे, आप रख लो. पता नहीं फिर ऐसा मिलेगा कि नहीं!" मैं कहता "पर मेरे पास अभी पैसे नहीं हैं." "पैसेकी कोई चिंता नहीं है. जब आपके पास हो तब दे देना." उसके बाद अगले ही दिनसे जब भी मैं उधरसे निकलूं तो बोले "जै-जै, नमस्कार!" उसका नमस्कार करना बहुत चुभता था. जब-तक उसके पैसे चुका न दूं तब-तक वह नमस्कार करना चूकता नहीं था. पैसे माँगता नहीं था पर उसके नमस्कारमें भी यही अभिप्राय झलकता था. इस तरह किसीका नमस्कार भी हमको बुरा लगने लगता है और किसीकी गाली भी हमको बुरी नहीं लगती. इसी तरह देवहूतिने भी बहुत ही चुभती हुयी बात यहां की है. कोई भी पुत्र हो ऐसी बात उसके हृदयमें सीधी चुभ जाये, ऐसी बात उसने की है. पर कपिलमुनिने कहा "नहीं यह बहुत ही अच्छी बात है. लोगोंको इसके उत्तरसे मुक्तिका मार्ग मिलेगा, इसलिए यह उत्तम बात है." 'अपवर्ग' मानें मुक्ति. 'वर्ग' मानें धर्म अर्थ और काम. जिस वस्तुसे इन तीनोंका वर्ग निकल जाये, उसे 'मुक्ति' कहनेमें आता है. ऐसा कहनेका कारण समझो. जहां-तक आपको कोई कामना है, वहां-तक उसे पूरा करनेके लिए आपको कोई अर्थ तो कमाना ही होगा. और उस अर्थ कमानेके लिए धर्म आपको निर्देश देता है कि किस प्रकार वह अर्थ कमाना.

ये तीनों एक त्रिकोण बनाते हैं. जो इस त्रिकोणसे आपको छुड़ाये वह 'अपवर्ग' मानें मुक्ति. उदाहरणके लिए समझो कि मुझे भूख लगी है. उस भूखको शांत करनेके लिए मुझे पैसे चाहिये. अब पैसे कमानेके लिए किसीकी जेब काटनी अथवा मेहनत करनी. क्या करना? यहां धर्मका क्षेत्र आ जाता है. धर्मका विषय तब ही आता है जब अपनी कामपूर्तिके लिए हम रास्ता चुनते हैं. नियमके दायरेमें रह कर कामपूर्ति धर्म है. **निशम्य पुंसाम् अपवर्गवर्धनम्** पुरुषोंके लिए अपवर्ग बढ़ानेवाला, जो माँके वचन थे उनको सुन कर **धिया अभिनन्द्य आत्मवतां सतां गतिः** पुत्रको माँकी यह बात अत्यंत अभिनंदनीय लगी. सत् आत्मवान है. प्रत्येक व्यक्ति आत्मवान है पर कोई असत् होनेके कारण भी आत्मवान होता है. यहां सत् आत्मवानके बारेमें कहा जा रहा है. आत्मा डायनेमा जैसी है, गाड़ी अच्छी चलाओ अथवा खराब, डायनेमा तो चलता ही है. असत् पुरुषकी आत्मा उसे असत् मार्गपर ले जाती है और सत्पुरुषकी आत्मा उसे सत्मार्गपर ले जाती है. **बभाष ईषत् स्मितशोभिताननः** थोड़ा मुस्कुरा कर उन्होंने देवहूतिसे कहना प्रारंभ किया. वह यह सांख्य-शास्त्र है. यहां बीचमें महाप्रभुजीकी एक कारिका आती है॥१२॥

**( योगानुसार शास्त्रार्थ निरूपण )**

**( सुबोधिनीकारिका )**

**सांख्ये परित्यागो नित्यइति तद् अनुक्त्वा अंगत्वेन च तद् वक्ष्यामि इति विचार्य योगानुसारेणैव शास्त्रार्थम् आह 'योग...' इत्यादिपंचदशभिः :**

अनुवाद : सांख्यसाधनोंमें परित्याग अपरिहार्य होता है. इसलिये सांख्यसाधनोंका सीधा उपदेश न दे कर, उसको योगसाधनाके अंगरूपमें कहे गये होनेके कारण यहां योगशास्त्रके अनुसार आगे आनेवाले पंद्रह श्लोकोंसे उपदेश दिया है.

विवेचन : तत्त्वग्रामदर्शनके हिसाबसे जो माँका प्रश्न है उसका दो

रूपमें उत्तर दिया जा सकता है. एक सांख्य-शास्त्रके उपदेशसे और दूसरा योग-शास्त्रके उपदेशसे. सांख्यके हिसाबसे यदि उत्तर देना हो तो कपिल कहते ''तेरा मुझमें पुत्रकी तरह प्रेम करना मिथ्या है और तेरा माता होनेका अहंकार भी मिथ्या ही है.'' लेकिन ऐसे वचन पुत्रके मुंहसे बहुत ही चोट पहुंचानेवाले होते. इसलिए कपिलजीने यह सोचा कि इस समय ऐसा कोई भी सिद्धांत माँको समझाना बहुत शीघ्रता होगी. इस कारण यह ठीक होगा कि पहले माँको योग समझाया जाये. योग समझनेके बाद सांख्य चोट नहीं पहुंचायेगा. और प्रश्न भी बहुत ही दुविधाकी स्थितिमें देवहूतिने किया है. एक रूपमें वह प्रश्न नहीं कर रही है. दो रूपसे कर रही है. एक माँ होनेके रूपमें और दूसरा जीवात्मा होनेके रूपमें. उसने एक संकेत भी दिया है कि अहंता-ममताकी अकेली वही जिम्मेदार नहीं है, कपिल जो कि भगवद्रूप ही हैं, वे भी जिम्मेदार हैं. ऐसी परिस्थितिमें सांख्यका उपदेश आघातपूर्ण हो जाता. इस कारण अपने आपपर कैसे नियंत्रण किया जाये, यह समझाना पहले उन्हें उचित लगा. एक बार यह आ जाये कि अपनेपर कैसे नियंत्रण करना चाहिये, उसके बाद सांख्य समझनेमें कोई समस्या नहीं होगी. किसी भी बालकको समझानेकी एक विधि होती है. यदि वह कुछ गलत कर रहा है और आपने उसको कह दिया कि यह गलत है तो उसका किसी भी कामको करनेका उत्साह ही समाप्त हो जायेगा. इसलिए यह कहनेकी अपेक्षा उसे यह समझाया जाये कि सही कैसे करना, तो उसका उत्साह बना रहता है. बालकमें कुछ भी काम करनेकी एक ऊर्जा होती है. उसको सही गलतका तो भेद पता नहीं है पर 'तू गलत कर रहा है', ऐसा कहनेसे उसे अपनी ऊर्जाके प्रति नकारात्मक विचार आने लगता है. उसे यदि यह समझाया जाये कि सही क्या है तो वह अपने आप समझ जायेगा कि गलत क्या है और क्यों है. इससे उसमें नकारात्मक विचार नहीं आयेंगे. यदि आप उसे यह समझायेंगे कि यह गलत है, तो बालकमें यह विवेक

नहीं होता है कि वह गलत है अथवा कार्य गलत है. इससे उसमें अपने प्रति घृणाका भाव जाग्रत हो जाता है, जो उसके स्वस्थ विकासमें आड़े आता है. यह सावधानी हमें रखनी चाहिये. यही सावधानी कपिल ऋषि यहां ले रहे हैं.

मेरे दादाजीके पास दो ड्राइवर् थे. दोनों भाई ही थे. मैं उस समय ड्राइविंग् सीख रहा था. जो बड़ा था वह बहुत शांत था. वह पहलेसे कह देता "देखो बाबा, सामनेसे कार आ रही है, अब आपको यह करना है, ऐसा करना है." यह मुझे अच्छा लगता था. पर वह इतना एक्सपर्ट ड्राइवर् नहीं था. दूसरा जो छोटा था वह बहुत ही बढ़िया ड्राइवर् था. पर वह सिखाते हुए आखिरी लम्हेपर चिल्ला उठता "अरे बाबा, क्या कर रहे हो? ऐसे मत करो." घबरा कर मैं अक्सर गाड़ी ठोक ही देता था. वह एक्सपर्ट था, इसमें तो दो राय नहीं है और शायद इसीलिए उसे पहले चिंता नहीं होती थी. पर आखिरी वक्तमें चिल्लाना, यह एक अच्छे शिक्षकका लक्षण नहीं है. आशा है आप समझ गये होगे. **साङ्ख्ये परित्यागो नित्यः** कहते हैं कि सांख्यमें तो परित्याग ही करना है. यदि माँको यह पहलेसे ही बता दिया जाये तो उसे बहुत चोट पहुंचेगी. **तद् अनुक्त्वा अङ्गत्वेन च तद् वक्ष्यामि इति विचार्य योगानुसारेणैव शास्त्रार्थम् आह 'योगः' इत्यादि पञ्चदशभिः** पर सांख्यका एक अंग योग भी है, तो पहले योग समझाना चाहिये जिससे यह समझ आ जायेगा कि त्याग करना चाहिये कि नहीं. उसके पश्चात् मुझे यह समझानेकी आवश्यकता नहीं होगी कि मेरा वैराग्य उचित है कि नहीं. आपको यदि सत्यका ज्ञान है तो अपने आप ही आपको वैराग्य हो जायेगा.

कारिका :

**योगः प्रशंसारूपेण प्रमाणेनापि वर्ण्यते।।**
**चित्तालम्बनरूपो हि योगस् तत्र प्रतिष्ठितः ।।१।।**

अनुवाद : योगशास्त्रकी प्रशंसा एवं उसके प्रमाण के आधारपर यहां वर्णन हो रहा है. क्योंकि प्रश्न करनेवाली भगवन्माताके लिये चित्तके अवलंबनरूप योग प्रतिष्ठित है॥१॥

विवेचन : माँकी प्रशंसामें योग बता रहे हैं. "माँ तूने बहुत ही अच्छा प्रश्न किया है. योगमें इसका उत्तर इस प्रकार दिया गया है." 'योग'का अर्थ है "'योगः' चित्तवृत्तिनिरोधः" चित्तवृत्तिका निरोध ही योग है. इसका अर्थ है कि आप अपने चित्तको मानें अनकॉन्शियस्-माइन्ड्को नियंत्रित करो. हम अपने कॉन्शियस्-माइन्ड्को तो नियंत्रित कर सकते हैं. उदाहरणके लिए, आप मुझे अपने कॉन्शियस्-माइन्ड्से सुन रहे हो. पर जब मुझे सुन रहे हो तो क्या आपको लगता है कि आपके मनमें और कोई विचार नहीं आ रहा है? ऐसा नहीं है. आपको कई विचार इस बीचमें आते हैं. आपको जो यह विचार आ रहे हैं, अपने सब्-कॉन्शियस् माइन्ड्में, वह आ रहे हैं अन्कॉन्शियस्-माइन्ड्में तुम्हारे कुछ मेरे प्रति पूर्वग्रह हैं. अन्कॉन्शियस्-माइन्ड्में कोई वस्तु तुम्हें अच्छी लगती है, कुछ वस्तु खराब लगती है. आपको पता नहीं चलता पर होता यह है कि आपका अन्कॉन्शियस्-माइन्ड् आपके सब्-कॉन्शियस्-माइन्ड्को नियंत्रित करता है. जिसके कारण जब आप मेरी बात कॉन्शियस्-माइन्ड्से सुन रहे हो तो साथ ही साथ आप यह निर्णय भी कर पाते हो कि मैं ठीक कह रहा हूं या गलत. यह सारी सूचना अन्कॉन्शियस् माइन्ड् सब्-कॉन्शियस् माइन्ड्को भेजता है. इस अन्कॉन्शियस् माइन्ड्को 'चित्त' कहा जाता है. उसके बाद बुद्धि उसका विश्लेषण करती है. इसलिए कह रहे हैं कि **चित्तालम्बनरूपो हि योगः तत्र प्रतिष्ठितः॥१॥**

कारिका :

**अन्तरात्मा स्वयं चित्तम् इन्द्रियाणि तथा तनुः॥**
**वेदे सांख्ये च योगे च शैवे वैष्णवएव च॥२॥**
**मूलरूपाणि शास्त्राणां नियमार्थं निरूपणात्॥**

**आत्मशेषोहि अहंकारः स सांख्ये विनिरूप्यते॥३॥**
**एकीकृत्य मनः चित्तं योगोहि अत्र प्रवर्तते॥**
**ज्ञानक्रियारूपभेदात् शास्त्रार्थे ज्ञानमुख्यता॥४॥**

अनुवाद : वेद सांख्य योग शैवागम या वैष्णवागम रूपी पांचों शास्त्रोंमें एक अन्तरात्मा अहंकार, स्वयंके चित्त, इन्द्रियों; एवं शरीर इतने मूलरूपों साधनाके अंगोंके जैसे नियत होते हैं. सांख्यसाधनामें अहंकार आत्माके अंगतया वर्णित हुआ है. यहां इस योगसाधनाके उपदेशमें मन और चित्त एकवद्भावसे निरूपित किया है. क्योंकि ज्ञान और क्रिया के प्रभेद और उसमें ज्ञानकी प्रमुखताको अनुलक्षमें रख कर॥२-४॥

विवेचन : कहते हैं कि अन्तरात्मा, स्वयंके चित्त, इन्द्रिय और तन पर अपना नियंत्रण होना चाहिये जिससे कि हमारा अपवर्ग हो सके. इस अपवर्गको प्राप्त करनेकी कई प्रक्रिया हैं. एक वैदिक दूसरी सांख्यके द्वारा, तीसरी योगद्वारा, चौथी शैव शास्त्रोंके आधारपर और पांचवीं वैष्णव शास्त्रोंके आधारपर. इन पांच विधियोंसे अपवर्ग प्राप्त किया जा सकता है. इन पांचोंमेंसे कौनसी विधि माँके लिए ठीक रहेगी, यह अब बताने जा रहे हैं॥२॥

**मूलरूपाणि शास्त्राणां नियमार्थं निरूपणात् आत्मशेषोहि अहंकारः सः साङ्ख्ये विनिरूप्यते** यह ऊपर गिनाये गये शास्त्र मूलरूप हैं. शेष सभी शास्त्र इन्हींपर आधारित हैं. **नियमार्थं निरूपणात्**. एक नियम होता है और एक विधि. नियम और विधि का भेद समझो. उदाहरणके लिए आप बैठे हो और मैं आपको कहूं कि "खड़े हो जाओ", तो यह विधि हुयी. क्योंकि आप बैठे हो और आपके पास कोई वजह नहीं है खड़े रहनेकी. पर मैं आपको किसी कारणसे खड़े होनेका निर्देश दे रहा हूं. पर मैं यदि कहूं कि "बैठे रहना.", तो आप तो पहलेसे ही बैठे हुए हो, इस कारण यह 'नियम' कहलायेगा. दोनों ही आज्ञाके रूपमें कहे जाते हैं पर दोनोंमें बहुत

सूक्ष्म भेद है. इसलिए कहा है कि **''अप्राप्तस्य प्रापको विधिः''** (अर्थसंग्रह.४७) **''प्राप्तस्य नियमनार्थं नियमः''** जो आप नहीं कर रहे हो, वह यदि आपसे करवाया जाये तो वह 'विधि' कहलाता है और जो आप कर ही रहे हो उससे आपको करते रहनेका यदि निर्देश दिया जा रहा है तो वह 'नियम' है. इस कारण जितने भी शास्त्र हैं, वे नियमनार्थ हैं. **आत्मशेषोहि अहंकारः सः सांख्ये विनिरूप्यते** और 'अहंकार' मानें अपनी सॅल्फ्-अवेयरनेस्. अपने 'चित्त' मानें अपनी कॉन्शियसनेस्का ही हिस्सा है. इसकी गणना आगे सांख्यमें समझायेंगे कि सॅल्फ्-अवेयरनेस् एक अलग वस्तु है और अपनी कॉन्शियसनेस् एक अलग वस्तु है.

उदाहरणके लिए किसी-किसी सी.सी.टीवी. कॅमेरेमें कॉन्शियसनेस् होती है पर हरेकमें सॅल्फ्-अवेयरनेस्का प्रोग्राम् नहीं डाला जाता. जैसे किसीमें यह जाननेकी बतानेकी क्षमता नहीं होती कि इस व्यक्तिको पहले देखा है कि नहीं. इसका अर्थ है कि उसमें सॅल्फ्-अवेयरनेस् नहीं है. पर आजकल ऐसा प्रोग्राम् भी डाला जाता है कि जिसके जरिये वह यह भी बता देता है कि यह व्यक्ति पहले यहां आया था अथवा नहीं. मानें उसमें सॅल्फ्-अवेयरनेस् है. उसके बाद आती है दूसरेके होनेकी अवेयरनेस्. यदि कॅमेरा किसीको आने या न आनेको कहनेमें सक्षम हो तो इसका अर्थ है कि उसमें यह सुविधा भी है. इसको अब यों समझें कि दूसरेके होनेकी अवेयरनेस् तभी होगी जब सॅल्फ्-अवेयरनेस् होगी. और सॅल्फ्-अवेयरनेस् तब होगी जब कॉन्शियस्नेस् होगी. इसके लिए ही कहते हैं कि **आत्मशेषोहि अहंकारः सः सांख्ये विनिरूप्यते** इन तीनोंका विश्लेषण सांख्यमें समझाया जायेगा॥३॥

**एकीकृत्य मनः चित्तं योगोहि अत्र प्रवर्तते ज्ञानक्रियारूपभेदात् शास्त्रार्थे ज्ञानमुख्यता** योगकी प्रक्रिया समझा रहे हैं कि योग मन और चित्त को एकीकृत करनेका नाम है. यदि आप अपने मनको ही

नियंत्रित नहीं कर सकते तो चित्तको किस प्रकार कर पायेंगे? तो प्रारंभमें आपको अपने मन मानें कॉन्शियस्-माइन्ड्पर नियंत्रण करना होगा. इससे आप धीरे-धीरे अपने चित्त मानें अन्-कॉन्शियस्-माइन्ड्को नियंत्रित कर पायेंगे. उदाहरणके लिए समझो कि हमसे कुछ गलती हो जाती है. वह होती है अपने अन्-कॉन्शियस्-माइन्ड्से क्योंकि कॉन्शियस्-माइन्ड्से तो कोई बदमाश ही गलती करेगा. अब इसे नियंत्रणमें किस प्रकार लाना? तो उसके उपायके लिए बताया जाता है कि जो भी आपसे अनजानेमें गलती हो, उसे जान कर मानें कॉन्शियस्-माइन्ड्से कई बार बोलो. तो धीरे-धीरे उस गलतीका संबंध आपके अन्-कॉन्शियस्-माइन्ड्से हट कर कॉन्शियस्-माइन्ड्के साथ हो जायेगा. उसके बाद आप अन्-कॉन्शियस्-माइन्ड्से भी वह गलती नहीं करोगे. क्योंकि वह बात आपके अन्-कॉन्शियस्-माइन्ड्के लेवलसे हट कर कॉन्शियस्-माइन्ड्पर आ गयी है. यदि आपको कोई ऐसा सपना आ रहा है कि जो आपको अच्छा नहीं लगता. पर बार बार वह सपना आ कर आपको परेशान करता है. तो उसका उपाय है कि सोनेसे पहले आप उसी बातका ध्यान करो. दस दिन ऐसा करोगे तो वह सपना आना बंद हो जायेगा. क्योंकि मनको तो वह चाहिये जो आपके पास है नहीं. जब आप सो जाते हो तो आपका कॉन्शियस्-माइन्ड् सो जाता है पर सब्-कॉन्शियस्-माइन्ड् स्वतंत्र हो जाता है और आपको उसी तरफ ले जाता है, जहां आप नहीं जाना चाहते. मन बिल्कुल छोटे बालकके समान है. इसे यदि आप किसी कामके लिए मना करेंगे तो वह उतना ही अधिक करेगा. उसे एक बार वह काम पूरा करने दो तो वह थक कर अपने आप सो जायेगा. इसी प्रकार मनका स्वभाव भी है. जो भी चीज आपको अन्-कॉन्शियसली परेशान कर रही है, उसे कॉन्शियसली दो तीन बार कर लो. वह अपने आप कॉन्शियस्-माइन्ड्के लेवल्पर आ जायेगी और आपका उसपर नियंत्रण हो जायेगा. क्योंकि अन्-कॉन्शियस्-माइन्ड्के ऊपर तो आपका नियंत्रण है नहीं.

इस प्रकार योग आपके चित्त और मन को एकाकार करता है. मनको नियंत्रित चित्त करता है. पर उस मनको यदि आप नियंत्रित करने लगते हैं तो वह थक कर चेतनासे संदेश लेना बंद कर देता है और चित्त आपके नियंत्रणमें आ जाता है. यह पूरी योगकी प्रक्रिया है. इसका बहुत विस्तारसे वर्णन यहां किया गया है. **ज्ञानक्रियारूपभेदात् शास्त्रार्थे ज्ञानमुख्यता** योगकी दो पद्धति हैं, पहली क्रियायोग और दूसरी ज्ञानयोग. मानें एक बौद्धिक और दूसरी क्रिया पर आधारित. किसी परिस्थितिमें हमें अपने बौद्धिक स्तरपर योगकी आवश्यकता होती है और किसी परिस्थितिमें हमें क्रियाकी आवश्यकता होती है॥४॥

कारिका :

**अतः चित्तं पुरस्कृत्य योगम् आह हरिः स्वयम्॥**
**चित्तस्य रूपभेदः च यच्च रूपम् इह उचितम्॥५॥**
**तादृशस्य फलं चापि साधनानि बहूनि च॥**
**तत्रापि एकस्य निर्धारः तस्य साधनमेव च॥६॥**

अनुवाद : अतः चित्त और उसके भिन्न-भिन्न रूपों और उस पैकी यहां जैसे रूपमें चित्तका साधनार्थ परिग्रह उचित है वैसे सबसे पहले चित्तको अनुलक्षमें रख कर हरि स्वयं योगसाधनाका उपदेश देना चाह रहे हैं॥५॥

वैसी साधनाका फल और उनके अनेक उपायों, उसमें भी किसी एकके ऊपर भार देके निर्धारित कर देना कि जिससे केवल उन्हीं उपायोंका उपदेश दे सके॥६॥

विवेचन : अब चित्त और मन के एकीकरणके बाद भगवान्ने चित्तके लिए योगका वर्णन किया. चित्तके जो रूपभेद है मानें उसके विभिन्न पहलु, उसके फल, और उसके अनेक साधन, उन सभीका निरूपण भगवान् कपिलने यहां बताया है. इस प्रकार जितनी भी संभावनाएं उसमें हो सकती हैं उन्हें बता कर एकका निर्धार किया॥५-६॥

कारिका :

**तस्यापि विषयः प्रोक्तः चतुर्भिः षोडशात्मकः ।।**
**तस्य साधनतारूपं तथात्वं मोक्षसाधने ।।**
**बलिष्ठात्तु फलं सिध्येत् तस्माद् इति विनिर्णयः ।।७।।**

अनुवाद : उस उपायोंका भी विषय आगे आनेवाले चार श्लोकोंसे सोलह प्रकारसे निरूपित करेगें. उन उपायोंका साधन होनेका रूप मोक्षोपायके रूपमें अभिलषित है. उनको यदि प्रबल करनेमें आये तो उससे फल सिद्ध होनेसे उसका ऐसा विशेष निर्णय करनेमें आया है।।७।।

विवेचन : इस प्रकार चार श्लोकोंसे इसके सोलह प्रकार बताये. मोक्षप्राप्तिका साधन इसे बता कर कहा कि इनमेंसे जो भी बलिष्ठ हो जाता है उसीसे मोक्ष प्राप्त होगा. इस प्रकार इस भूमिकाके आधारपर कपिलजीने देवहूतिको योगकी शिक्षा दी।।७।।

**( भक्तियोगका उपक्रम )**
**श्रीभगवान् उवाच**

श्लोक :

**योगः आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे ।।**
**अत्यन्तोपरतिर् यत्र दुःखस्य च सुखस्य च ।।१३।।**

अनुवाद : **भगवान्ने कहा, मनुष्यके कल्याणके लिये आध्यात्मिक योग हो ऐसा मेरा मत है. ऐसे योगके कारण दुःख और सुख दोनोंका आत्यन्तिक उपरम हो जाता है।।१३।।**

विवेचन : योगके तीन प्रकार हैं. आधिभौतिक आध्यात्मिक और आधिदैविक. बहुतसे लोग योगको केवल आध्यात्मिकतासे जोड़ते हैं पर ऐसा है नहीं. योगके आधिभौतिक प्रकार भी होते हैं. मूलमें 'योग'का अर्थ है युजिर् = योगे. किसी वस्तुके साथ जुड़ना 'योग'

कहलाता है. पर आप जुड़ किसके साथ रहे हैं, इसपर योगका प्रकार निर्भर होगा. आधिभौतिक वस्तुओंके साथ आप यदि जुड़ रहे हो तो योग आधिभौतिक हो जायेगा. आध्यात्मिकताके साथ जुड़ रहे हो तो योग आध्यात्मिक हो जायेगा और देवके साथ यदि आप जुड़ रहे हैं तो योग आधिदैविक हो जायेगा. इस प्रकार योगके तीन प्रकार हो सकते हैं. और इसमें भी प्रशस्त और अप्रशस्त, ऐसे दो भेद करें तो योगके छह प्रकार तो वैसे ही हो जाते हैं. 'प्रशस्त' मानें जो वर्णन करने योग्य हो और 'अप्रशस्त' मानें जो वर्णन करने योग्य न हो. देखो, आधिदैविक योग प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकारका हो सकता है. आध्यात्मिक योग भी प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकारका हो सकता है और आधिभौतिक योग भी प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों प्रकारका हो सकता है. योग है तो सारा अच्छा ही है अथवा पूरा खराब ही है, ऐसा कहनेका कोई कारण नहीं है. योगके अच्छे अथवा बुरे होनेका तो निश्चय तभी लिया जा सकेगा जबकि हमें पता हो कि यह योग जो हम कर रहे हैं, वह प्रशस्त है अप्रशस्त है आधिभौतिक है आध्यात्मिक है अथवा आधिदैविक है. आज-कल योगकी बहुत हवा चल रही है, इसीलिए मैं ऐसा कह रहा हूं. कॅटेगिरीमें तो यही योगके छह प्रकार हैं. पर विषयात्मक प्रभेद करें तो योगके असंख्य भेद हो सकते हैं. बहुतसे स्थानोंपर आधिदैविकसे आध्यात्मिक योगको उत्तम मानते हैं. इसके पीछे रहा हुआ कारण यह है कि वे लोग देवसे अधिक आत्माको उत्तम मानते हैं. और एक सिद्धांत ऐसा भी है कि देव आत्मासे उत्तम है.

उदाहरणके लिए तंत्र-शास्त्रके दो भेद हैं, वाम-तंत्र और दक्षिण-तंत्र. वाम-तंत्रमें पंच 'म'कारकी उपासनाका योग है. पंच-'म'कार मानें मांस मत्स्य मुद्रा मैथुन मद्य. वे लोग मैथुनमें (सॅक्समें) भी योग देखते हैं. जैसे भगवान् रजनीश कहता था 'सम्भोगसे समाधि'. मांस खानेसे

मिलता योग. मांस भी मुर्देका. पहले जो आनंदमठ था वहां मनुष्यकी खोपड़ीमें भोजन करते थे. यह भी एक प्रकार है योगका. आपको सुननेमें भी नफरत हो रही है पर उनको उसमें भोजन करनेमें भी कोई समस्या नहीं होती थी. ऐसा कहा जाता है कि स्टालिन्ने हिटलर्की खोपड़ीका ॲश्-ट्रे बनाया था. यह भी तो एक प्रकारका योग ही था. पर अप्रशस्त योग था. देखो, एक बात बताऊं. आप हाथी-दांतको कितना अच्छा मानते हो. उससे तो आपको कभी घृणा नहीं आयी. वह भी तो वही वस्तु है. हाथीको अफ्रीकामें जब मारना होता है तो उसके खानेमें हँड्-ग्रेनेड् रख देते हैं. हाथी जब उसको खाता है तो उसका माथा फट जाता है. तब वह हाथी-दांत निकाला जाता है. इस कारण ही युनेस्कोने हाथी-दांतपर प्रतिबंध लगाया है. क्योंकि इसके कारण ही लोग हाथियोंको मारते हैं. जब हाथी-दांत पवित्र गिना जाता था तब हाथीको मार कर नहीं, मरे हुए हाथीका दांत निकाला जाता था. इस कारण हाथी-दांतकी भगवान्की मूर्ति भी सेवा-पूजामें पधरायी जाती थी. मेरे शिक्षा-गुरुके पास हाथी-दांतका शिवलिंग था. वह उसकी पूजा रोजाना करते थे. हमारे घरोंमें भी ठाकुरजीके खिलौने हाथी-दांतके होते ही थे. उससे अपरस छुयी नहीं जाती थी. अब यही बात हाथीसे पूछेंगे तो वह भी अपने दांतोंकी बनी चीज देख कर नांक-भौं सिकोड़ेगा. वह भी उनको अशुद्ध मानेगा. जो हम कस्तूरी प्रयोगमें लाते हैं, वह हिरनकी नाभीको काट कर निकाली जाती है. पहले मरे हुए हिरनकी लायी जाती थी. पर अब हिरनको इस कारण मारा जाता है. प्राचीनकालमें अपने यहां व्याघ्राम्बर और मृगाम्बर सबसे अधिक पवित्र गिना जाता था. अभी भी कितने ही लोग वाघम्बरपर बैठ कर ही जप-पाठ करते हैं. पर उसके लिए जानवरोंको मारा नहीं जाता था. मरे हुए जानवरोंकी खाल प्रयोगमें आती थी. इसके लिए सिद्धांत था कि ''शुष्कचर्म तु काष्ठवत्'' सूखा हुआ चमड़ा लकड़ी जितना पवित्र होता है. आज-कल क्योंकि हमको चमड़ेके जूते पहनने हैं, इसीलिए गाय मारी

जाती है. तो बातमें तो भेद आ ही गया.

इस प्रकार कोई वस्तु प्रशस्त है और कोई अप्रशस्त. यह आध्यामिक आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों प्रकारोंमें हो सकती है. वाम-तंत्रमें मुर्देके ऊपर बैठ कर जप करनेका प्रकार है योगका. अब यह अपने यहां प्रशस्त नहीं है. मुर्दा पवित्र है अथवा अपवित्र, इस बातपर यदि हम चर्चा करें तो बातका कोई अंत नहीं आयेगा. क्योंकि जितना भी हम लकड़ीका फर्नीचर् उपयोगमें ला रहे हैं, वह वृक्षोंका मृत शरीर ही तो हैं. क्या आप इस बातसे इन्कार कर सकते हैं? यदि मुर्दा अपवित्र ही है तो लकड़ी भी अपवित्र होनी चाहिये. क्या आपने कभी किसी वृक्षसे पूछा है कि उसे कितनी पीड़ा होती है हमें अपने शरीरको देनेमें. पर समझनेकी बात यहां यह है कि प्रशस्त और अप्रशस्त दोनों आध्यात्मिक आधिभौतिक और आधिदैविक तीनोंमें हो सकती हैं. योग भी दोनों प्रकारका हो सकता है. मुर्दा शरीरके साथ सम्भोग करना, ऐसी भी योगकी साधनाएं हैं. यह प्रशस्त नहीं है. दुनियाके सभी यौनरोग वहींसे शुरू हुए हैं. क्योंकि इजिप्त्में जब कोई रानी अथवा राजकुमारी मर जाती थी तो ममी बनानेसे पहले वहांके पुरोहितोंको सोंप दी जाती थी. पुरोहित उससे पहले उनको देख भी नहीं सकते थे, उनके साथ मैथुन करते थे. वहांसे इन यौन रोगोंकी शुरुआत हुयी. वह पुरोहित किसी योगके कारण यह नहीं करते थे अपितु अपनी विकृत कामकी संतुष्टिके और अपने मिथ्या अहंकारके पोषणके लिए वह यह सब करते थे. यह योग नहीं था पर अपने यहां वाम-तन्त्रोंमें ऐसे प्रयोग योगमें आते हैं. यह सारे आधिभौतिक योग हैं. इनका आध्यात्मसे कोई लेना-देना नहीं है. जो भी रामदेव बाबा सिखा रहा है वह सारा आधिभौतिक योग है. अपने शरीरको कैसे ठीक रखना, कैसे उसे लचीला बनाना, यह सब आधिभौतिक योग है, स्वास्थ्य परक. इसका आध्यात्मसे कोई लेना-देना नहीं है.

इसी प्रकार आध्यात्मिक योग भी प्रशस्त और अप्रशस्त हो सकता है. आध्यात्मिक अप्रशस्त किस प्रकार हो सकता है? बहुत सारे पुराने ऐसे बाबा थे जो मांस खा कर, मद्यपान करके ध्यानयोग करते थे, जिससे उनकी मानसिक शक्ति बढ़ती थी. उनका उसके पीछे रहा प्रयोजन यह था कि दुनियामें किसी भी वस्तुसे घृणा नहीं करनी चाहिये, ऐसा अपने आपको वह प्रशिक्षण देते थे. इस कारण अभक्ष खाते थे. प्रयोजन तो अच्छा था पर साधना गलत थी. अपनी साधनामें वह विष्ठा भी खाते थे. एक प्रकारसे किसीसे घृणा न करना आध्यात्मिक विकास ही है. यह है अप्रशस्त आध्यात्मिक योग. ऐसा आधिदैविकमें भी होता था. इस तरह छह प्रकार हैं योगके.

यहां कपिलमुनि अपनी माताके लिए आध्यात्मिक योगको प्रशस्त मान रहे हैं. **योगः आध्यात्मिकः पुंसां मतो निःश्रेयसाय मे** जो आध्यात्मिक योग है, वह पुरुषके कल्याणके लिए होता है. 'प्रशस्त' शब्द यहां ले ही लेना चाहिये क्योंकि अप्रशस्तकी चर्चा तो वह करेंगे ही नहीं. इस आध्यात्मिक योगसे क्या लाभ होगा, इसके उत्तरमें कहते हैं: **अत्यन्तोपरतिर् यत्र दुःखस्य च सुखस्य च.** आपके सुख और दुःख दोनों की अनुभूति शांत हो जायेगी. जो भगवान् गीतामें कह रहे हैं; **''सुख-दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ, ततो युद्धाय युज्यस्व न एवं पापम् अवाप्स्यसि''** (भग.गीता २।३८) जब-तक तुम आधिभौतिक योग कर रहे हो तब-तक सुख-दुःख समान नहीं हो सकते. इसका कारण समझो कि जब आप आधिभौतिक योग कर रहे हो तब यह शरीरसे जुड़ा हुआ है. जब-तक शरीर आपका स्वस्थ है, तब-तक सुख है. जैसे ही शरीरमें कुछ गड़बड़ हुयी आप दुःखी हो जाओगे. हो सकता है कि आपके आनेवाले कई रोग यह ठीक कर दे और इस तरह आपके दुःख दूर हो जायें, पर अंततः यह है तो सुखकी कामनाके लिए ही. इसीलिए

जब-तक सुख-दुःखकी कामना रहेगी तब-तक अपने राग-द्वेषके आवेगके ऊपर भी अपना नियंत्रण नहीं होता है. क्योंकि जिस वस्तुसे सुख मिलता हो उसपर तो राग रहेगा और जिससे सुख नहीं मिलता उसमें उपेक्षाका भाव रहेगा. और उपेक्षा करनेपर भी वह पीछा नहीं छोड़े तो फिर द्वेष भी होगा. उदाहरणके लिए कोई व्यक्ति हमें बोर करता हो और वह आये तो हम उसकी उपेक्षा करेंगे. पर वह फिर भी पीछा न छोड़े तो उसके प्रति हमें द्वेष जागृत होगा ही.

हमारा एक वकील था. वह ऊंचे दर्जेका था क्योंकि वह सुप्रीम कोर्टके केस भी लेता था और हाईकोर्टके भी. मेरा एक केस था. जानकार लोगोंसे पूछनेपर उन्होंने उसका परिचय कराया. वह वैष्णव परिवारसे था. मैंने उससे पूछा "इस केसकी आप फीस कितनी लेंगे?" बोला "महाराज! आपसे क्या फीस् लेनी?" वैसे उसने कोई फीस् नहीं ली पर दूसरे रूपमें इतनी ली कि जिसका कोई ठिकाना नहीं. उसकी एक प्रेमिका यहां मुम्बईमें रहती थी. वह उसे ले कर अक्सर मेरे यहां आ जाता था. "महाराज! अब आपके अलावा और कहां जायेंगे." मुझे पता नहीं था. मैं समझता था कि वह उसकी पत्नी है. एक दिन उसके घर गया तो मैंने पूछा "क्या बात है भाभीजी नहीं दीख रहे हैं." उसकी पत्नी उसके बराबरमें ही खड़ी थी. वह घबरा गया और जल्दीमें बोला "महाराज! बादमें बताऊंगा." मैंने सोचा पत्नीके बारेमें पूछनेमें मैंने कौनसा गुनाह कर दिया जो यह इतना घबरा गया. थोड़ी देर बाद उसका लड़का आया. उसने उस महिलाको मम्मी बोला तब मुझे पता चला कि दूसरीवाली उसकी प्रेमिका थी. थोड़े-थोड़े दिन बाद वह मेरे घर आ जाता था रहने. मुझे क्या पता था कि वह अपनी प्रमिकाको ले कर आता था. मैं तो समझता था कि वह इसकी पत्नी है. पराकाष्ठा तो तब हुयी कि जब मुझे उसने अपनी

प्रेमिकाको मुम्बई घुमानेके लिए कहा. रोज मैं उसे गाड़ीमें घुमाने ले जाता. उसपर भी वह हर बातमें कहती ''हमारे लंडन्में तो इससे अच्छा है.'' इस बातपर मुझे बहुत गुस्सा आता था. उसका बदन थोड़ा भारी था, सो एक दिन बदला लेनेके लिए मैं उसे यहांकी केनरी गुफा दिखाने ले गया और पूछा ''क्या ऐसा है लंडन्में!'' वह बोली ''नहीं, ऐसा तो नहीं है.'' तब मैंने कहा ''तो चढ़ो इस पहाड़पर.'' मैंने सोचा था कि आज मौका अच्छा मिला इसको थकानेका. पर हुआ उल्टा ही. थकनेके बाद तो उसने फरमाइश चालू कर दी. ''मेरे लिए गरम पानी लाओ, नमक लाओ, पैर सेकनेके लिए.'' मैंने सोचा ''गये थे नमाज़ बख्शवाने और रोज़े गले पड़ गये.'' ऐसी स्थिति आ जाती है कभी-कभी. वह एक दिन आनेवाला था तो मैं पहलेसे ही बाहर चला गया और उसे कहलवा दिया कि मैं घरपर ही नहीं हुं. पर वह तो फिर भी आ गया. आ कर पूछा ''श्यामबाबा कहां है.'' लक्ष्मीने कह दिया ''बाहर गये हैं. तो बोला ''आपके यहां नहीं रुकेंगे तो उन्हें बुरा लगेगा. इसलिए हम तो आपके यहां ही रुकेंगे.'' लक्ष्मीने मुझे फोन किया कि ''यह तो यहीं रुक रहे है. आप आ जाओ नहीं तो यह मेरी हालत खराब करेंगे.''

**अत्यन्तोपरतिर् यत्र दुःखस्य च सुखस्य च** अत्यंत दुःखकी उपरति और अत्यंत सुखकी उपरति. ऐसा होता है कि दुःखकी उपरति तो हो जाती है पर सुखकी नहीं होती. अब उपरोक्त कथामें मैं सुखकी उपरति मानूं कि दुःखकी? समग्रताकी दृष्टिसे देखें तो दुःखकी उपरति है क्योंकि वैष्णवका बेटा और जो कहता है कि ''आपसे एक पैसा नहीं लूंगा.'' और वह इस प्रकार फीस् वसूल रहा है. वह तो अच्छा था कि घरवालोंको उसके बारेमें पता नहीं था, नहीं तो मेरी स्थिति बहुत खराब हो जाती. तो आपको अब पता चल गया होगा कि दुःखकी उपरति होनेपर भी हमारी सुखकी उपरति

नहीं होती और सुखकी उपरति होनेपर भी हमारी दुःखकी उपरति नहीं होती. ऐसा प्रत्येक योगमें होता है. 'उपरति' मानें अपने वशमें करना. इस प्रकार यह सुख और दुःख एक ताना-बाना है कि जिसमें एक मिलनेपर दूसरा अपने आप आ जाता है॥१३॥

श्लोक :

**तम् इमं ते प्रवक्ष्यामि यम् अवोचं पुरा अनघे!।**
**ऋषीणां श्रोतुकामानां योगम् उर्वङ्गनैपुणम्॥१४॥**

अनुवाद : **हे निष्पाप माता! वह इस योगका प्रवचन आपको कहुंगा. पूर्वमें भी अनेक अंगोंमें निपुणता प्रदान करनेवाला यह योगको श्रवणोत्सुक ऋषिओंके समक्ष मैंने ही प्रवचन किया है॥१४॥**

विवेचन : इस आध्यात्मिक योगको मैं तुझे समझा रहा हूं. यह पहले मैंने ऋषियोंको सुनाया है. यह योग कैसा है? तो कहते हैं कि **उर्वङ्गनैपुणम्** सारे अंगोंमें निपुणता प्राप्त करानेवाला है. ऋषि भी इस योगको जाननेके उत्सुक रहते हैं. ऋषिका अर्थ है कि जिसको वेदका दर्शन हो. 'ऋष्' धातु दृष्टिके अर्थमें है. इसीको इंग्लिशमें 'सीयर्' कहा जाता है. जो समग्र चीजोंको देख सके. जटा दाढ़ीवाले लोग ऋषि नहीं हैं. जो तथ्यको देख सकता हो वह 'ऋषि' कहलाता है. इस तरह जो वेदको देख सकनेवाले ऋषि थे, उन्हें भी इस योगको जाननेकी चाह थी. एक प्रकारसे वे योगकी प्रशंसा कर रहे हैं॥१४॥

श्लोक :

**चेतः खलु अस्य बन्धाय मुक्तये च आत्मनो मतम्॥**
**गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये॥१५॥**

अनुवाद : **इस आत्माके लिये चित्तको ही बन्धनका भी और मोक्षका भी साधन माना गया है. प्रकृतिके गुणोंमें जब वह**

**आसक्त या रत होता है तब बन्धनका और गुणातीत पुरुषमें आसक्त या रत हो तब मोक्षका कारण बन जाता है।।१५।।**

विवेचन : **चेतः खलु अस्य बन्धाय मुक्तये च आत्मनो मतम्** आत्माकी मुक्तिके और बंधनके लिए कोई यदि कारण है तो वह चित्त है. चित्तमें जो चढ़ गया उससे हम बंध जाते हैं और जो चित्तमें नहीं चढ़ा है, उसके कारण हम उससे मुक्त रहते हैं. इस बंधनकी और मुक्तिकी प्रक्रिया कैसी है? इसके उत्तरमें कहते हैं; **गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये** जब वस्तुके गुणमें चित्त लग जाता है तो चित्त बंधनकारी हो जाता है और जब 'पुंसि' मानें पुरुष. अर्थात् आत्मामें चित्त बंध जाता है तो मुक्त हो जाता है. 'पुरुष' शब्द यहां क्यों कहा है! यह कोई स्त्री-पुरुषवाला पुरुष नहीं है. यहां इसका अर्थ है "पुरि शेते इति 'पुरुषः'" अर्थात् गुणोंका जो संघात है उसमें चेतना रहती है. गुण मानें राजस तामस सात्त्विक रूप रस गंध स्पर्श राग द्वेष आदि. सो इन गुणोंका जो पिंड़ है, उसमें आत्मा रहती है. उस पिंडमें यदि आसक्ति हो तो बंधन हो जाता है और आसक्ति न हो तो मुक्त हो जाता है. आत्माकी आत्मामें आसक्ति हो तो वह जीव मुक्त हो जाता है. एक उदाहरण देता हूं. अब तो बहुत सारे उपाय आ गये हैं. पशु-पक्षियोंको बेहोशीकी गोली मार कर उन्हें पकड़ा जाता है. पर पहले जमानेमें यह नहीं था. इस कारण यदि जैसे बंदरको पकड़ना है तो एक मटका जिसका मुंह बहुत छोटा हो, उसमें गुड़की ढेली रख दी जाती थी. बंदरका खाली हाथ तो उसमें चला जाता था पर जैसे ही वह मुठ्ठी बंद करता, तो हाथ बाहर नहीं आता था. अब वस्तुके मोहके कारण बंदर उसे छोड़ भी नहीं पाता था और पकड़ा जाता था. इसी प्रकार मन रूपी बंदर भी ऐसी गुड़की ढेलियोंमें फंसा हुआ है. इन गुणोंमें हम रत हुए तो हमें बंधनमें फंसना ही पड़ता है. गुणोंसे विरत हुए तो चेतनाको बांधनेवाली

कोई वस्तु है ही नहीं. यदि यह चेतना पुरमें आसक्त है तो मुक्त नहीं हो सकती. जैसे जो मुम्बईपुरीमें आसक्त है, वह इसे छोड़ कर कहीं जा नहीं सकता, चाहे कितनी भी विपत्ति आ जाये. चालीसके दशकमें यहां बम फटे थे. तब बहुतसे लोग यहांसे भाग गये थे. क्योंकि उन्हें अपनी जान प्यारी थी. पर कई लोग जिन्होंने यहां संपत्ति इकठ्ठी की थी, वे यहीं रहें. क्योंकि वे यहां आसक्त थे.

मोटे तौरपर पुष्टिमार्गके आचार्योंने अपने ठाकुरजीको पब्लिक् क्यों किये? वह भेंट लेते थे पब्लिक्से. जब चॅरिटी कमिश्नर्की पूछताछ हुयी तो उन्होंने कहा "आप इतनी भेंट लेते हो तो आपको टॅक्स् भरना होगा." अब उन्हें टॅक्स् भरना नहीं था. इसलिए कह दिया "यह हमारे ठाकुरजी नहीं है, पब्लिक्के है." यह मुख्य कारण था. क्योंकि मंदिरके लिए भेंट तो लेनी ही है पर टॅक्स् भरना नहीं है. प्रारंभमें आचार्योंने बहुत प्रतिरोध किया कि भेंट आमदनी नहीं है, यह तो उपहार है. पर यहां तो उपहारपर भी टॅक्स् था. मुम्बई हाइकोर्टमें केस् चला. आपने शायद मुहम्मदअली छागलाका नाम सुना होगा. उसने यह निर्णय दिया कि भेंट आमदनी है. कोर्टका निर्णय आनेके बाद तो कुछ किया नहीं जा सकता. तो महाराजोंने यह कह दिया कि ठाकुरजी हमारे हैं ही नहीं, पब्लिक्के हैं. यह हमारी आमदनी नहीं है, देवकी है. हम तो इसमें केवल हिस्सेदार हैं, ठाकुरजीके अभिभावक होनेके नाते. केवल टॅक्स् बचानेके लिए अपने ठाकुरजीपर अपना अधिकार छोड़ कर उनके अभिभावक होना स्वीकार लिया. आजकी तारीखमें निन्यानवें प्रतिशत हवेली पब्लिक् ट्रस्ट् बन गयी हैं, ठाकुरजीको छोड़ कर, क्योंकि वह आमदनीको नहीं छोड़ पाये. यह है दुःखकी गाथा. **गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये** क्योंकि बिना कुछ करे यह जो भेंट आ रही है, इसका अद्भुत मोह है. करना कुछ है नहीं. बस एक हवेली

खोल दो. फिर देखो, बी.एम.डब्ल्यू आ जाती है, ए.सी. आ जाते हैं. सब अपने आप आ जाता है, केवल एक हवेली खोलनेसे. यह आमदनी छोड़नी बहुत कठिन है. है भी बिना टॅक्स्की.

एक उदाहरण इसके बिल्कुल विपरीत देता हुं. आजसे डेढ़-सौ वर्ष पहले जयपुरमें अपने मार्गके गोविंदजी महाराज थे. उनके समयमें वहांका राजा जो पहले वैष्णव था, शैव हो गया. अपने नये गुरुके आदेशपर उसने एक पत्र अपने महाराजको लिखा कि "आप अपनी प्रत्येक बातको सिद्ध करो कि तिलक क्यों लगाते हो, कंठी क्यों पहनते हो?" ऐसे कई प्रश्न उस पत्रमें थे. गोविंदजी महाराजने उत्तर दिया कि "मैं तुम्हारे प्रत्येक प्रश्नका उत्तर देनेको राजी हूं, यदि तुम जिज्ञासाभावसे जानना चाहते हो तो. यहां आ कर एक शिष्यकी तरह पूछो. तुम्हारे दरबारमें आ कर इन प्रश्नोंका उत्तर मैं नहीं दूंगा. यदि तुम राजाके रूपमें पूछ रहे हो तो यह रखो अपनी संपत्ति. मैं केवल अपने ठाकुरजीको ले कर यहांसे जा रहा हुं" केवल गोकुलचंद्रमाजीको झांपीमें पधरा कर निकल गये करोड़ोंकी संपत्तिको छोड़ कर. अब वही ठाकुरजी पब्लिक् हो गये हैं क्योंकि वहां मंदिरमें एक मन सोना इकठ्ठा हो गया था. उसपर टॅक्स् लग रहा था तो ठाकुरजीको पब्लिक् डिक्लेयर् कर दिया. चार पीढ़ीमें इतना भेद आ गया. गोविंदजी महाराजके सपोर्टमें किशनगढ़ दरबार, कोटा दरबार इनकी फौज तैयार थी कि कोई भी गोविंदजी महाराजसे यदि छेड़-छाड़ करे तो लड़ायी होगी. वे बहुत प्रभावी व्यक्तित्व थे. उनमें अपने ठाकुरजीके प्रति पूरी निष्ठा थी. अब उसी प्रॉपर्टीके लिए वापस आजके गोस्वामीने कोर्टसे कॉन्ट्रेक्ट्पर ली है क्योंकि मालिकियत तो मिल नहीं सकती. यह बिल्कुल Rise and fall of Rome के जैसी कथा है. ऐसा इसलिए है क्योंकि **गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये** गुणोंमें जब भी तुम रत हो जाओगे तो बंधना पड़ेगा ही. और जब अपनी आत्मामें तुम रत हो तो कौन

तुम्हें रोक सकेगा! जयपुर महाराज कट्टर शैव हो गया था पर कर कुछ भी नहीं पाया. गुणोंमें गोविंदजी महाराज नहीं फंसे थे इसलिए. झारी नहीं ली, शृंगार नहीं लिए, बस गोकुलचंद्रमाजीको झांपीमें ले कर चले गये. वह छोड़ पाये क्योंकि उन्हें ठाकुरजीमें आसक्ति थी. हम वापससे क्यों फंसे क्योंकि टॅक्स् बचानेमें आसक्ति है. प्रभुको बचानेमें आसक्ति नहीं है.

**गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये** यह पुरुष गुणोंसे बंधा हुआ है. अपने शरीरमें अपने गुण हैं, राजस तामस सात्त्विक. ऐसे ही ठाकुरजीके भी तो गुण हैं राग भोग नेग. तुम्हारा चित्त उनमें फंसा तो ठाकुरजी तुम्हें उनमें लगायेंगे और तुम्हारा चित्त यदि ठाकुरजीमें लगा तो तुम्हें वह निर्गुण रखेंगे.

आपको शायद पुष्टिमार्गके इतिहासके बारेमें पता नहीं होगा. बहुत ही रोचक है. औरंगज़ेबको पुष्टिमार्गसे एक ही समस्या थी. उसे किशनगढ़की राजकुंवरी चाहिये थी. उसका नाम रूपमती था. वह पुष्टिमार्गीय वैष्णव थी. बाप तो औरंगज़ेबके नियंत्रणमें थे तो वह मांग रहा है तो देना ही था और कोई चारा नहीं था. अब राजकुंवरी क्या करे? उसने उदयपुरके राणाको चिठ्ठी लिखी कि "तुम लोग हिन्दुओंके रक्षक कहलाते हो. धूल पड़े तुम्हारे ऊपर कि तुम्हारे रहते मुझे मुसलमान ले जाये." उदयपुरके राणाकी मूंछका सवाल आ गया था. वह राजकुमारीको अपहरण करके ले गया. इस बातपर औरंगजेब क्रोधित हो गया कि "मैं इतने हिन्दु राजाओंको पनाह दे रहा हूं फिर भी मुझे राजकुमारी नहीं दे रहे हैं, तो इनके मंदिर तोड़ो." इसलिए उसने सारे मंदिर तोड़ दिये. श्रीनाथजीका मंदिर भी तोड़ दिया. यह इतिहास है. उस समयमें श्रीनाथजी जैसे बड़े स्वरूपको ले कर बालक भाग आये. क्योंकि वह जतिपुराकी प्रॉपर्टीसे बंधे हुए नहीं थे. आपकी जानकारीके लिए, पूरे जतिपुरा और पूरे

गोकुलके राजा पुष्टिमार्गीय महाराज थे. पर उस समयके बालकोंने राज्यकी प्रॉपर्टीकी चिंता नहीं की. श्रीनाथजीको ले कर भाग आये. मंदिर टूट गया पर श्रीनाथजी तो बच गये. कहां जतीपुरा और कहां उदयपुर! इतने बड़े स्वरूपको बचा कर ले आये. वह भी बीहड़ वनोंके रास्ते. आज हम अपने छोटे-छोटे स्वरूपोंको भी नहीं बचा सके. आज-कल कोई तलवारसे गरदन नहीं काट रहा है. न कोई मंदिर तोड़ रहा है. केवल सरकार यह कह रही है कि आप जो पब्लिक्से पैसे ले रहे हो तो टॅक्स् दो. इतने छोटेसे मुद्देपर हमने अपने ठाकुरजीको छोड़ दिया. इससे अधिक पुष्टिमार्ग क्या नीचे गिर सकता था? इसलिए **गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये** प्रभुमें यदि हमें रति होती और उनके राग-भोग-नेगमें नहीं होती तो आज मार्गकी स्थिति कुछ और ही होती. नेग-राग-भोगका इतना बखड़जंतर बना लिया है कि सारी सीमायें पार कर दी हैं. ठाकुजीका नेग हमारे नौकरोंकी पगार होती है. जितना अधिक ठाकुरजीका नेग, उतना अधिक स्टाफ, उतना अधिक हमें आराम. बहुत ही दुःखद स्थिति है. जब गोविंदजी महाराज छोड़ पाये तो हम भी छोड़ तो सकते हैं.

चौरासी वैष्णवोंमें सिद्धपुरके दो भाई वैष्णवोंकी वार्ता आती है. उनके यहां ठाकुरजी महाप्रभुजीने पधराये थे. आज उनके परिवारका एक घर अहमदाबाद है. आज भी उनके यहां खिलौने, साज इत्यादि महाप्रभुजी-गुसांईजीके समयके बिराजते हैं. महाप्रभुजीके हस्ताक्षर भी आज-तक उनके यहां बिराजते हैं. उन लोगोंने समझे बिना ठाकुरजीके दर्शन करनेकी छूट वहांके सेठियाओंको दे दी. छूट देते ही कुछ समय बाद सेठियाओंने दावा किया कि यह पब्लिक् मंदिर है. इस परिवारमें कोई क्लर्क् है, कोई अध्यापक है. कमाईके हिसाबसे उनकी स्थिति बहुत अच्छी नहीं है. पर उस सम्मिलित परिवारमें हर व्यक्ति सेवा करता है. वे लोग सात वर्ष सेठियाओंके साथ केस् लड़े

और जीत गये. हुआ यह था कि वहां सेठ लोग भेंट धरते थे इसलिए वे कोर्टमें चले गयें. उस परिवारका कहना था कि ''आप भेंट मत धरो. हमने तो आपको अपना समझ कर दरशन कराये. आप भेंट धरते थे, चलो ठीक है. पर वह आपसे हमने मांगी तो नहीं थी. बंद कर दो भेंट धरनी.'' इस बातपर वे केस् जीत गये. एक बार मैं उस परिवारसे मिलने गया था. सच्ची बात कहूं तो मिलने नहीं उनके दर्शन करने गया था. वह भी इसलिए कि जो काम हम नहीं कर सके, वह काम इस लोअर् मिडिल् क्लास् परिवारने कर दिखाया. वह मुझे कहते थे कि ''हमें एक समयका भोजन त्यागना पड़ा केस्की फीस् निकालनेके लिए. पर इस बातपर हमारा पूरा परिवार एकमत था कि अपने ठाकुरजीको किसीको देंगे नहीं.'' ठाकुरजीने भी उनकी यह निष्ठा देख कर उन्हें केस् जिताया. क्योंकि वे धनके पीछे नहीं थे, ठाकुरजीके पीछे थे. मुझे कहते थे कि ''हम बालकोंको भी दर्शन नहीं कराते.'' इसमें समझनेवाली बात यह है कि जब ठाकुरजी भी गुणोंमें फंस जाते हैं तो मनुष्यकी तो क्या बिसात है. आज वह ठाकुरजी स्वतंत्र है क्योंकि परिवार उनकी सेवा कर रहा है. वैभव नहीं है. कम आवश्यकताओंसे उनकी सेवा चलती है. पर जो भी ठाकुरजी आरोगते है, वही वे लोग लेते हैं. यह है पुष्टिमार्गका गौरव और सौंदर्य!!! ऐसे वैष्णव आजकी तारीखमें ठाकुरजी जैसे ही दर्शनीय हैं.

संस्कृतमें एक श्लोक है ''असम्भवं हेममृगस्य जन्म तथापि रामो लुलुभे मृगाय'' सोनेका हिरन होता ही नहीं है, फिर भी सीताने उसकी इच्छा की तो राम उसके पीछे गये और सीता खो गयी. सोनेका हिरन नहीं होता है, क्या यह समझ रामको नहीं थी? इतनी समझ तो उन्हें थी पर फिर भी उसे राम पकड़ने गये. पर खोया क्या? सीताको. यह गति रामकी ही हुयी ऐसा नहीं है. वही गति हमारी भी हो रही है॥१५॥

श्लोक :

**अहं-ममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभिर् मलैः ।।**
**वीतं यदा मनः शुद्धम् अदुःखम् असुखं समम्।।१६।।**

अनुवाद : **काम लोभ आदिके मलोंके द्वारा जो 'अहं-मम'के अभिमानके कारण उभरते हैं, उनके रहित होनेसे मन शुद्ध बन जाता है तब सुख-दुःखके समभाववाला बन जाता है।।१६।।**

विवेचन : अपने मनमें काम-लोभादिका मल जो इकठ्ठा हो रहा है, वह होता है अहं और मम के अभिमानके कारण. हमें क्रोध आता है, वह अपने अहंकारका मल है. जब कोई भी उत्पादन होता है तो कुछ न कुछ वेस्टेज् तो होता ही है. क्रोध इसी प्रकारका वेस्टेज् है. अपनी ममताका वेस्टेज् काम है. ममता तो स्वाभाविक है क्योंकि जिस भी वातावरणमें हम रह रहे हैं, वह हमें अपना लगता है. पानीमें रहती मछलीको पानी अपना लगता है, पृथ्वीपर रहते प्राणियोंको पृथ्वी अपनी लगती है, घोंसलेमें रहते पक्षियोंको घोंसला अपना लगता है. देहमें रहती आत्माको देह अपना लगता है. इसलिए ममता तो प्राणीमात्रका स्वभाव है. यह मल नहीं है. पर इसमेंसे काम पैदा होना एक प्रकारका ममताका कचरा है. अहंकार और ममता के ऊपर चढ़ा हुआ कचरा क्रोध और काम हैं. यदि अहंकार और ममता हैं ही नहीं, तो यह पैदा ही नहीं होंगे. कामका घनीभूत रूप लोभ और क्रोधका घनीभूत रूप मद. लोभको और घनीभूत किया जाये तो मात्सर्य. जैसे अलाउद्दीन खिलजीको राणासे था कि पद्मिनी उसके पास क्यों है, मेरे पास क्यों नहीं. यह मात्सर्य है. लोभमें तो व्यक्ति बात अपने तक ही सीमित रखता है पर लोभका व्यवहारमें आना मात्सर्य है. उसीको यहां कह रहे हैं **अहं-ममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभिर् मलैः, वीतं यदा मनः शुद्धम् अदुःखम् असुखं समम्** जब यह मल साफ हो जाता है और मन शुद्ध होता है तब न सुख रह जाता है

और न दुःख रहता है. क्योंकि ममतासे जन्य जो काम है वह संतुष्ट होता है तो सुख होता है. काम संतुष्ट न हो तो दुःख होता है. इसी प्रकार अहंतासे पैदा हुए क्रोधको यदि हम किसीपर उतार दें तो सुख हो जाता है और न उतार पायें तो दुःख होता है. एक बहुत पुरानी पिक्चर् है जो मैंने देखी थी, बैजू बावरा. उसमें एक चरित्र था गवैयेका, जिसे तानसेन जैसी ख्याति नहीं मिली. वह कहता है "हम कोई दरबारी राजाके गवैये नहीं हैं, हम शास्त्रीय गायक हैं. तुम राजाके गवैयेको ढूंढ़ रहे हो तो वह है उसकी हवेली." क्योंकि तानसेनको जो ख्याति मिली उसपर क्रोध आ रहा है. इसलिए अपने मदको वह इस प्रकार संतुष्ट करता है. इस प्रकार क्रोधसे मोह और मोहसे मद. यह सब तो बहुत स्वाभाविक है. पर यदि मन इन सबसे मुक्त हो जाये तो न सुख है और न दुःख॥१६॥

श्लोक :

**तदा पुरुषः आत्मानं केवलं प्रकृतेः परम्॥**
**निरन्तरं स्वयं ज्योतिर् अणिमानम् अखण्डितम्॥१७॥**
**ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन च आत्मना॥**
**परिपश्यति उदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम्॥१८॥**

अनुवाद : **तब प्रकृतिसे पर ऐसे खुदके स्वयंज्योति अणुतर परिमाणवाले अखण्डित केवल आत्मस्वरूपको स्वयं निरन्तर ज्ञानवैराग्य और भक्ति के साथ देखने समर्थ हो जाता है. तब त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका ओज हनन होनेके कारण खुद निरन्तर उदासीन रूपमें अनुभव करनेके लिये समर्थ हो जाता है॥१७-१८॥**

विवेचन : यह सब मैल जब दूर हो जायेगा तभी तुम्हारी दृष्टि अपने ऊपर जायेगी. नहीं तो काम और क्रोध के कारण वह दृष्टि दूसरेपर ही रहेगी. इस मलके कारण तुम्हें स्वयंको देखनेका अवकाश

कभी मिलता ही नहीं है. इसीके कारण हमको सुख और दुःख होता है. मन हमें अपनी ओर देखनेकी फुरसत ही नहीं देता कभी. यह एक समस्या है. **तदा पुरुषः आत्मानं केवलं प्रकृतेः परं, निरन्तरं स्वयं ज्योतिर् अणिमानम् अखण्डितम्** फिर इसको किसी बाहरी प्रकाशकी आवश्यकता नहीं होगी. यह अपनी चेतना तो स्वयं ही प्रकाशित है. 'अणिमानम्' मानें अणु जैसा छोटा है और अखण्डित है. जितनी भी बाहरकी वस्तुएं हैं, वे खण्डित हैं. क्योंकि जिसपर क्रोध आ रहा है, उसे काम नहीं है. जिसपर काम है उसपर क्रोध नहीं है. इस प्रकार हर वस्तु खण्डित है. पर शुद्ध चेतना अखण्डित है॥१७॥

**ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन च आत्मना परिपश्यति उदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम्** ऐसी चेतना ज्ञान और वैराग्य से युक्त होती है. 'ज्ञान' मानें आत्मज्ञान और 'वैराग्य' मानें विषयसे वैराग्य. ऐसी आत्मा भक्तिसे भी युक्त होती है. वह हर वस्तुको उदासीन हो कर देख सकती है, प्रकृतिको भी. उसका ओजस समाप्त हो जाता है.

और जो जीव भक्ति कर रहा है, वह भक्ति अखिल-भगवदात्मामें होती है. यह प्रक्रिया आध्यात्मिकमेंसे आधिदैविककी ओर ले जाती प्रक्रिया है. पर इसे आधिदैविक न कह कर आध्यात्मिक किस कारणसे कह रहे हैं? वह समझो. जब भगवान् आ गये हैं तो वे तो देव हैं पर उनको आत्मा क्यों कह रहे हैं, इसका कारण समझो. भगवान् तो कई प्रकारके हो सकते हैं. वे हॅवन्में जन्नतमें कैलाशमें अथवा वैकुंठमें बिराजता हुआ भगवान्. जब आपका भगवान्के प्रति ऐसा विचार है तो इसका कारण है कि आपके अंदर किसी प्रकारकी अहंता काम कर रही है कि मैं भगवान् नहीं हूं. अच्छी अहंता है तो आप कहोगे कि मैं भक्त हुं. खोटी अहंता होगी तो आप कहोगे कि मुझे भगवान्की क्या आवश्यकता है? अच्छी ममता है

तो आपको होगा कि मुझे भगवान्‌को मानना चाहिये. खराब ममता होगी तो दुनियामें कहां भगवान् काममें आता है. यहां तो दोस्त लड़का लड़की ही काममें आते हैं. भगवान्‌के भगवान् होनेपर भी ऐसे प्रभेद तो हो ही सकते हैं. इस दृष्टिकोणसे देखनेपर भगवान्‌के प्रति आपने आत्मभाव नहीं रखा, विषयभाव रखा है. 'आत्मभाव' मानें मैं और 'विषयभाव' मानें वह. इन दोनों भावोंका विरोधाभास देखने लायक है. आत्मभावसे आपको लगता है कि मैं देखनेवाला हुं, मैं भागनेवाला हुं, मैं करनेवाला हुं, यह मुझे दिखायी दे रहा है, आदि आदि. इसमें 'मैं' और 'वह' का द्वैत है. जब-तक आत्मभाव प्रबल है तब-तक आत्मभाव खण्डित नहीं होता है. क्योंकि जब-तक आप 'मैं'के रूपमें सोच रहे हैं तब-तक आपको पूरा संसार 'दूसरा' अथवा 'वह' दिखलायी देता है. यदि संसार 'मैं'के रूपमें दिखलायी दे तो उसके सारे गुण, अच्छे अथवा बुरे दिखायी देंगे. इस कारण ही आपको सुख अथवा दुःख होता है. अच्छे गुण हों तो सुख होगा और बुरे गुण हों तो दुःख होगा. इससे पैदा होनेवाले जो सुख-दुःख मनपर इतना प्रभाव डालते हैं कि आप 'मैं' और 'वह' में कभी भी भेद नहीं कर सकते. हमेशा आपके मनमें यह भाव ही दृढ़ रहेगा कि यह 'वह' है और मैं 'मैं' हूं.

एक बात देखनेवाली है कि 'मैं'का कोई बहुवचन नहीं होता. बहुवचन केवल 'यह' अथवा 'वह' का होता है. यह जो 'मैं' का एकवचन होना है, यह एक अद्भुत बात है. इसके कारण ही आपके 'मैं'को 'यह' अथवा 'वह' के साथ मिलनेका अथवा एकाकार होनेका मन नहीं करता हैं. परमात्मा ऐसा एकवचन नहीं है. वह तो मैं भी है, वह भी है, यह भी है, तू भी है. पर हम परमात्माको भी पूरे तौरपर सबकुछ नहीं मानते. ''हमारा भगवान् तो वैकुंठमें है.'' ''हमारा भगवान् तो कैलाशमें है.'' ''हमारा भगवान् तो हॅवन्‌में है.'' ''हमारा भगवान् तो जन्नतमें है.'' भगवान्‌को भी

हम 'वह'की तरह ही लेते हैं, 'मैं'की तरह नहीं. इसलिए इस प्रकारके आधिदैविक योगमें भी किसी हद-तक यह 'मैं' और 'वह' का भेद तो शेष रह ही जाता है. कपिलजी इस योगको प्रोत्साहित नहीं करना चाह रहे हैं. इसलिए यह आध्यात्मिक योग है. यह आध्यात्मिक योग यह कहना चाह रहा है कि "यह ठीक है कि यहां 'मैं' और 'वह' का भेद है. पर इस भेदमें एक 'परम मैं' है, जो 'वह' भी है. तकनीकी रूपमें आपका 'मैं' कभी भी 'वह' के बराबर नहीं हो सकता. पर यह जो 'परम मैं' है वह दोनोंके बराबर हो सकता है.

इसको दूसरी तरहसे और समझें. आप अपनी सॅल्फ्-अवेयरनेस्में क्या हम सबको महसूस कर सकते हो? नहीं. अब यह समझो कि आप बने किस पदार्थके हो? पंचतत्त्वके. तो क्या मैं इन पंचतत्त्वसे नहीं बना हूं? हम दोनों ही इन पंचतत्त्वोंको आपसमें शेअर् करते हैं. अब जब हम दोनों ही इन पंचतत्त्वसे बने हैं तो आप अपने मैं और मुझमें भेद कैसे कर सकते हैं! इसी प्रकार जो सुप्रीम् आत्मा मानें परमात्मासे तो सभी आत्माएं बनी हैं. यदि बाहरसे इसको पकड़ने जायेंगे तो हाथ केवल 'वह' ही आयेगा. अंदरसे पकड़ेंगे तो 'मैं' ही आयेगा. पर अपने अंतरतम कोरमें एक ऐसी हकीकत है जो 'मैं' और 'वह' दोनोंके बराबर है. एक श्लोक है "**अगाधमाहात्म्यमहार्णवं तं तितीर्षवः खलु अहम् उडुपेन, अहंतया ब्रह्मविभावनेऽपि स्वभावतोऽन्ते हि पराभवन्ति, अहं त्वम् एतत् तद् उ सर्वम् एतत् तदेव च अस्ति इति जगाद शास्त्रम्, अहं विमुग्धा हि महाविदग्धाः प्रपत्यभावाद् न तदाप्नुवन्ति.**" ( सिद्धान्तसारसप्तकम् १ )

ब्रह्म कैसा है? उसका माहात्म्य अगाध है, महासागर जैसा है. उस महासागरको यदि अपने अहंकारसे तैरना चाहोगे तो अपनी छोटी नावसे उसे पार नहीं कर सकते. यदि तुम ऐसी भावना करोगे कि मैं ब्रह्म हूं तो तुम्हारा कहनेका भार ब्रह्मके स्थानपर 'अहं'पर

आ जायेगा और तुम ब्रह्म तक जानेके स्थानपर अहंमें ही डूबे रहोगे. क्योंकि ब्रह्म तो अहं भी है, त्वं भी है और एतत् भी है. सभी कुछ ब्रह्म ही है, यही शास्त्र समझाना चाह रहा है. पर समस्या यह आ जाती है कि मुझे 'मैं ब्रह्म हूं' यह सोचना तो ठीक लगता है पर 'तू भी ब्रह्म है' यह सोचना उचित नहीं लगता. हम सभी पुष्टिमार्गीय आचार्योंकी यह भ्रमणा है कि हम पुरुषोत्तम हैं. मेरा भतीजा भी मुझे कहता था कि ''आप सारी बातें ऐसी करते हो जिससे वैष्णवोंमें हमारे प्रति अश्रद्धा पनप जाती है.'' मैंने कहा ''तो हमें ऐसे काम ही नहीं करने चाहियें कि जिससे उन्हें हममें अश्रद्धा हो.'' वह बोला ''हम तो कुछ भी कर सकते हैं क्योंकि हम पुरुषोत्तम हैं. पर वैष्णवमें अश्रद्धा होगी तो उसका अकल्याण होगा.'' मैंने कहा ''भई! तू मुझे दिखा तो सही कि तुझमें ऐसे कौनसे सींग पूंछ हैं जो तू अपनेको 'पुरुषोत्तम' कह रहा है.'' वह बोला ''काका! आप अपनेको पुरुषोत्तम नहीं मानते! मुझको तो लगा कि हम सब गोस्वामी पुरुषोत्तम हैं, तो आप भी अपने आपको पुरुषोत्तम मानते होगे. यह तो बड़ी अजीब बात है.''

महाप्रभुजीका सिद्धांत है ''**अखण्डं कृष्णवत् सर्वम्**'' (त.दी.नि.२।१-८२) पूरा जगत् पुरुषोत्तम है. किसीको यह बात अच्छी नहीं लगती. ''मैं पुरुषोत्तम हूं'' यही अच्छा लगता है. यदि सभी नहीं हैं तो आप कैसे हो गये? मैंने उसे कहा ''तू एक काम कर. गिरिराजजी नहीं पर एक स्कूटर् तो उठा कर दिखा. तो मैं मानूं कि तू पुरुषोत्तम है.'' यह इसलिए है क्योंकि ऐसी बातें हमारे अहंकारको पोषण देती हैं. पर तुम्हारा पुरुषोत्तम होना मुझे भाता नहीं है. समस्या यहां आ कर खड़ी हो जाती है. 'मैं' हमेशा एकवचन ही रहता है. 'मैं' बहुवचनको बर्दाश्त कर ही नहीं सकता. पर परमात्मामें 'मैं तू वह' सभी आ जाते हैं. उस परमात्माको यदि हम अपनी

आत्माकी तरह मानेंगे तो हम सबके साथ अपनी पहचान बना पायेंगे. अपने मैं के साथ यह कठिन है पर जैसे ही अपनी आत्मामें परमात्माकी मौजूदगी मानेंगे तो प्रत्येकको अपने साथ जोड़ पायेंगे. उस परमात्माका अहं सभीको साथ ले कर चलता है क्योंकि वह सभीमें है. पर हमारा मैं केवल स्वयंको ही ले कर चलता है.

इसीलिए कहते हैं कि **ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियुक्तेन च आत्मना परिपश्यति उदासीनं प्रकृतिं च हतौजसम्.** ज्ञान आत्माका, वैराग्य विषयका और भक्ति परमात्माकी, यह आपको दुनियाकी प्रत्येक वस्तुके साथ अपने आपको जोड़नेका दृष्टिकोण देगा. जब आप ऐसा कर पायेंगे तब जा कर आपको आध्यात्मिक योग सिद्ध होगा. क्योंकि भौतिक वस्तु और परमात्मा दोनोंको देखनेके लिए मापदंड आप आत्माका उपयोगमें ला रहे हो, किसी वस्तुका नहीं ला रहे हो. ऐसा नहीं होगा तो आपका भगवान्‌को देखनेका नज़रिया भी एक वस्तुकी तरह ही होगा, आत्मगतकी तरह नहीं होगा. 'योग'का अर्थ है अपने अहंको भगवान्‌के साथ आत्मगत हो कर देखना, न कि एक विषय-वस्तुकी तरह देखना. आज हो सकता हम है भगवान्‌की भक्ति करते हों, पर भगवान्‌को हम एक विषयकी तरह ही देखते हैं, न कि अपनी आत्माकी आत्माकी तरह. महाप्रभुजी अपने सिद्धांतमुक्तावली ग्रंथमें इसी पृष्ठभूमिके आधारपर यह आज्ञा करते हैं कि **''आत्मनि ब्रह्मरूपेतु छिद्रा व्योम्नीव चेतनाः. उपाधि-नाशे विज्ञाने ब्रह्मात्मत्वावबोधने, गङ्गा-तीर-स्थितो यद्वद् देवतां तत्र पश्यति. तथा कृष्णं परं ब्रह्म स्वस्मिन् ज्ञानी प्रपश्यति''** ( सि.मु.१२-१३ ) जैसे छोटेसे छेदमेंसे हम यदि आकाशको देखेंगे तो आकाश कितना छोटा दिखलाई देता है. दिखायी छोटा देता है पर है तो वह बहुत विशाल. यदि यह छलनी रूपी उपाधि अपने सामनेसे हट जाये तो पूरा आकाश हमें दिखायी देगा. मानें अहंकी उपाधि हमारे सामनेसे यदि हट जाये तो ही हमें ब्रह्मका आत्मरूपमें ज्ञान होगा. जैसे पृथ्वी जल तेज वायु आकाश आपको

दिखायी दे रहा है. पर आपका शरीर उस रूपमें नहीं. इसी प्रकार यदि हमें ये पांचों तत्त्व अपने शरीरमें भी दिखायी देने लग जायें तो प्रत्येक वस्तुके साथ हम अपने आपको जुड़ा हुआ महसूस करने लगेंगे. यदि हम अपने शरीरको इन पंच-तत्त्वोंसे पृथक् समझेंगे तो अपने आपको कभी भी औरोंके साथ जोड़ नहीं पायेंगे. इसी प्रकार अपने आपमें केवल अपनी आत्मा अपने अहंकारके वश महसूस हो रही है, उसे जब-तक आप परमात्माका एक अंश नहीं सोचोगे जिससे सारी आत्माएं बनी हैं, तब-तक औरोंकी आत्माको अपने आपके साथ जोड़ नहीं पाओगे. इसलिए इसे 'आध्यात्मिक योग' कहा गया है क्योंकि यह आत्मगत विषय है. आप भगवान्‌को किसी विषयकी तरह नहीं देख रहे हो, अपितु एक परम-तत्त्वकी तरह देख रहे हो. आप आत्मा हो और आपके लिए शेष सब विषय है. पर आप यदि उस परम-तत्त्वको ध्यानमें रखते हों, जो सब बना है तो फिर आपको एक नया एहसास होगा कि सभीमें एक उस परमात्माका ही तो अंश है. यह पूरी प्रक्रिया है आधिभौतिकसे आध्यात्मिक योगकी ओर जानेकी॥१८॥

श्लोक :

**न युज्यमानया भक्त्या भगवति अखिलात्मनि॥**
**सदृशो अस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये॥१९॥**

अनुवाद : **अखिलात्मा भगवान्‌के साथ जुड़ी हुई भक्ति जैसा अन्य कोई कल्याणकारी मार्ग ब्रह्मप्राप्तिके लिये योगिओंके लिये तो नहीं ही है॥१९॥**

विवेचन : आपकी आत्मा आपकी है. वह किसी औरकी नहीं हो सकती पर भगवान् अखिल विश्वकी आत्माओंकी आत्मा हैं. ऐसी यदि भक्ति तुम्हें सिद्ध हो जाये तो इससे अधिक शिव मानें

कल्याणकारी पंथ योगियोंके लिए कोई दूसरा नहीं है. यदि आप योगके द्वारा परमात्मासे जुड़ना चाहते हैं तो आपको अपने आपमें ऐसे दृष्टिकोणका विकास करना होगा. यह बात योगके लिए कही गयी है, न कि भक्तिके लिए. फिर भी भक्तिकी गरज तो होगी ही. यहां भक्ति योगका अंग हो कर आ रही है, भक्तिके विभागके रूपमें योग नहीं आ रहा है. आप एक श्लोक समझ लें **''अज्ञे ज्ञानाय शास्त्रज्ञे दंभ-दर्पनिवृत्तये ब्रह्मज्ञे मुक्तये मुक्ते/भक्ते भक्त्यर्थं भक्तिः इष्यते''** (सुभाषित) जो अज्ञानी मनुष्य है उसे किसी भी वस्तुके ज्ञानके लिए भक्तिकी आवश्यकता तो होती ही है. जैसे आपको कोई भी विषयमें चाहे वह मॅडिकल्का ज्ञान हो, गणितका ज्ञान हो अथवा किसीका भी हो, उसे जाननेके लिए आपको उसके प्रति थोड़ी भक्तिकी आवश्यकता होगी ही. विषयके प्रति भक्ति होगी तो ही आप उस विषयको अच्छी प्रकारसे जान पाओगे. दूसरी सीढ़ी इसकी यह है कि जब आपने शास्त्र पढ़ लिये तो आपको आदर्श चरित्रका पता चलेगा और आपको यह भी समझ आयेगा कि इस प्रकारका आदर्श चरित्र तो आपका हो नहीं सकता. इस कारण आपमें दंभ और दर्प घटने लगेगा. थोड़े शास्त्र पढ़ कर अधूरे ज्ञानको अर्जित करनेकी वृत्ति सबसे बड़ी अहित करनेवाली होती है. उससे ये दो (दंभ-दर्प) चीजें मनुष्यमें स्वतः ही आ जाती हैं. जितने भी अपने मार्गके मर्यादी हैं, वे आपको सेवा करते देखेंगे तो तुरंत कुछ-न-कुछ टिप्पणी करे बिना रह नहीं पायेंगे. हिंदीमें एक कहावत है कि *चतुर चुप कैसे रहे.* ऐसे एक प्रकारका दर्प आ ही जाता है. उस दर्पको बनाये रखनेके लिए थोड़ा दंभ भी करना पड़ता है.

मैं ऐसे कई गोस्वामी बालकोंको जानता हुं. हमारे घरोंमें क्या नियम है यह समझो. यह प्रत्येक नर वैष्णवके लिए भी है कि स्नानके बाद तिलक लगाना चाहिये क्योंकि तिलक ठाकुरजीके चरणारविंदका

चिह्न है, उसे सदा मस्तकपर धारण करना चाहिये, जिससे कि हमें यह याद रहे कि प्रभुका चरण मैं मस्तकपर धारण कर रहा हूं और मैंने अपना मस्तक ठाकुरजीके चरणोंमें रख कर उनकी शरणागति स्वीकार की है. यह एक प्रतीकात्मक चिह्न है अपने आपको यह सुझाव देनेका कि हम ठाकुरजीके शरणागत हैं. अब यह आपकी भावनाके ऊपर है कि आप उसे लोगोंके बीच धारण करना चाहते हैं कि नहीं. पर इतना तो है कि जब-तक आप सेवामें हों तब-तक यह नहीं मिटाना चाहिये. उसके बाद आपके ऊपर है. मिटाना हो तो मिटा सकते हो और रखना हो तो रख सकते हो. वार्तामें दोनों तरहके प्रसंग आते हैं. एक वैष्णव रोज़ तिलक मिटा कर लौकिक कामके लिए जाता था. एक दिन वह मिटाना भूल गया तो ठाकुरजीने उसे मिटानेकी याद दिलायी. और दूसरा गोकुलनाथजीका प्रसंग है, जिसमें माला-तिलकके लिए वे जहांगीरसे मिलने काश्मीर तक गये. साधारणतया यह कहा गया है कि रखें तो अच्छा है पर नहीं रखनेसे कोई पाप नहीं लगेगा. आपको लगता है कि तिलक लगानेसे आपको कोई वैष्णव समझ कर आपका पक्ष ले सकता है, तो नहीं लगाना चाहिये. रातके लिए यह नियम नहीं है क्योंकि रातमें तकियेसे हाथसे वह मिट सकता है. मेरे एक चचेरे भाईसे कोई सेठ सुबह मिलने आया तो तब-तक उसने स्नान नहीं किया था. जैसे ही सेठके आनेकी खबर लगी, जा कर बिना स्नानके ही वह तिलक लगा कर बैठ गया. कारण पूछनेपर बोला कि "नहीं, हमें लोगोंके सामने ऐसे ही बिना तिलकके नहीं आना चाहिये. जो तिलक अपने आपको सुझाव देनेके लिए था कि हम ठाकुरजीके शरणागत हैं, वह गांवको दिखानेके लिए प्रयोगमें लाना बड़ी हास्यास्पद बात है. सेठ मिलने आ रहा है तो तिलक लगा लेना, यह तो दंभ ही है. एक प्रथा यह भी है कि तिलकके बीचमें गोपीचंदन लगाया जाये. शास्त्रमें स्पष्ट लिखा है कि जो व्यक्ति पूजा कर रहा है, उसके लिए इसका प्रयोग आवश्यक है. यदि आप पूजा

नहीं करते हैं तो यह नहीं लगाना चाहिये. इसका निषेध भी है. आज अस्सी प्रतिशत कोई बालक पूजा नहीं करते हैं, पर मुद्रा अवश्य लगाते हैं दंभके लिये क्योंकि दूसरोको कपाल दिखायी देता है. कपाल दिखायी देता है इसलिए गोपीचंदन नहीं धराना चाहिये भाई! वह तो पूजा करनेके लिए धराना होता है. यह सेवाके लिए आवश्यक नहीं है, पूजाके लिए है. बल्कि जो पूजा नहीं करता है उसके लिए इसकी मनायी है. पूजा तो कोई ही गोस्वामी शायद आजकी तारीखमें करता हो. यह सब दंभके कारण है. मैंने जब यही बात एक गोस्वामीसे कही तो उसने बड़ी मजेदार बात कही. ''हम कोई साधारण ब्राह्मण नहीं हैं, आचार्य हैं. हमें तो आदर्श रूपमें ही रहना चाहिये.'' चाहे नहाये हो अथवा नहीं, पर कोई आये तो दिखावट पूरी होनी चाहिये. आचार्य ब्राह्मणसे ऊंचे हैं, ब्राह्मणके लिए दंभकी मनायी है पर आचार्य वह कर सकता है! यह कहांका नियम है? पर यह उनका मेरे लिए बोध-पाठ था. ''शास्त्रज्ञे दंभदर्पनिवृत्तये'' जो शास्त्रज्ञ होता है, उसमें दर्प और दंभ दोनों आ जाते हैं. पर शास्त्रज्ञानके साथ भक्ति हो तो यह दोनों नहीं आते हैं. एक भक्तिकी उपयोगिता यह भी है.

''ब्रह्मज्ञे मुक्तये मुक्ते/भक्ते भक्त्यर्थं भक्तिः इष्यते'' जो शास्त्रज्ञ है और जो उसके प्रतिपाद्य तत्त्व ब्रह्म-तत्त्वको जान लेता है, उसे मुक्ति तब-तक नहीं मिलती है जब-तक उसमें भक्ति जाग्रत नहीं होती. ज्ञान होनेपर मानें ब्रह्म-तत्त्व जाननेपर मुक्ति तो तभी मिलेगी जब ब्रह्मके प्रति भक्ति होगी. पर भक्तिकी सच्ची आवश्यकता है केवल भक्ति. भक्तको क्या चाहिये? भक्ति. किसलिए? इसका कोई कारण नहीं है. बस भक्ति चाहिये भक्तिके लिए. बाकी ज्ञानमें कर्ममें, भक्ति किसी कारणवश है. पर भक्तिमें भक्ति करनेका कोई कारण नहीं है. केवल भक्ति करनेके लिए भक्ति चाहिये. अज्ञमें ज्ञानके लिए भक्ति है, शास्त्रज्ञमें दंभ-दर्प निवारणके लिए भक्ति है, ब्रह्मज्ञमें

मुक्तिके लिए भक्ति है. पर भक्तमें भक्ति किसी और कारणवश नहीं है, केवल भक्तिके लिए ही है. यह लाभ तो केवल भक्तको ही मिलता है और किसीको नहीं. यह पूरी भक्तिकी प्रक्रिया है. इसीलिए कहते हैं कि **सदृशो अस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये॥१९॥**

श्लोक :

**प्रसङ्गम् अजरं पाशम् आत्मनः कवयो विदुः॥**
**सएव साधुषु कृतो मोक्षद्वारम् अपावृतम्॥२०॥**

अनुवाद : **क्रान्तदर्शी कवियों विषयोंके संग कभी भी जीर्ण न होनेवाले पाशके(बन्धन) जैसे दरसाते हैं पर वह संग साधुजनके साथ करनेसे मोक्षके द्वारको खोलनेवाला बन जाता है॥२०॥**

विवेचन : **प्रसङ्गम्** मानें संघात. किन्ही भी दो वस्तुओंका जब संघात होता है तो वह किसी न किसी रूपमें आपको बांधता है. वह भी 'अजरं पाशम्' मानें जो पाश कभी ढीला न पड़ता हो. **आत्मनः कवयो विदुः** मानें जो विद्वान लोग हैं वे समझते हैं कि यह जो प्रसंग = संघात हमको एक अजर पाशमें बांध देता है.

एक भाई सोनेसे पहले रोज़ाना नींदकी गोली खाता था. किसीने उसे टोका कि "यह क्या करते हो. रोज़ नींदकी गोली खाते हो तो इसकी आदत हो जायेगी. फिर इसके बिना नींद नहीं आयेगी." उसने उत्तर दिया "अरे, आदत नहीं पड़ सकती. मैं तो यह गोली पिछले पच्चीस सालसे रोज़ ले रहा हूं. मुझे आदत आज-तक नहीं पड़ी." अब यह पाश या बंधन नहीं तो और क्या है! यह तो बहुत बड़ा पाश हो गया. इस प्रकार किसी भी वस्तुका संघात हमको अजर पाशमें बांध देता है. हमें पता नहीं चलता, पर ऐसा होता है. पाश तो वह तब नहीं कहलायेगा यदि एक दिन भी

वह गोलीके बिना सो कर बताये.

एक बहुत प्रसिद्ध कथा है. एक गुरु किसी सभामें वैराग्यका उपदेश दे रहा था. वह राजाने सुना तो राजाको लगा कि यह इतना सुंदर वैराग्यका उपदेश दे रहा है तो इसे महलमें बुला कर मुझे भी इसका उपदेश सुनना चाहिये. चार छह महीने तक वह वहां रहा और राजसी वैभव भी उस गुरुने भोगा. एक दिन राजाने पूछा कि "अब बताओ, आपमें और मुझमें भेद क्या रहा? जो राजसी-भोग मैं भोग रहा हूं, वह आप भी भोग रहे हो." गुरुने कहा "ऐसा है तो यह सब छोड़ कर मैं अभी निकल जाता हूं. पर क्या तू ऐसा कर पायेगा?" देखो राजा उससे बंधा है पर गुरु उससे बंधा नहीं है. जैसे अपने गोविंदजी महाराज थे. उनका गणित एकदम सही था कि "तुझे कुछ शंका है तो तुझे मेरे पास आना चाहिये. मैं तेरे दरबारमें अपनी सफाई देने क्यों आऊं. तू यदि मुझे एक राजाकी तरह बुला रहा है तो रख अपनी संपत्ति. मैं तो अपने ठाकुरजीके साथ चला." वह राजसी वैभवसे जीते थे पर उससे बंधे हुए नहीं थे. राजसी वैभवमें रहना एक अलग बात है और उससे बंधना अलग. हमारे पड़ौसीने अपने कुत्तेको बोरीमें बंद करके ट्रक्में लोड् करके अस्सी मील दूर भिजवा दिया. पंद्रह दिनमें वापस आ गया. यह है बंधन. और तोतेको दस वर्ष भी पिंजरेमें रखो, एक दिन यदि पिंजरा खुला रह जाये तो तोता उड़ कर वापस नहीं आता. सूरदासजी जैसे कहते है *"जैसे लाल मुनिन्की पांति पिंजरन चूर चली"* लालमुनि एक चिड़िया होती है जो यदि पिंजरा खुला रह जाये तो एकदम उड़ जाती है. सूरदासजी कहते है कि ठाकुरजीके जन्मका संदेश सुन कर गोपियां घरसे ऐसे भागी जैसे लालमुनि चिड़िया अपने पिंजरेसे निकल भागती हैं. तो यह पक्षी पिंजरेमें रहते तो हैं पर उससे बंधे हुए नहीं होते.

विद्वान लोग यही बात कहते हैं कि आत्माके लिए संघात

अजर पाश है. **सएव साधुषु कृतो मोक्षद्वारम् अपावृतम्** पर साधुपुरुषका यदि आप संग करो तो यह संघात किसी समय भी अजर नहीं रहता है. जब भी तोड़ना है तोड़ा जा सकता है और यदि पालना है तो पाला भी जा सकता है. योगकी पहली आवश्यकता यह है कि जितने भी अपने अजर पाश हैं वे अजर नहीं होने चाहिये, सजर होने चाहिये. संघ खोटा नहीं है पर उसका पाश खोटा है. उदाहरणके लिए मानो कि कोई डॉक्टर् जो आपकी बीमारीका इलाज कर रहा है, वह आपका रोग तो मिटा दे पर अपनी दवाईका रोग लगा दे तो एक दूसरा बंधन हो गया. एक छुड़ाया और दूसरा लगा दिया. ऐसा संग साधुका नहीं होता है. वह आपको अजर पाशसे छुड़ा कर आपको मुक्तिकी ओर ले जाता है॥२०॥

यह योगका मूल स्वरूप कपिलजीने अपनी माँको समझाया. क्योंकि वेदका ज्ञान वह स्त्री होनेके कारण माँ उसकी अधिकारी नहीं थी. जो संन्यासका प्रकार है, उसकी भी माँ अधिकारी नहीं थी. माँ इस योगकी अधिकारी है तो उसीका गौरव उन्होंने अपनी माँको सुनाया. इस योगके बाद अब सांख्य आयेगा. क्रमके अनुसार तो सांख्य पहले आना चाहिये था पर क्योंकि वह माँ है और उसे समझानेवाला उसका पुत्र है इसलिए थोड़ा क्रम बदल दिया गया है.

**प्रश्न :** साधु पुरुष और असाधु पुरुषको कैसे समझना चाहिये?

**उत्तर :** कोई भी सच्चा डॉक्टर् आपको ऐसी दवाई तो नहीं देगा कि जिससे आपको दवाईका ही रोग हो जाये. कोई भी सच्चा गुरु आपको ऐसी शिक्षा तो नहीं देगा कि आपको गुरुका ही रोग हो जाये. कोई भी अच्छा शिक्षक आपको ऐसा विद्यार्थी तो नहीं बनायेगा कि आप जिंदगी भर उसीसे पढ़ो. पढ़नेके बाद आपको महसूस होना चाहिये कि हां अब मुझे गुरुकी आवश्यकता नहीं है. मेरे दादाजीने मुझे एक वर्ष तक शांकर-भाष्यका केवल एक पेज् ही पढ़ाया. एक वर्ष बाद मैंने दादाजीको कहा "दादाजी मुझे पूरा शांकर-भाष्य समझ आ गया." वे बोले "बेटा तू गोता खा जायेगा." मैंने कहा "आप पूछ लो." जो-जो उन्होंने पूछा उसका सही-सही उत्तर मैंने दे दिया. उनसे तो एक पेज् ही पढ़ा था. पर उन्होंने एक पेज् ही ऐसा पढ़ाया था कि मुझे पूरा शांकर-भाष्य समझ आ गया. ऐसा गुरु सच्चा या वह गुरु सच्चा जो जीवन भर आपको अपनेमें लगाये रखे. इसी प्रकार साधुका संग आपको पाशमेंसे छुड़ानेवाला है और असाधुका संग आपको अजर पाशमें बांधनेवाला है.

यही समस्या देवहूतिको थी कि जिस कारणसे तू मुझे छोड़ कर जा रहा है, तो माँ और पुत्र होनेके नाते उसका और कपिलमुनिका संघात कैसा होना चाहिये? क्या यह संबंध हमारा सदाके लिए एक बंधन है? इसीलिए कपिल कह रहे हैं कि "मैं ऐसा पुत्र नहीं हूं जो सदा तुझे अपने ऊपर निर्भर रखूं. मैं तुझे योगकी बात इसीलिए बता रहा हूं कि जिससे मेरे ऊपर तेरी निर्भरता कम हो जाये. आपकी जानकारीके लिए कि नरेन्द्र मोदीने अपनी पत्नीको छोड़नेसे पहले अपनी पत्नीको अच्छी तरहसे शिक्षा दी और जब वह अपने पैरोंपर खड़ी हो गयी तब उसे छोड़ा. वह प्रधानमंत्री हो गया है तो भी उसकी पत्नी उसके पास जाती नहीं है. उसे

आवश्यकता ही नहीं है. यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है. क्योंकि अपनी पत्नीको कोई छोड़ता है! क्योंकि अपनी संस्कृतिमें पत्नी सारे घरके काम करती है और पगार भी नहीं लेती. उसको किस प्रकार छोड़ा जा सकता है? पर यह उसने अवश्य ही साधुकार्य किया था कि सब प्रकारसे उसे आत्मनिर्भर बना कर ही उसे छोड़ा. यह एक ऐसा कार्य किया है कि वह वंदनके पात्र है.

मेरे दादाजीने मुझे इस प्रकार नहीं पढ़ाया कि हमेशा मुझे उनकी आवश्यकता हो. एक व्यक्तिगत बात आपसे साझा करता हुं कि लोगोंने दादाजीकी कॅसेट् बनायी. दादाजीके पास एक प्रोफेसर् पढ़ने आया. उस समय दादाजीके पास समय नहीं था पढ़ानेका. तो उन्होंने उसे मेरे पास भेज दिया. क्योंकि उसकी और मेरी आयुमें अधिक भेद नहीं था, शायद वह बड़ा ही था, इसलिए स्वाभाविक था कि उसका वह भाव मुझमें नहीं था जितना दादाजीके प्रति था. पर पढ़ता था और बीच-बीचमें अपने गुबार भी निकालता था कि ''दीक्षितजी महाराज मुझे ऐसे पढ़ाते हैं, वैसे पढ़ाते हैं!'' मैं भी उसको यह कहता था कि ''दादाजीने यह बात इस प्रवचनमें समझायी है, उस प्रवचनमें समझायी है.'' उसने मुझसे पूछा कि ''क्या दादाजीके यह प्रवचन मिलते हैं?'' मैंने कहा ''हां, किसीने कुछ रॅकाई किये हैं.'' वह उस भाईके पास गया और बोला ''यह कॅसेट् मुझे चहिये.'' उस भाईने जवाब दिया ''तुम श्याम मनोहरसे पढ़ रहे हो. यह कॅसेट् उसके पास यदि चले गये तो वह इनको घोट-घोट कर प्रवचन करेगा. इसलिए मैं तुम्हें नहीं दूंगा.'' वह प्रोफेसर् मेरे पास आ कर बोला ''वह व्यक्ति मुझे देनेको तैयार है पर हमारे संबंधके और आपके घोट लेनेके कारण मना कर रहा है.'' मैंने कहा ''दादाजी मुझे पढ़ाते हैं, तब भी मुझे वे जो बताते हैं, उसे घोटनेकी आवश्यकता कभी नहीं हुयी, तो अब उनकी कॅसेट् घोट कर मैं क्या करूंगा!'' और मैंने आज-तक वह

कॅसेट् नहीं लीं. क्यों लूं? अरे! दादाजीने मुझे इस प्रकार पढ़ाया है कि मुझे उनकी आवश्यकता ही कभी महसूस नहीं हुयी. इसलिए नहीं कि मैं दादाजीसे अधिक बुद्धिमान अथवा विद्वान हुं. बल्कि इस कारण कि दादाजीने मुझे पढ़ाया इस प्रकार है. इसमें मेरी कोई प्रशंसा नहीं है, उनकी है कि वे ऐसे थे कि जिन्होंने मुझे इस प्रकार पढ़ाया. गुरु ऐसा होना चाहिये कि आपको पढ़नेके बाद गुरुकी गरज नहीं रह जाये. डॉक्टर् शिक्षक पिता पुत्र ऐसे ही होने चाहियें कि बादमें उनकी गरज नहीं रह जानी चाहिये. यह आत्मनिर्भरताकी बात योगमें समझानेमें आयी. क्योंकि महाप्रभुजी सांख्य और योग को स्वतः मोक्षकी प्रक्रिया बताते हैं. भक्ति परतः मोक्षकी प्रक्रिया है. वैष्णव और शैव शास्त्र परतः मोक्ष हैं. यह बात कपिलजी समझा रहे हैं. वे यह नहीं कह रहे हैं कि तू मुझको स्नेह मत कर. पर दूसरी तरहसे कह रहे हैं कि ऐसा संग हो तो गरज ही नहीं रह जायेगी. यदि एक दूसरेपर निर्भर हो गये तो अपना संग साधुसंग नहीं है, असाधुसंग है. और यदि यह साधुसंग है तो मैं सुनिश्चित करूंगा कि तू मुझपर निर्भर न रहे. यह पूरा विषय है. प्रश्न माँने योगका नहीं पूछा है, सांख्यका पूछा है. पर एक अच्छे पुत्र और शिक्षक की तरह वे उन्हें पहले आत्मनिर्भर होनेकी शिक्षा दे रहे हैं. उसके बाद सांख्य समझनेमें अधिक समय नहीं लगेगा.

### ( सत्संगार्थ साधुपुरुषोंके लक्षण )

श्लोक :

**तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम्॥**
**अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः॥२१॥**
**मयि अनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्॥**
**मत्कृते त्यक्तकर्माणस् त्यक्तस्वजनबान्धवाः॥२२॥**

अनुवाद : **साधुजनो सहनशक्तिवाले, करुणाशील, समस्त देहधारि-**

**ओंके सुहृद, शान्त, अजातशत्रु होनेके कारण साधुभूषण होते हैं।।२१।।**

**वे मेरेमें अनन्यभाव रखके दृढ भक्ति करनेवाले, मेरेलिये सर्व कर्मोंका और स्वजन बन्धुबान्धवोंका भी त्याग कर देते हैं।।२२।।**

विवेचन : इससे पहले श्लोकमें यह बात बतायी कि संग किसीके लिए भी अजर-पाश बन जाता है. जो जिसके साथ भी जुड़ा हुआ है, उसका बंधन उसके ऊपर आ ही जाता है. पर साधु पुरुषका संग बांधनेवाला नहीं, मुक्त करनेवाला होता है. जो मैंने आपको डॉक्टर् शिक्षक पिता पुत्र के उदाहरणसे समझाया था. ऐसे ही साधु पुरुष वही अच्छा है कि जिसके ऊपर आपकी निर्भरता न रह जाये. यह साधु पुरुषका कार्यलक्षण था, स्वरूपलक्षण नहीं था.

यह मैं आपको पहले बता चुका हुं कि एक स्वरूपलक्षण होता है, दूसरा कार्यलक्षण होता है, तीसरा कारणलक्षण होता है और चौथा प्रयोजनलक्षण होता है. किसी भी वस्तुको उसकी प्रकृति अथवा स्वभाव से परिभाषित करना अथवा उसके द्वारा किये जाते कार्यसे परिभाषित करना अथवा उसके पैदा होनेके कारणसे परिभाषित करना अथवा उसके द्वारा मिलते फलसे परिभाषित करना. इन चार प्रकारसे वस्तुकी परिभाषा दी जा सकती है. यह कहना कि ''जिसका संग हमें बंधनसे छुड़ाये, ऐसा व्यक्ति 'साधु पुरुष' कहलाता है'' वह उसका कार्यलक्षण है.

अब स्वरूपलक्षण बता रहे हैं. उस साधुकी नौ विशेषताएं बता रहे हैं. **तितिक्षवः, कारुणिकाः, सुहृदः, सर्वदेहिनाम् अजातशत्रवः, शान्ताः, साधवः, साधुभूषणाः, मयि अनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्, मत्कृते त्यक्तकर्माणः, त्यक्तस्वजनबान्धवाः** महाप्रभुजी इसके बारेमें क्या कह रहे हैं, पहले हम वह देख लें

यहां हमें एक बात समझनी चाहिये कि भक्ति व्यवहारके लेवल्पर, नीतिके लेवल्पर, धर्मके लेवल्पर, भक्तिके लेवल्पर और रसके लेवल्पर, किसी भी लेवल्पर की जा सकती है. यह सब एकसे एक उत्तरोत्तर लेवल् हैं. जैसे ॲवरेस्ट्की चोटी अठ्ठाइस हजार फुटके लेवल्पर है और उसका बेस्-कँप् दस हजार फुटके लेवल्पर है. पर है पूरा हिमालय. इसलिए प्रारंभसे ले कर अंत तक है तो हिमालय ही पर उसके लेवल् अलग-अलग हैं.

यह बात मैं इसलिए समझा रहा हुं कि महाप्रभुजीने यहां मुख्य वाक्यकी ही सुबोधिनी लिखी है. और जो गौण वाक्य हैं उन्हें तुम्हारे ऊपर छोड़ रहे हैं. क्योंकि महाप्रभुजी ऐसा मान रहे हैं कि आप यह बात तो समझ ही जाओगे. जैसे राजा आता है तो उसके आगे आनेवाली पायलेट् कार तो आयेगी ही, उसके सॅक्रेटरी तो आयेंगे ही. यह तो समझनेकी बात है, इसमें कहनेका क्या है! इसलिए भगवान् कह रहे हैं; **मयि अनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्** मुझमें अनन्य भाव रख कर जो दृढ़ भक्ति करता है.महाप्रभुजीके हिसाबसे यह प्रमुख वाक्य है. बाकी जितनी भी बातें आ रही हैं वे गौण रूपसे आ रही हैं. इससे पहले श्लोकमें जो कहा गया कि **प्रसङ्गम् अजरं पाशम् आत्मनः कवयो विदुः, सएव साधुषु कृतो मोक्षद्वारम् अपावृतम्** किसीके साथ भी आप संग करो तो वह संग आपको बांधनेवाला होता है. यह मैंने पहले भी आपको विस्तारसे समझाया है कि आप किसीका भी संग करते हैं तो उसका एक हेतु होता है. यदि वह संग आपको अपने गंतव्य तक न ले जा कर अपने साथ बांध ले तो वह अच्छा संग नहीं कहलायेगा. और जो संग आपको अपने साथ न रख कर अपने गंतव्यकी ओर ले जाये, वह संग ही अच्छा संग कहलायेगा. जो पहले मैंने आपको डॉक्टर् शिक्षक गुरु के उदाहरणसे समझाया था. जैसे आप चाय अथवा सिगरेट का

संग इसलिए करते हैं कि वह आपको एक नई ऊर्जा देती है. पर कुछ समय बाद आप देखेंगे कि आपको उन्हें पीनेसे नयी ऊर्जा तो नहीं मिलती पर न पीयो तो उसके बिना चलता नहीं. इसलिए यह संग बुरा है. आपको वह निरंतर नयी ऊर्जा प्रदान करे तो उसका संग अच्छा कहा जायेगा. पर ऐसा होता नहीं है. यही बात कपिलजी समझा रहे हैं कि संगके अच्छे-बुरेकी पहचान क्या है. जिस संगसे आपका गंतव्य आपको मिलता हो तो वह संग अच्छा है और जिससे आपका हेतु सिद्ध नहीं होता वह संग स्वयं ही आपके लिए एक रोग बन जाये, वह संग बुरा समझना चाहिये.

इससे बात आगे बढ़ी कि फिर सच्चा संग किसका? जिसमें महाप्रभुजी मुख्य बात निकाल रहे हैं कि **मयि अनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्** तेषां संगः साधुसंगः "जो मुझमें अनन्यभाव रख कर दृढ़-भक्ति करता है, उसका संग 'सच्चा संग' कहलायेगा." यह प्रमुख वाक्य है. अब जो ऊपर 'ये' कहा मानें किसका संग? उस बारेमें बात आ रही है जो कि गौण बात है. संग करनेवाले पुरुषके गुण बताये हैं; **तितिक्षवः** = जिसमें सहनशक्ति हो ऐसा. क्योंकि भक्तिके लिए सहनशक्तिकी परम आवश्यकता है. चाहे वह किसीकी भी भक्ति हो. जैसे देशके प्रति भक्तिमें भी आपको सहनशक्ति तो चाहिये ही. होता क्या है कि जब मनुष्य सहन करता है तो कठोर हो जाता है. इसलिए भगवान् कह रहे हैं कि सहन करते-करते आप कठोर मत हो जाओ क्योंकि कठोर हो जानेके बाद आपकी भक्ति खंडित हो जायेगी. भक्तिका स्वभाव तो कोमल है. इसलिए सहन इस प्रकार करना चाहिये कि हृदय कठोर न हो जाये. इसलिए **कारुणिकाः** = करुणा जब होगी तो मनुष्य कोमल बना रहता है. 'करुणा' मानें कोई प्राणी तकलीफमें है तो यदि आपको वह तकलीफ अनुभव हो रही है तो आप करुणाशील हो. आप यदि कठोर हो गये तो आप वह भी सहन कर लोगे.

एक टॅन्-कमांडमॅन्ट्स् फिल्म् आयी थी. उसमें पुराने समयमें फेरोका विवरण है कि वह अपने जीवनकालमें ही अपने पिरामिड् बनवाते थे. जब-तक वह तैयार होता तब-तक उनकी मृत्यु हो जाती थी और उनको उसमें दफना दिया जाता था, सारी सुख-सुविधाओंके साथ. उनकी ऐसी धारणा थी कि जब यह जागेगा तो उसको अपनी सब सुविधाओंकी तलाश न करनी पड़े. उसे वहीं मिल जायें. इतनी सारी वस्तुओंके लिए स्थान भी बड़ा चाहिये, इसलिए पिरामिड् बहुत बड़े हैं. आज भी उनकी बनावट एक आश्चर्यकी वस्तु है. एक-एक पिरामिड्को बनानेके लिए तीस-तीस हजार मजदूर लगते थे. उस फिल्ममें एक बहुत मजेदार प्रसंग आता है कि एक पत्थरको मजदूर रस्सेसे खींच रहे हैं, तो एक बुढ़िया, अपने मजदूर लड़केको पानी पिलाने आयी थी, वह गिर जाती है. कोई एक व्यक्ति हो तो उसे रोका भी जा सके पर जब तीस हजार लोग लगे हों तो उन्हें कैसे रोका जाये. इसलिए लोग विचार करते हैं कि कुचल रही है तो कुचलने दो पर काम मत रोको. उस समय मोज़ेज़् आता है और कहता है कि "यह एक जीवनका प्रश्न है. काम रुकता है तो क्या हुआ पर एक जीवन तो बचेगा." वह काम बंद करवा देता है. उस बातसे राजकुमारको संदेह होता है कि "तुम मजदूरोंके प्रति इतने संवेदनशील क्यों हो? हम राजाओंको तो इतनी सहानुभूति नहीं होनी चाहिये मजदूरोंके प्रति." उसके बाद मोज़ेज़्की पोल खुल जाती है कि वह लेबर्मेंसे ही किसीका पुत्र है, राजाकी बहनका पुत्र नहीं है. उसको वहांका राजा अपना भांजा समझ कर बहुत प्रेम करता था. उस जमानेमें ईजिप्त् सगे भाई बहन विवाह कर सकते थे. इसलिए वहांके राजकुमारकी बहन अपने भाईके बजाय मोज़ेज़्से विवाह करना चाहती थी. इस बातकी भी वहांके राजकुमारको ईर्षा थी. उस बुढ़ियाको बचानेके प्रसंगसे उस राजकुमारको यह अंदाजा लगता है कि कहीं कुछ गड़बड़ है. वह रॉयल्-फॅमिलीका नहीं होना चाहिये. वह राजकुमार कठोर है पर मोज़ेज़् कारुणिक है.

कारुणिक होनेमें एक समस्या है कि जो तुम्हें अच्छा लगता है, उस पर तुम्हें करुणा आती है और जो अच्छा नहीं लगता उस पर नहीं आती. यह प्रत्येक कारुणिक व्यक्तिकी समस्या है. उनमें दूसरेके लिए उदासीनताका भाव रहता है. ऐसा भी नहीं होना चाहिये. इसलिए कहते हैं **सुहृदः** = उसका हृदय अच्छा होना चाहिये. केवल अपनोंके लिए ही करुणा, ऐसा नहीं होना चाहिये. आप देख सकते हो कि आप एक कौएको नुकसान पहुंचाओ तो उनकी सारी जमात इकठ्ठी हो जाती है और काँय-काँय करके परेशान कर देती है. आप कबूतरको नुकसान पहुंचाओ तो कौआ उसे खा जाता है. इस प्रकार कौआ केवल अपनी प्रजातिके लिये कारुणिक है. दूसरोंके लिए वह नहीं है क्योंकि उसका हृदय अच्छा नहीं है. करुणाके साथ सुहृदयताका होना भी आवश्यक है. हृदय अच्छा होगा तो आप पक्षपाती करुणा नहीं करेंगे. **सर्वदेहिनाम्** सभी देहधारियोंके लिए आपका हृदय अच्छा होना चाहिये. अपने यहां वार्तामें आता है कि नारायणदास दीवान जो कि स्वयं वैष्णव थे उन्होंने एक वैष्णवको कर्जा न चुकानेपर हंटर् लगवाये. गुसांईजीने पूछा कि "तुम ऐसा अत्याचार कैसे कर सकते हो?" उन्होंने उत्तर दिया "मुझे पता नहीं था कि यह वैष्णव है." गुसांईजीने कहा "पर जीव तो है!" वैष्णव हो तो ही करुणा करनी और अवैष्णव हो तो करुणा नहीं करनी, यह अच्छे भक्तकी पहचान नहीं है. **सुहृदः सर्वदेहिनाम्**. अब अपना सर्व देह-धारियोंके लिए अच्छा हृदय होगा जब हमारी किसीसे शत्रुता नहीं होगी. जब किसीसे शत्रुता होगी तो यह संभव ही नहीं होगा. इसलिए कह रहे हैं **अजातशत्रवः** = ऐसा व्यक्ति जिसमें शत्रुताका भाव न हो. क्योंकि शत्रुताका यदि भाव होगा तो उसके कारण कारुणिक सुहृदय होनेपर भी आपको मारनेकी इच्छा हो जायेगी.

संस्कृतमें एक कहावत है; रोग और शत्रु को जब पैदा होते

यदि न मारो तो उनके बढ़नेके बाद उन्हें मारा नहीं जा सकेगा. मोज़ेज़्के साथ भी ऐसा ही हुआ था. जब वह पैदा हुआ था तो वहांके ज्योतिषीने वहांके राजाको कहा था कि ''आजके दिन जो पैदा हुआ है, वह आपका उत्तराधिकारी होगा.'' वहांके राजाको हुआ कि मेरा उत्तराधिकारी तो मेरा बेटा होना चाहिये. अन्य कोई क्यों बने. इसलिए उसने अपनी सेनाको आज्ञा दी कि ''आज जो भी पैदा हुआ है, उसको मार डालो.'' यह सुन कर मोज़ेज़्की मांने उसे टोकरीमें बैठा कर पानीमें बहा दिया. वह बालक राजाकी बहनको बहता हुआ मिला और उसने उसे अपना पुत्र मान लिया. यह भेद वहांके राजाको पता नहीं था. यही कथानक अपने कृष्णका भी है. इस कारण कई लोग ऐसा मानते हैं कि यहूदी लोग और कोई नहीं यदुवंशी हैं. जूडा-यदु, कृष्ण और मोज़ेज़् की कथा बहुत हद तक मिलती है. कृष्णने जैसे व्रजवासियोंको बचाया, वैसे ही मोज़ेज़्ने मजदूरोंकी रक्षा की. वह भी नदी पार करके ही बचे थे. यह भी यमुनाजीको पार करके गये. बहुत समानताएं हैं दोनोंकी कहानीमें. पर सच क्या है यह तो भगवान् ही जाने. **अजातशत्रवः** पर शत्रुभाव हमें तब नहीं होता जब मस्तिष्क शान्त हो. इसलिए कहते हैं **शान्ताः** = मस्तिष्कमें अशान्ति हो तो शत्रुभाव आये बिना रहेगा नहीं. अशान्त मनसे हम यह कभी विचार नहीं कर सकते कि शत्रुतासे लाभ-हानि क्या है. इसलिए कहा कि शान्त मन होना चाहिये. जीवनका कोई भी निर्णय हो वह शान्त मनसे ही लेना चाहिये. आपने देखा होगा कि बस कन्डक्टरका टिकिट बांट-बांट कर दिमाग गरम हो जाता है, और इसके कारण वे अशान्त हो जाते हैं.

एक बार कुछ लोगोंने मेरे साथ यात्रा करनेकी इच्छा की. मेरे हां करनेपर एक भाईने सबकी टिकिट् करवा दी. उसमें समस्या यह हुयी कि किसी एक व्यक्तिके नामके साथ उसकी उम्र मॅच्

नहीं होती थी. किसी कारणवश यह गलती हो गयी. अब जब कन्डक्टर् आया तो उसने यह कहा. वह भाई जिसने टिकिट् बुक् करायी थी, बहुत तनावमें आ गया. मैंने चुपकेसे उससे पूछा ''क्या हुआ?'' मैंने तो इसलिए पूछा था कि यदि कोई साधारण बात हो तो मैं कुछ समाधान निकालूं. पर वह इतने तनावमें था कि जोरसे बोला ''चुप रहो.'' मैं समझ गया कि यह ऐसा केवल तनावके कारण कह रहा है. इसमें इसका कोई दोष नहीं है. सब लोग भी उसे देख रहे थे कि श्याम बाबासे कैसे बात कर रहा है. मैं भी हंस कर चुप हो गया. यह सब अशान्त मनके कारण व्यक्ति अपना विवेक खो देता है.

**साधवः साधुभूषणाः** = ऐसे लोग जिनमें उपरोक्त गुण होते हैं, वे केवल साधु ही नहीं होते, साधुओंमें भूषण होते हैं. **मयि अनन्येन भावेन भक्तिं कुर्वन्ति ये दृढाम्** तेषाम् संगः साधुसंगः ऐसे लोगोंका संग करना चाहिये. महाप्रभुजीने इन गुणोंकी व्याख्या नहीं की है क्योंकि वे इसको गौण वाक्य मान रहे हैं. वे इनको 'ये' का विशेषण मान रहे हैं. कैसे ये सारे गुण एक-दूसरेसे निकल रहे हैं, यह देखनेवाली बात है.

**मत्कृते त्यक्तकर्माणस् त्यक्तस्वजनबान्धवाः** जो व्यक्ति आलस्यसे कर्म नहीं छोड़ते पर मेरे लिए कर्म करना भूल जाते हैं; अपने यहां वार्तामें इसका बहुत सुंदर प्रसंग आता है. एक वैष्णव ठाकुरजीका समय नहीं चूक जाये, इस कारण जल्दी-जल्दी सोहनी करता था. ऐसे करतेमें सोहनीकी रस्सी टूट गयी तो उसने अपना जनेऊ तोड़ कर उससे सोहनीको बांध दिया. वहां ठाकुरजीने उसे टोका कि ''तू यह क्या कर रहा है? ऐसा करनेसे नरकमें जायेगा.'' जैसे मूर्तिमें भगवान्की प्रतिष्ठा होती है, उसी प्रकार जनेऊमें सारे देवता और वेदादि शास्त्रों की प्रतिष्ठा होती है. जिसमें सभीकी प्रतिष्ठा हुयी हो उसे तोड़ कर सोहनी बांधनी, देवताओंको नीचा दिखाना है. तब

उस भगवदीयने क्या कहा कि "आपकी मंगलामें देर होना मुझे मंजूर नहीं है. वह समयसे हो और उसके कारण मुझे नरक मिल जाये तो मुझे मंजूर है." **मत्कृते त्यक्तकर्माणः** नरक जाना उसने मंजूर किया पर ठाकुरजीकी मंगलामें देरी मंजूर नहीं की. "कर्मका त्याग जो मेरे लिए करता है." आलस्यके कारण नहीं, देवताओंको नीचा दिखानेके लिए नहीं पर केवल उनके सुखके लिए. **त्यक्तस्वजनबान्धवाः** यही बात महाप्रभुजीने कही है **"भार्यादिर् अनुकूलश्चेत् कारयेद् भगवत्क्रियाम्"** (त.दी.नि.२।२३१) यदि आपके परिवारके जन अनुकूल हों तो सब मिल-जुल कर सेवा करो. यदि उदासीन हों तो स्वयं करो. पर वह प्रतिबंध करते हों तो घर छोड़ दो. यदि यह संभव नहीं है तो सेवा छोड़ दो. यह बात ही यहां कही है॥२१-२२॥

कारिका :

**भगवद्गतचित्तेन ये श्रुताः भगवद्गुणाः॥**
**ये वा संकीर्तिताः नित्यं यावत् ते रसतां ययुः॥**
**तावत् त्यक्तैः तदीयैः च बाधा भवति सर्वथा॥१॥**

अनुवाद : भगवान्में चित्त लगाके भगवान्के गुणोंका नित्य श्रवण करना तब-तक जरूरी है, जब-तक श्रवणभक्तिमें भक्तिरसरूपता प्रकट न हो जाय. क्योंकि बीचमें छोड़ देनेके कारण कभी बाधा उत्पन्न हो सकती है॥१॥

विवेचन : हम भगवान्में चित्त धरके साधु पुरुषोंसे उनके गुणोंका श्रवण करते हैं अथवा संकीर्तन करते हैं तो स्मरणका अधिकार मिलता है. आजकी तारीखमें कार्योंका विभाजन होनेके कारण साधना-प्रणालीमें कीर्तन करनेवाले अलग हो गये और सुननेवाले अलग हो गये. पर भक्तिकी साधना-प्रणालीमें श्रवण और कीर्तन दो अलग नहीं हैं, जो श्रवण करता है उसे कीर्तन करना चाहिये और जो कीर्तन

करता है उसे श्रवण करना चाहिये. जैसे **''तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा''** (सि.मु.२) में सेवा तन और वित्त से होती है. उन दोनोंके सहयोगसे होती है. उसी प्रकार श्रवण-कीर्तन एक-दूसरेके सहयोगसे होता है. साधनाके हिसाबसे पृथक्-पृथक् नहीं होता. क्योंकि श्रवण कीर्तन करनेसे ही स्मरणका अधिकार मिलता है. केवल श्रवणसे अथवा केवल कीर्तनसे अपना मस्तिष्क स्मरणके लिए तैयार नहीं होता है. जब श्रवण-कीर्तनका आवर्तन होगा तो ही स्मरण होगा. उदाहरणके लिए मैं पढ़ा रहा हुं. पर आप उसे मनमें नहीं बोलेंगे तो आपको कुछ भी याद नहीं रहेगा. उसी प्रकार मनमें बोलो और सुनो नहीं तो पता नहीं क्या बोलोगे. प्रक्रिया है कि जो सुना उसे बोलो और जो बोला उसे सुनो. निरंतर इसका आवर्तन आपको उस विषयका स्मरण करनेमें सहायक होगा. मानों कि आप किसी रोडपर जा रहे हो तो आपको उस जगहका नक्शा याद नहीं रहेगा. जा कर वापस आओ तो बराबर याद रहेगा. ऐसा ही संगके साथ है. आप किसीके सुखमें साथ हैं पर दुःखमें साथ नहीं दे रहे हैं अथवा दुःखमें साथ दे रहे हैं और सुखमें साथ नहीं हैं, तो ऐसा संबंध बहुत करीबी नहीं बन पाता. दोनोंमें साथ रहें तो वह संबंध बहुत करीबी हो जाता है. इस प्रकार कई वस्तुओंमें आवर्तन आवश्यक होता है, भौतिकरूपसे, मानसिकरूपसे, शारीरिकरूपसे और भावानाओंके परिप्रेक्षसे. किसी वस्तुको आप खूब रटो पर जब मौका आयेगा तो उसे भूल भी सकते हो. पर भूलनेके बाद यदि वह चीज याद आये तो फिर वह नहीं भूलती. इसलिए यह आवश्यक है कि रटी हुयी वस्तुको एक बार मस्तिष्कसे निकाल दो, दिमागको कहीं और लगा दो और फिरसे उसे याद करो. उसके बाद वह चीज हम कभी नहीं भूलेंगे. इस पद्धतिको अपने यहां 'मुन्था-पद्धति' कहा गया है. वेदोंको इसी प्रकार पढ़ाया जाता था. जैसे कोई श्लोक है, उसे विभागोंमें बांट कर कई-कई बार उसका आवर्तन करना 'मुन्था-पद्धति' कहलाती है. उस समयमें इस पद्धतिसे बिना पुस्तकके लोग वेदके

पांच-दस हजार श्लोक हृदयंगम कर लेते थे. आज भी ऐसे लोग हैं जो वेदके दस हजार मंत्रोंको पूरा बोल सकते हैं. इतना ही नहीं आगेसे पीछे, पीछेसे आगे कैसे भी. मुन्था-पद्धतिका सौंदर्य ही इसमें है कि आप एक बार चीजको याद करके उससे अपने दिमागको हटा लो और फिर उसे याद करो. इस आवर्तनसे यह एकदम स्थिर हो जाता है.

इस कारण भगवद्गुणोंका हमने श्रवण किया तो गुणों याद नहीं होंगे. कीर्तन करनेसे वह प्रारंभसे ही याद आता है, कोई बीचसे पूछे तो याद नहीं आता. कीर्तनका यह नुकसान है. पर श्रवण-कीर्तनकी मुन्था करनेसे स्मरण ठीक-ठीक रहता है. यह सिद्धांत है. यह एक तकनीक है. इसीलिए कीर्तन कोई कर रहा है और श्रवण कोई कर रहा है, यह विभाजन अच्छी तकनीक नहीं है, स्मरणके लिए. तनु-वित्तजा होनी चाहिये, सेवा तभी मानसीके रूपमें बराबर सिद्ध होगी. इसलिए श्रवण-कीर्तन दोनों यदि होंगे तो स्मरण बराबर हो सकेगा. स्मरण ही मानसी है.

**भगवद्गतचित्तेन ये श्रुताः भगवद्गुणाः, ये वा सङ्कीर्तिताः नित्यं.** यहां नित्यं = सदा कहा है. **यावत् ते रसतां ययुः** ऐसा करते-करते एक ऐसा समय आयेगा कि उसमेंसे रस प्रकट होगा. भक्तिका एक लेवल् क्रियाका कर्मका व्यवहारका नीतिका धर्मका है और भक्तिका एक लेवल् लीला अथवा रस का है. इन सभी प्रकारोंमें भेद क्या? जो भी क्रिया अपने शरीरमें अपने ज्ञान-इच्छा-प्रयत्नके बिना चल रही है, वह क्रिया है. जैसे नींद आना, जागना, भूख लगना, प्यास लगना, सांस लेना, ये सारी क्रियाएं हैं. ये हमारी इच्छाओंपर निर्भर नहीं हैं. और बहुत सारी क्रियाओंका तो हमें ज्ञान भी नहीं होता है, फिर प्रयत्न तो करनेका प्रश्न ही कहां खड़ा होगा! अब यही क्रियाएं यदि हम अपने ज्ञान-इच्छा-प्रयत्नसे करने लगें तो यह क्रिया

न रह कर कर्म हो जायेगी. इसी कर्मको जब दूसरेके साथ करते हैं तो यही कर्म, कर्म न रह कर व्यवहार हो जाता है. उदाहरणके लिए आपको भूख लग रही है. यह क्रिया है. पर जब आप अपनी इच्छासे वस्तुके बारेमें जान कर भोजन करते हो तो वह कर्म हो गया. पर जब भी हम यही भोजन किसी औरके साथ साझा करते हैं तो यह व्यवहार हो जाता है. छोटे बच्चे कुछ भी वस्तु भूखके कारण अपने मुंहमें रख लेते हैं. यह क्रियाका लेवल् है. पर जब उसे यह ज्ञान होता है कि क्या खाना और क्या नहीं खाना तो वह कर्म हो जाता है. जब वह स्कूल् जाता है, तब वह साथियोंके साथ खानेका व्यवहार सीखता है. व्यवहारमें केवल एक बात ध्यानमें लानेकी है कि यह दो व्यक्ति जिनके बीच व्यवहार हो रहा है, उन दोनोंको स्वीकार्य होना चाहिये. यदि दोनोंमेंसे एकको स्वीकार नहीं है तो वह व्यवहार न हो कर कर्म ही होगा. एक बात और कि इनमेंसे कोई एक व्यक्ति व्यवहार नहीं करे फिर भी दूसरा उसे निभाये, चाहे वह अच्छा हो अथवा बुरा, तो वह व्यवहारसे उठ कर नीति हो गयी. आप मेरी लड़कीकी शादीमें नहीं आये, पर अपने संबंधोंके कारण बिना बुलाये भी मैं आपकी लड़कीकी शादीमें आया, तो यह नीति हो गयी. इसमें आप पारस्परिक व्यवहारसे ऊंचे उठ गये हो. आप एक्शन्के रिएक्शन्के रूपमें कोई कार्य नहीं कर रहे हो पर आपके कुछ अपने मापदंड हैं जिनके कारण आप यह कर रहे हो.

पचासवें दशकमें सीमॅन्ट् बनानेकी कंपनी ए.सी.सी.का टायेरेक्टर् माणसाके जमींदार थे हिम्मत सिंधजी. उनके भानजे, लखतरके राजकुमार, उनके साथ रहते थे. मेरे दादाजीके अच्छे दोस्त भी थे. जब मेरी बहनका विवाह हुआ, उन्हे मैं कंकोत्री देना भूल गया. ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि हिम्मत सिंधजीके जानेके बाद हमारा वहां आना-जाना बहुत कम हो गया था. उनके भानजेको मेरी बहनके विवाहकी कहींसे

खबर लगी. रातको नौ-बजे तक उसने राह देखी कि काई बुलाने आयेगा. जब हमारी ओरसे कोई नहीं पहुंचा तो साढ़े-नौ बजे स्वयं ही बिना बुलाये चल कर आ गये. मुझे काटो तो खून नहीं, ऐसी मेरी स्थिति हो गयी. मैंने उनसे माफी माँगी कि ''मैं बहुत शर्मिंदा हूं कि आपको बुलाना भूल गया.'' वह दादाजीको मामाजी कहते थे. बोले ''आप बुलाये अथवा नहीं, पर क्या ऐसा हो सकता है कि मामाजीकी लड़कीकी शादी हो और मैं न आऊं!'' यह व्यवहार नहीं है. परस्पर लेन-देन नहीं है. इकतरफा है पर यह व्यवहारसे ऊपर उठ कर बात है, जो कि मूल्योंपर आधारित है. इसलिए यह नीति है.

यह नीति भी दो प्रकारकी होती है. एक तो आप अपने जीवनके मूल्य स्वयं गढ़ें और दूसरा किसी शास्त्रपर आधार रखके मूल्य गढ़ें. जब वह शास्त्रपर आधारित होंगे तो वह धर्म हो जायेगा. कितने रिक्शावाले होते हैं कि यदि आप रिक्शामें कुछ भूल जायें तो आपको ढूंढ़ते हुए वापस आ कर आपका सामान लौटाते हैं. आप भूल जायें तो कोई कानून नहीं है जो उसको बाधित करता हो कि वह सामान लौटाये. पर यह समझ कि किसी दूसरे व्यक्तिकी कमायी मैं क्यों रखूं? यह धर्मके अंतर्गत आती बात है. इस धर्मसे ऊपर भक्ति आती है. भक्तिमें आपको दंडका भय नहीं है और पुरस्कारकी आकांक्षा भी नहीं है. तुम्हारी अंदरकी प्रवृत्ति तुम्हें कह रही है कि मुझे इस प्रकार व्यवहार करना चाहिये. जैसे अपने यहां कहा जाता है कि ठाकुरजीको न तो ठंड लगती है, न भूख लगती है और न गर्मी लगती है. पर भक्ति आपको यह समझाती है कि मेरे ठाकुरजी भूखे है. मुझे ठंड लग रही है तो मुझे ठाकुरजीको वस्त्र धराने है. मुझे गर्मी लग रही है तो मुझे ठाकुरजीको पंखा करना चाहिये. यह धर्म नहीं है क्योंकि यह करना आपका कोई कर्तव्य नहीं है. पर आपका हृदय आपको कह रहा है कि ऐसा

तो करना ही चाहिये. जब आपका हृदय आपको कहने लगे तो यह भक्ति हो जाती है. पर भक्तिको रस होनेमें एक कदम और आगे जाना होता है. यह भक्ति तो है पर रस नहीं है.

भक्ति और रस होनेमें थोड़ा भेद है. जैसे आपको किसीके दुर्व्यवहारपर क्रोध आ रहा है और आप वह जाहिर भी कर रहे हो अथवा किसीके सद्व्यवहारपर आपको स्नेह आ रहा है, तो यह क्रोध और स्नेह आपके भीतरकी जगी हुयी वृत्तियें हैं. पर इन वृत्तियोंके लिए आपको किसीका दुर्व्यवहार अथवा सद्व्यवहार आलंबनके रूपमें चाहिये ही. यदि किसीके प्रति स्नेह प्रकट होना हो तो हृदयकी भी यही अभिलाषा रहती है कि उसका हमारे प्रति सद्व्यवहार होना चाहिये. किसीके प्रति क्रोध जाग्रत होना हो तो हृदयकी अभिलाषा यही होती है कि उसका आपके प्रति कोई दुर्व्यवहार होना चाहिये. जगजीतसिंहकी एक बहुत प्रसिद्ध गज़ल है *''मैं चाहता भी यही था और वह बेवफा निकले, उसे समझनेका कोई तो सिलसिला निकले.''* मैं चाहता था कि किसी तरह उनसे छूट जाऊं. पर जब-तक वह कुछ ऐसा न करे तब-तक कैसे छोडूं, तो मुझे उनकी बेवफाईका बहाना मिल गया. इस प्रकार हमारे हृदयकी वृत्तियोंको कोई आलंबन चाहिये कि जिससे हम अपनी भावनाओंको ठीकसे प्रकट कर पायें. यह भक्तिकी स्थिति है. पर रसमें होता क्या है कि आप किसी भी तरहका व्यवहार करो पर हमारी मन:स्थिति ऐसी बन चुकी है कि हम तेरे साथ सद्व्यवहार करनेको मजबूर हैं. इस स्थितिमें आ कर भक्ति 'रस' हो जाती है. जहां हृदयको कोई अपेक्षा नहीं रह जाती. दुश्मन यदि सामने हो तो द्वेष करनेका मन किसका नहीं होगा. भगवान् सामने हो तो भक्ति करनेका मन किसका नहीं होगा. दोस्त सामने हो तो किसका मन स्नेह करनेका नहीं होगा. पर सामने हो कि न हो, मेरा तो स्वभाव ही भक्तिका हो गया है तो वह भक्ति 'रस' हो जाती है.

साधारणतया इस रसकी स्थितिका होना बहुत ही कठिन है. यह किसी भी प्रकारकी भावनाके साथ हो सकता है. उदाहरणके लिए अपना बालक हो तो वह ऊधम करे अथवा शांत हो कर बैठे, उसके ऊपर प्यार आता ही है. पर पड़ौसीका बालक ऊधम करे तो उसके ऊपर प्यार नहीं आता. क्योंकि अपना स्वभाव प्यारका नहीं है. प्यार तो आता है और वह है भी सच्चा पर अपना स्वभाव प्यारका नहीं है. प्यार रसात्मक नहीं हुआ है अभी भावात्मक है. भाव और रस में इतना भेद है. भाव जब स्वभाव बन जाये तब वह रस बन जाता है. इसी प्रकार रस जब स्वभाव नहीं बनता तो वह केवल भाव होता है, हो सकता है वह सच्चा हो, पर है भाव ही. एअर्-हॉस्टेस्की मुस्कान कितनी मधुर होती है, पर क्या कोई उसे रस अथवा भाव कह सकता है? नहीं, वह तो उसका व्यवहार है. रसरूपतामें किसी चीजका पहुंचना, एक अलग ही प्रकार है. और न पहुंचना एक अलग प्रकार है. इस प्रकार श्रवण-कीर्तनके द्वारा जो हमको स्मरण बना रहे तो वह धीरे-धीरे भक्ति तक पहुंच सकता है. और भक्ति जब रसता तक पहुंचती है तब हमको भक्तिका सच्चा स्वाद मिला, ऐसा कहा जायेगा.

जो भाई मेरे यहां बहनकी शादीमें बिना बुलाये आया था, वह अब बम्बईमें नहीं रहता, सौराष्ट्रमें रहता है. मैं एक बार सौराष्ट्र गया तो मैंने सोचा वह आया था तो मुझे भी उससे मिलने जाना चाहिये. तो यह हुआ सद्व्यवहारका बदला. यह रस नहीं है. व्यवहार ही है. मैं किसी औरकी बात क्या कहूं अपनी ही कहता हूं कि वह अभी यहां बम्बई आया हुआ है किसीके इलाजके लिए पर अभी तक मुझे समय नहीं मिल पाया है उससे मिलनेका. मुझे अपने इस व्यवहारपर असंतोष भी होता है पर क्योंकि अभी तक वह व्यवहार रस तक नहीं पहुंचा है. यदि पहुंचा होता तो खाना-पीना सब छोड़ कर मैं जाता. तो भक्ति रसरूपता तक पहुंचे, यह एक

अलग स्थिति है और वह भक्ति तक ही रह जाये, यह अलग स्थिति है.

ऐसा भी हो सकता है कि अपनी भक्ति धर्म तक ही सीमित रह जाये क्योंकि भक्ति हमारा धर्म है, इसलिए हम कर रहे हैं. हमें यह करनेसे कोई रोक नहीं सकता. देखो, इसमें एक प्रकारका अपना अहंकार बोल रहा है. इस प्रकारकी भक्ति धर्मके अंतर्गत आयेगी. भक्ति एक व्यवहार भी हो सकता है. जैसे श्रीनाथजीने मेरी यह मानता पूरी कर दी है तो मुझे उनकी भक्ति तो करनी चाहिये. जो भी देवता मानता पूरी नहीं कर रहा तो क्यों हम उसकी भक्ति करें! इस प्रकारकी भक्ति रस अथवा भक्ति न हो कर भक्तिका व्यवहार है. क्योंकि तू मेरी मानता पूरी कर रहा है तो मुझे भी तेरी भक्ति करनी चाहिये. इस प्रकार भक्तिके क्रियात्मक कर्मात्मक व्यवहारात्मक नीत्यात्मक धर्मात्मक भक्त्यात्मक सभी रूप हो सकते हैं.

इस बातको लक्ष्यमें रख कर महाप्रभुजी कह रहे हैं **ये वा सङ्कीर्तिताः नित्यं यावत् ते रसतां ययुः** जब-तक भक्ति रस नहीं बन जाती तब-तक **तावत् त्यक्तैः तदीयैः च बाधा भवति सर्वथा** यदि तदीय मानें जिनके संगसे आपको भक्ति प्राप्त हुयी है, वह आपको छोड़ दे तो भक्तिमें बाधा उत्पन्न हो सकती है. यह हम देख भी सकते हैं कि छोटे-छोटे बच्चे, घरमें सेवा बिराजती है तो सेवामें पहुंचते हैं पर जैसे ही कॉलेजका संग आया तो उनका सेवाग्रह छूट जाता है. क्योंकि उनको दूसरा संग मिल जाता है. इस प्रकार कुछ न कुछ बाधा उत्पन्न होती है. घरका संग मिले तो सारे बच्चे सेवा छोड़ नहीं देते हैं पर यह निर्भर करता है कि आपके और आपके परिवारके संबंध कैसे है! संबंध अच्छे है तो सेवा नहीं छूटती है और खराब है तो सेवा छूट जाती है. अधिक करके यह जिम्मेदारी माता-पिताकी होती है पर ताली

दोनों हाथोंसे बजती है. इस तरह रसकी अवस्था तक न पहुंचनेपर संग यदि छूट जाये तो भक्ति खंडित होनेकी संभावनाएं तो रहती ही हैं.

गालिबका एक बहुत अच्छा शेर है *''थी वह एक शख्सके तसव्वुरसे अब वह रहनाइये खयाल कहां. फिक्र-ए-दुनियामें सर खपाता हूं, मैं कहां और यह बबाल कहां!''* जब वह गज़ल लिखता था तो कहता है कि किसीका ध्यान मेरे दिमागमें ऐसा था कि जिसके कारण मैं गज़ल लिख पाता था. अब मेरी गज़लमें जो काव्यकी सुंदरता आनी चाहिये वह नहीं आ रही है. सारी दुनियाके खयाल अब मेरे दिमागमें भर गये हैं. क्योंकि अब दुनियासे संबंध हो गया है तो जिससे शेर लिखनेका खयाल आता था वह संबंध टूट गया. इसलिए रसता तक पहुंचनेके लिए संगका बहुत महत्त्व है. जब रस प्रकट हो जायेगा तो वह स्वभाव बन जायेगा. उसके बाद कोई समस्या नहीं होगी. तो जैसे वह फिल्मी गाना था कि *शीशा हो या दिल, आखिर टूट जाता है.* तो आखिरमें वह भक्ति खंडित हो ही जाती है. वह कब नहीं टूटती कि जब उसे संभालनेवाला कोई साथ हो तब. इसीलिए महाप्रभुजी कह रहे हैं कि तब-तक तो बाधा होनेकी संभावना पूरी है॥१॥

कारिका :

**विविधाअपि ते तापाः सोढव्याः तापसत्वतः॥**
**बलात् कृत्वा तपस्यन्ते ततः प्राप्ताः स्वतो वराः॥२॥**

अनुवाद : जो कुछ विविध ताप हैं, खुद तापस होनेके कारण उनको झेल कर भी सहन कर लेना चाहिये. ऐसी तपस्यासे वरदान स्वतः प्राप्त हो जाता है॥२॥

विवेचन : यदि आपको साधुसंग मिला है, उससे होनेवाली तपनको

मानें कष्टोंको झेल कर भी आप उस संगको निभा पा रहे हो तो आपकी भक्तिके रसरूप होनेकी संभावनाएं अधिक हैं. और आप यदि थोड़ा सहन करके भी उसको पकड़ कर रखोगे तो आपको निश्चित मन चाहा वर मिलेगा. 'वर' मानें वह जो आपको भक्तिके प्रति अभिलाषा है॥२॥

कारिका :

**भजनापेक्षया ते वै भगवत्प्रीतिहेतवः॥**
**दुःखेषु भगवान् चापि नित्यं साक्षात् क्रियेत वै॥**
**देहादिविषयान् त्यक्त्वा चित्तं तद्गतमेव यत्॥३॥**

अनुवाद : भजन करनेकी जगह ऐसी तपस्या भगवान्को ज्यादा अच्छी लगती है. क्योंकि दुःखोंमें भगवान् भी ज्यादा याद आते हैं. अतः देहादि विषयोंका त्याग करके चित्तको भगवान्में तत्पर बनाना चाहिये. नियत रूपसे भगवान्की कथा करनी होती है न कि फुरसतमें यदा-कदा. तब ही वह भगवत्कथा उज्ज्वल याने निर्दोषपूर्ण होती है. अथवा तो भाववर्णनके कारण भक्त उन्हें(कथाको) उज्ज्वल बना देते हैं॥३॥

विवेचन : **भजनापेक्षया ते वै भगवत्प्रीतिहेतवः** सचमें तो भगवान्को इतना भजन प्रिय नहीं है जितना यह कि आपकी रुझान उनकी ओर है अथवा नहीं. यदि आपकी रुझान अपनी भक्तिको रसरूपता तक ले जानेकी हो तो वह रुझान भगवान्को आपके भजनसे भी अधिक प्रिय है. क्योंकि भजन तो एक तरहका व्यवहार ही तो है. भगवान् तुम्हारे ऊपर कृपा कर रहे हैं और आप उसके बदले उनका भजन कर रहे हो. 'कृपा' मानें आपका कोई कार्य सिद्ध हो रहा है अथवा आपको किसी कारणसे भगवान् अच्छे लगते हैं अथवा भक्ति करके आपको कोई संतुष्टि मिलती है, यह कृपा है. तो जब भी आप किसी बातके बदलेमें भजन कर रहे हो तब तो यह व्यवहार ही हुआ. पर जब आप रसताके रुझानमें

अपने आपको तपा रहे हो तब यह भगवान्‌को अधिक अच्छा लगता है. इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्हें आपका भजन अच्छा नहीं लगता पर यह उससे थोड़ी ऊंची स्थिति है. एक बात यह और समझो कि यह रसरूपता आपको हासिल होगी भजन करनेसे ही. भजन करते-करते धीरे-धीरे यह स्थिति आयेगी. **दुःखेषु भगवान् चापि नित्यं साक्षात् क्रियेत वै, देहादिविषयान् त्यक्त्वा चित्तं तद्‌गतमेव यत्** भक्ति करते हुए यदि आपको सुख होता हो तो भक्ति करना किसे अच्छा नहीं लगेगा? पर भक्ति करते हुए आपको कष्ट हो रहा है तो भी आपसे भक्ति छूट नहीं रही है तो भगवान्‌को लगता है कि यह केस कुछ अलग है. साधारणतया ऐसा कहा जाता है कि *दुःखमें सुमिरन सब करें सुखमें करे न कोय, जो सुखमें सुमिरन करे तो दुःख काहेको होय.* पर यह तो परस्पर व्यवहारकी बात हो गयी. दुःखमें स्मरण इसलिए करना जिससे कि दुःख मिट जाये यह तो बात व्यवहारकी ही है.

अरविंद महर्षिने एक बहुत सुंदर बात कही है. अलीपोरे बॉम्बकांडमें उनका नाम आया था और उनको फांसीकी सजा निश्चित ही थी. बंगाली होनेके कारण पहले वह कृष्णके भक्त भी नहीं थे, कालीके भक्त थे. जिस दिन उनका निर्णय आना था उससे पहली रातको कृष्ण उनके सपनेमें आये और उनसे कहा कि "मैं तेरा जज् हूं. यह अंग्रेज तेरा जज् नहीं है." ऐसा सपना उन्हें आया. जाग कर वह थोड़े संशयमें आ गये कि स्वप्नका क्या सच हो सकता है! सोचते-सोचते उनके मनमें ऐसा भाव आया कि यदि मेरा जज् कृष्ण है तो यदि आज मुझे फांसीकी सजा होती है तो मुझे फांसी चढ़ जाना चाहिये. इसलिए वह फांसीकी पूरी तैयारीके साथ कोर्ट गये. पर वहां जज्ने उन्हें छोड़ दिया. मूलमें वह काली-भक्त थे पर इस घटनाके बाद वह कृष्ण-भक्त हो गये. उसके बाद वह भाग कर पॉन्डिचेरी चले गये और कृष्ण-भक्त हो गये. उसके बाद उनकी

रसता प्रकट हुयी. प्रारंभ तो व्यवहारसे हुआ था पर उसके बाद वह आगेकी सीढ़ी स्वयं चढ़ सके और भक्तिकी रसदशा तक पहुंच गये.

यही बात महाप्रभुजी कह रहे हैं कि **दुःखेषु भगवान् चापि नित्यं साक्षात् क्रियेत वै, देहादिविषयान् त्यक्त्वा चित्तं तद्गतमेव यत्** दुःखमें भी जो देहके विषयोंको त्याग कर, भगवान्का साक्षात्कार कर सकता हो तो उसका चित्त भगवान्में लग गया, ऐसा मान लेना चाहिये. अरविंदका चित्त भगवान्में लग गया था, कृष्णने केवल एक सपना दिखाया था उन्हें. पर उनका पूरा जीवन ही बदल गया और वह महर्षि-अरविंद बन गये. यह महाप्रभुजी यहां समझाना चाह रहे हैं॥३॥

सुबोधिनी : **एवं सर्वदोषपरिहारम् उक्त्वा तेषां सर्वपुरुषार्थसाधकत्वसिद्ध्यर्थं स्वस्मिन् आधिदैविकगुणान् आह मयीति. भक्तिः अग्रे वक्तव्या, सर्वेन्द्रियाणां मनसा सह अहमहमिकतया भगवत्कार्यपरत्वम् इति. इन्द्रियाणि च निर्दुष्टानि सगुणानि च इति. न विद्यते अन्यस्मिन् यो भावः. 'भावो' नाम अन्तःकरणधर्मो अभिप्रायापरनामा सर्वत्र हेतुः. स भक्तिजनकोऽपि भवति, भावान्तरेणापि भक्तिं जनयति. तत् फलविषयकमेव भवति, भावान्तरसहितो वा. सहि देवतान्तरविषयः पदार्थान्तरविषयो मार्गान्तरविषयो वा. तत्सहभावो अत्र निषिध्यते फलभावश्च. अतएव मार्गान्तरेण न चाल्यतइति दृढा. यस्यां भक्तौ प्रमाणादिचतुर्थापि बाधा नास्ति सा दृढा. तदर्थमेव पूर्वसिद्धपदार्थानां त्यागः कर्तव्यः तेच लोकवेदात्मकाः. तद् आह मत्कृते भगवत्कार्यार्थमेव त्यक्तानि विहितानि कर्माणि...निरन्तरभगवत्सेवायां च सर्वाण्येव कर्माणि बाधकानि... मत्कृते इति न आलस्यादिना तत्परित्यागः. लौकिकाः स्त्रीपुत्रादयः स्वजनाः, बान्धवास्तु अन्ये सजातीयाः ते उभये त्यक्तव्याः. तेषामपि सत्त्वेतु न स्वजनबन्धुत्वम्...॥२२॥**

अनुवाद : भक्तिके कारण सर्व दोषोंका परिहार समझाके उनके जैसे

निर्दोष भक्तोंका सर्व पुरुषार्थ स्वयं भगवान् धर्मिरूपसे सिद्ध कर देते हैं, वह बतानेके लिये स्वयं भगवान् खुदके आधिदैविक गुणोंको बताना चाह रहे हैं. क्योंकि भक्ति तो आगे जाके बतायेंगे कि सर्व इन्द्रियोंकी मनके साथ 'पहले मैं करुं, पहले मैं करुं' ऐसी स्पर्धाके साथ भगवत्कार्यमें परायण होनेकी वृत्ति. इन्द्रियाँ निर्दोष या प्राकृत गुणोंके दोषवाली भी हो सके. अत: अनन्यभावमें अन्यके बारेमें कोई भाव होता नहीं है. 'भाव' मतलब अन्त:करणमें रहा हुआ अभिप्राय, यह सभी बातोमें हेतुभूत होनेसे कभी साक्षाद् भक्तिका जनक, तो कभी कोई अलग भावसे भी भक्तिका जनक बन जाता है. उस भावान्तरसे करनेमें आती भक्तिमें फल कुछ भिन्न ही अभिप्रेत होता है अथवा तो भजनीय देवतासे भिन्न कोई देवता या भिन्न कोई पदार्थ या अन्य कोई मार्गके बारेमें फलबुद्धि रखके भक्ति करनेपर अन्यभाव होता है. 'अनन्यभाव'में अन्यसहभाव (देवान्तर पदार्थान्तर अथवा मार्गान्तर) निषेध है और भक्तिके फलान्तरका भी अभाव कहा गया है. इसलिये अन्यमार्गोंके कारण जो भक्त चलायमान नहीं होते उसकी भक्ति दृढ़ हो जाती है. दृढ़भक्तिमें इतर प्रमाण साधन या फल बाधक होते नहीं. वह कभी भी बाधक हो उसके पहले इनका परित्याग करना योग्य है. वह बाधक इतर प्रमाणादि लौकिक या वैदिक भी हो सकते हैं. वैदिक कर्तव्योंका त्याग आलस्य इत्यादि कारणोंसे नहीं किन्तु भगवत्कार्यमें बाधक होते हो तब ही. लौकिकमें स्त्रीपुत्र इत्यादि स्वजन और अन्य स्वज्ञातिके बांधवो भी भक्त हों तो वे स्वजन-बन्धु नहीं, किन्तु भगवदीयजन होनेके कारण त्यक्तव्य होते नहीं...॥२२॥

विवेचन : इसके मूल श्लोकके आभासमें महाप्रभुजी कह रहे हैं **एवं सर्वदोषपरिहारम् उक्त्वा तेषां सर्वपुरुषार्थसाधकत्वसिद्ध्यर्थं स्वस्मिन् आधिदैविकगुणान् आह मयि इति.** सारे दोषोंका परिहार तो बता दिया है कि साधु पुरुषोंके संगसे सर्वदोषोंका परिहार हो जाता है. अब 'सर्वपुरुषार्थसाधक' आता है. इसमें एक बात समझनेकी है कि कपिलजी

स्वयंको 'साधु पुरुष' नहीं कह रहे हैं. पर वे यह कह रहे हैं कि ये साधु पुरुषके लक्षण हैं. पर ये सारे लक्षण कपिलपर लागू हो रहे हैं, इसलिए महाप्रभुजी कह रहे हैं कि वे अपने ही गुण गिना रहे हैं पर माँके सामने अपनी प्रशंसा तो नहीं कर सकते. इस अर्थमें वे अपने बारेमें नहीं कह रहे हैं. ऐसे गुणवाले पुरुषके संगसे भक्ति सिद्ध हो जाती है.

पर इस भक्तिसे पहले **सर्वेन्द्रियाणां मनसा सह अहमहमिकतया भगवत्कार्यपरत्वम् इति.** प्रत्येक इन्द्रियमें भगवान्‌की ओर दौड़नेका भाव होना चाहिये जैसे रेसमें आगे दौड़ते हैं ऐसा. पहले मैं उन्हें स्पर्श कर लूं, पहले मैं उन्हें सूंघ लूं, पहले मैं उन्हें देख लूं, पहले मैं उन्हें सुन लूं.'' **अहमहमिका** = 'मैं पहले, मैं पहले' का भाव होना चाहिये. और विषयोंमें यह वृत्ति खराब है पर भगवान्‌में यह उत्तम है और भक्तिकी प्राथमिक आवश्यकता है. **भगवत्कार्यपरत्वम्** कुछ भगवत्कार्य करनेकी वृत्ति होनी चाहिये. यह यदि हो तो **इन्द्रियाणि च निर्दुष्टानि** तो इन्द्रिय निर्दोष हो जायेंगी. **सगुणानि च इति. न विद्यते अन्यस्मिन् यो भावः**. दूसरा इनमें कोई भाव रह ही नहीं जायेगा.

अब भाव क्या? तो कहते हैं **'भावो' नाम अन्तःकरणधर्मो अभिप्रायापरनामा.** 'भाव' मानें अपने अन्तःकरणका कोई आशय. **सर्वत्र हेतुः सः भक्तिजनकोऽपि भवति, भावान्तरेणापि भक्तिं जनयति.** यदि भाव न हो मानें अंतःकरणका आपका कोई आशय ही न हो तो भक्ति सिद्ध नहीं होगी. यही बात मैंने आपको पहले समझायी थी कि क्रियामें जब ज्ञान-इच्छा-प्रयत्नका आशय आता है तो ही वह कर्म बनता है. कर्ममें जब किसी दूसरेका आशय आता है तो वह व्यवहार बनता है. व्यवहारमें जब किसी अपने मूल्यका अभिप्राय आता है तो वह नीति बनता है. नीतिमें जब शास्त्रका आशय आता है तो वह धर्म बनता है. जब धर्ममें मनका आशय आता

है तो वह भक्ति बनती है. उसमें जब तद्रूपता आती है तो वह रस बन जाता है. यह जो पूरा अभिप्राय है उसमें भाव तो पहली आवश्कता है. **तत् फलविषयकमेव भवति. भावान्तरसहितो वा.** यह कदाचित् कोई फल विषयक हो मानें एक भावसे दूसरे भावका आशय हो कि यह भाव सिद्ध हो जाये तो यह भाव होगा.

**सहि देवतान्तरविषयः, पदार्थान्तरविषयः, मार्गान्तरविषयो वा.** किसी और देवतामें भी भाव हो सकता है, किसी और पदार्थमें भी हो सकता है, किसी और मार्गमें भी हो सकता है. यह अन्याश्रयके प्रकार बताये. भगवान्की तुम सेवा कर रहे हो पर तुम्हारा भाव क्या है? भगवान्का भजन करूंगा तो मेरे बच्चे सुखी रहेंगे, मेरा संसार अच्छी रीतसे चलेगा. कर तो भक्ति रहे हो पर उसमें भाव कौनसा है? भावान्तरके कारण भक्तिका स्वरूप बदल गया. भक्ति तो केवल भक्तिके लिए होनी चाहिये. आप भक्ति कर रहे हैं, कर भी ऐसे रहे हैं कि जैसी शास्त्रमें बतायी है. पर आपका भाव कैसा है!

हम गोस्वामी लोग ऐसी भक्ति करते हैं कि कोई साधारण व्यक्ति कर नहीं सकता. पर उसके पीछे रहा हुआ भाव यह है कि हमारे भक्ति करनेसे हमें सुविधाएं मिलती रहनी चाहिये. जैसे मैंने पहले बताया कि नेग-भोग सारा कर्मचारियोंकी पगारमें जाता है, हम उसमेंसे केवल मीठा-मीठा लेते हैं. बाकी हमारी रसोई अलग बनती है. अन्प्रसादीका दोष न लगे इसलिए एक तपेलीके ठाकुरजी अलग होते है जिनकी सेवा नहीं होती. वह केवल भोग धरनेके लिए होते है. उनको दिखा देते है कि देख लो. हमें आरोगना है इसलिए इसपर दृष्टि ड़ाल दो जिससे यह अन्प्रसादी न रह जाये. उन ठाकुरजीके हम दर्शन करने भी आवश्यक नहीं समझते. जो रसोई बनाता है, वह उनके सामने रोटी दाल शाक रख देता है, उनके देखनेके लिए. और वह प्रसाद हम लेते हैं. जिन ठाकुरजीको

हम भोग धर रहे हैं, उनमें हमारा ठाकुरजीका भाव नहीं है. खाली हमें अनुप्रसादी न खाना पड़े, इसका भाव है. जिनमें ठाकुरजीका भाव है, उनमें पगार बांटनेका भाव है. भजन तो यह है पर भावान्तर होनेके कारण यह भक्ति नहीं है. आया मुद्दा समझमें! भावान्तर हो गया इसलिए भक्ति खंडित हो गयी. भावान्तरसे, विषयान्तरसे, पदार्थान्तरसे भक्ति खंडित होती है, यह बात महाप्रभुजी कह रहे हैं.

अभी थोड़े दिन पहले एक भाई अमेरिकासे आया. वह किसी और बालकका सेवक था पर यहां मुम्बईमें दूसरे बालकको उसके आनेकी खबर लगी तो उन्होंने उसके स्वागतके लिए अपना एक समाधानी एअरपोर्ट भेज दिया. और संदेश दिया कि ''हमारे ठाकुरजीने हमें स्वप्न दिया है कि आज आपको प्रसाद हमारे यहां लेना है.'' वह तो यह सुन कर पानी-पानी हो गया. वह वहां प्रसाद लेने गया तो जितने भी इलेक्ट्रोनिक् गॅज़ेट् वह लाया था, बालकने कहा ''आपको दूसरी जगह जानेकी क्या आवश्यकता है, आप यह सब यहीं भेंट कर दो.'' समस्या वहां खड़ी हुयी कि वह जिनका सेवक था, वह बालक भी अचानक वहां पधार गये. वह बोला ''अब ये आ गये हैं तो मुझे तो इन्हींको भेंट करना था, सो भेंट कर देता हूं.'' अब वह सोचने लगे कि अपना प्रसाद बेकार इसको लिवा दिया, मिला तो कुछ नहीं. अब देखो, विषयान्तर हो गया. ठाकुरजीका प्रसाद इस कामके लिए कि अमेरिकासे आयी हुयी गिफ्ट् आपको मिल जायें. यह तो भक्तिरसके बजाय हास्यरस हो गया. **भावान्तरसहितो वा. सहि देवतान्तरविषयः, पदार्थान्तरविषयः, मार्गान्तरविषयो वा.** इसलिए कहते हैं कि आप भक्ति तो कर रहे हो पर भक्तिमार्गके हिसाबसे नहीं कर रहे हो, वह ज्ञानमार्गके हिसाबसे कर रहे हो अथवा कर्ममार्गके हिसाबसे कर रहे हो, तो यह तो मार्गान्तर भेदसे अन्याश्रय हो गया. केवल देवताके भेदसे ही अन्याश्रय नहीं होता

है, यदि आप अपने भजनीयको भक्तिमार्गके हिसाबसे नहीं भज रहे हो तो भी वह अन्याश्रय हो जाता है. जैसे हम धंधामार्गके हिसाबसे भगवान्‌को भज रहे हैं. यह भी तो मार्गान्तर ही हो गया. भक्ति कमानेका साधन हो गयी, भजनेका साधन नहीं रही. इसलिए यह मार्गान्तर हो गया. हो सकता है आप भगवान्‌को शास्त्रके अनुसार भज रहे हो, हो सकता है आप उन्हें भावसे भी भज रहे हो, पर हो तो यह मार्गान्तर गया, इसलिए यह अन्याश्रय है. यह पूरा मुद्दा है.

**तत्सहभावो अत्र निषिध्यते, फलभावश्च.** भगवान्‌को भज रहे हो पर भगवान् तुम्हें फलरूपमें नहीं चाहिये. जैसा मैंने आपको पहले बताया था कि भगवान् यदि प्रकट हो जायें तो भक्ति फल है और भक्ति यदि मिल जाये तो भगवान् फल है. इस प्रकार अन्योन्य फल-साधनता भक्ति और भगवान् के बीच है. पर आपको तो किसी और ही फलकी कामना है. नब्बे प्रतिशत बालक आज हवेली यह कह कर चला रहे हैं कि यह हम एक विद्यालयकी तरह चला रहे हैं कि जिससे वैष्णवोंको सीखना मिले. अन्यथा उन्हें भक्ति करनेकी सूझ कहांसे मिलेगी! अब यह तो फलान्तर हो गया. यदि आपको शिक्षा ही देनी है तो आप सचका विद्यालय ही चलाओ, हवेली क्यों चलाते हो. ठाकुरजीको क्यों एक डॅमोन्स्ट्रेशन्‌की तरह प्रयोगमें लाते हो और यदि भक्ति सीखा ही रहे हो तो उन्हें घुसने दो अन्दर सेवामें. क्यों कर्मचारीयोंसे सेवा कराते हो? किसी भी साइंस्‌के विद्यार्थीको लॅब्‌में स्वयं प्रॅक्टिकल् करके पता चलता है या केवल देखने मात्रसे पता चल जाता है? आप यदि सचमें उन्हें सीखाना चाहते हो तो उन्हें आने दो अंदर. फिर यह सेवा नहीं भक्ति सीखनेका विद्यालय कहलायेगा. पर यह भी नहीं करना है, इसलिए यह 'फलान्तर' ही कहलायेगा. यहां फल भगवान् नहीं रहे, शिक्षा फल हो गयी. विद्यालय चलाना कोई खराब बात नहीं है

पर ठाकुरजीकी सेवाके नामपर चलाना, यह गलत बात है. **अतएव मार्गान्तरेण न चाल्यते इति दृढा.** यह बात यहां ऊपर कही. **यस्यां भक्तौ प्रमाणादिचतुर्द्धापि बाधा न अस्ति सा दृढा.** यदि इतनी दृढ़ता हम भक्तिके प्रति रखेंगे तो ऐसी भक्तिको कोई प्रमाण बाधा नहीं पहुंचा सकता. कोई दूसरा साधन फल इस भक्तिको बाधित नहीं कर सकता. यदि इतना होगा तब ही यह भक्ति रसरूप हो पायेगी. भक्ति करनेसे भक्ति रसरूप नहीं होती है क्योंकि इसमें इतने व्यवधान हैं; भावान्तर, पदार्थान्तर, देवतान्तर, फलान्तर और मार्गान्तर. भक्तिकी दौड़ती गाड़ीके ये स्पीड्ब्रेकर् हैं.

**तदर्थमेव पूर्वसिद्धपदार्थानां त्यागः कर्तव्यः** इसलिए पूर्वसिद्ध जो पदार्थ हैं, उनके त्यागकी भी यहां थोड़ी तो आवश्यकता है. **ते च लोकवेदात्मकाः** और वे पदार्थ कौनसे? लोकवेदात्मक. **तद् आह मत्कृते भगवत्कार्यार्थमेव त्यक्तानि विहितानि कर्माणि यैः** अर्थात् भगवान्के कार्यके लिए तुम दूसरा काम छोड़ सकते हो कि नहीं? यह इसकी मूल पहचान है कि आप सचमें ही भक्तिको प्राथमिकता दे रहे हैं कि नहीं! तकलीफ तो होगी पर उसे झेल पा रहे हो कि नहीं. नहीं झेल पा रहे हो, तो भजन तो कर रहे हो, भक्ति तो हो रही है पर भगवान्की प्रसन्नताका हेतु आपका नहीं है. **निरन्तर-भगवत्स्मरणे, सेवायाञ्च सर्वाण्येव कर्माणि बाधकानि.** यदि भगवान्का निरंतर स्मरण सेवन करना है तो कर्म तो बाधक होंगे होंगे और होंगे ही. **ज्ञानपूर्वकं सेवमानानाम् अनन्यभावप्रतिबन्धकानि च. मत्कृते इति न आलस्यादिना तत्परित्यागः.** पर इसमें एक बात समझनेकी है कि लौकिक वैदिक-कर्मोंका त्याग आपको आलसवश नहीं करना है; "अब कौन इन लौकिक-वैदिक कर्मोंको करे!" आपको कर्म नहीं करने हैं इस कारण आप भक्तिको बहाना बना रहे हो. आलसवश यदि तुम कर्म त्याग रहे हो तो आप दोषी हो. एक तरफ आप भक्तिको बेवकूफ बना रहे हो और दूसरी तरफ कर्मको आप दगा

दे रहे हो. इस तरह आप दुतरफा बेइमानी कर रहे हो. महाप्रभुजी कह रहे हैं कि ऐसा नहीं करना चाहिये. महाप्रभुजी मानव-मनोविज्ञानके प्रति कितने सजग हैं, यह देखने लायक बात है. आलसवश कोई कर्म नहीं छोड़ा जा सकता पर यदि वह आपकी भक्तिमें बाधक हो रहा है तो छोड़ा जा सकता है.

उदाहरणके लिए अपने सगे-संबंधियोंमें जन्म-मरण हो और हम कहें कि ''हम सेवा कर रहे हैं, हम भाग नहीं ले सकते.'' बहुत अच्छी बात है. पर उसके बाद आपको उनसे यह अपेक्षा भी नहीं होनी चाहिये कि वह आपके सुख-दुःखमें शरीक हो. यदि यह अपेक्षा है तो आप भक्तिके कारण नहीं अपितु आलसके कारण उनके यहां नहीं जा रहे हो. आपको वहां जाना चाहिये. पर हम भक्तिको एक बहाना बना देते हैं. मैं एक व्यक्तिको जानता हुं. उसके साथ ऐसी ही स्थिति हुयी. उसके सबसे बड़े लड़केका ॲक्सीडेंट् हुआ था, तो वह मेरे घरपर सुबह-सुबह आठ बजे आ गया. मैं उस समय बाहर था. करीब नौ बजे मैं आया तो वह बोला ''मेरे सबसे बड़े लड़केका बड़ा ॲक्सीडेंट् हो गया है. पर अभी यह साफ नहीं है कि वह जीवित है कि मर गया. कदाचित् उसको घरपर मृत लाया जाये तो मुझे सूतक लग जायेगा तो मेरे ठाकुरजीकी सेवा कौन करेगा? क्या आप मेरे ठाकुरजीको अपने घरपर पधरा सकते हैं?'' सच कहुं तो मुझे रोमांच हो आया. लड़का घायल है और उसे अपने ठाकुरजीकी इतनी चिंता हो रही है कि वह उसे देखने जानेके बजाय मेरे घरपर एक घंटा बैठ कर मेरी प्रतीक्षा कर रहा है कि ठाकुरजीकी सेवा कैसे होगी! और सचमें हुआ भी यही. जैसे ही मैं उसके ठाकुरजी अपने घर पधरा कर लाया, उसके पुत्रका मृत शरीर उसके घर आ गया. इतना भक्तिका भाव सचमें दुर्लभ है मिलना. एक और बात बताऊं उसके बारेमें. मैंने तो ऐसा अनुभव कभी किया नहीं. उसकी पत्नीका भी देहांत

हो गया था. सामग्री वह स्वयं ही सिद्ध करता था. गरम तेलकी पूरी कढ़ायी उसकी छातीपर आ गयी. पर उसने एक दिन भी सेवा नहीं छोड़ी. धीरे-धीरे वह रोग बढ़ गया तो एक दिन उसकी सेवा छूट गयी. सेवा छूट गयी तो उसने खाना छोड़ दिया. सारे घरवालोंने मुझे बुलाया और कहा कि ''आप कम से कम इनको प्रसाद लेनेके लिए कहो.'' मैं जन्माष्टमीके दिन उनके घर गया और उनसे कहा ''आप और कुछ नहीं तो प्रसाद तो लो.'' उसने केवल दो दाने प्रसादके मुंहमें रखे और मुझसे कहा कि ''आपकी आज्ञाका बाध न हो इसलिए प्रसाद ले लिया. पर सेवा नहीं बन रही है तो और प्रसाद तो नहीं लूंगा.'' दस दिन बाद वह हरिशरण हो गये, बिना कुछ खाये. सचमें भक्तिरस कैसे प्रकट होता है यह मैंने आखोंसे वहां अनुभव किया. बहुत कठिन बात है. भक्ति करनी बहुत सरल है पर भक्तिरस प्रकट होना बहुत कठिन बात है. जहां-तक वह जिये उस जली हुयी छातीसे भी, जब-तक बनी वह सेवा करते ही रहे. आखिरी दस दिनमें उनका शरीर इतना अशक्त हो गया था कि सेवा बनती नहीं थी तो खाना ही छोड़ दिया और प्राण त्याग दिये. यह सब आलसवश नहीं है.

उनकी एक बात और मैं आपके साथ साझा करना चाहता हुं. मैं यहां पार्लामें रहने आया तो वह एक दिन आ कर बोले. ''आप यहां आ गये हो तो प्रवचन तो किया करो.'' तब मेरी उनकी पहचान इतनी नहीं थी. मैंने कहा ''प्रवचनमें मेरी रुचि नहीं है पर आप यहां आओ तो हम सत्संग अवश्य करेंगे.'' मैंने उनसे महाप्रभुजीके सारे सिद्धांत कहे. तो वह बोले ''बाबा एक बात कहूं.'' मैंने कहा ''कहो.'' बोले ''आप कृपया प्रवचन कभी मत करना. नहीं तो झगड़ा फैल जायेगा पुष्टिमार्गमें. आप सिद्धांत सच्चे कह रहे हो पर आज इन सिद्धांतोंको स्वीकरनेको कोई तैयार नहीं होगा.'' पर वह उस सिद्धांतको जीते थे मेरे बतानेसे पहले भी. ऐसी भक्तिरससे

सराबोर आत्माएं बहुत ही कठिन हैं मिलनी. कोई ही ऐसे होते हैं जो भक्तिके लिए ताप सहन करते हैं.

**लौकिकाः स्त्री-पुत्रादयः स्वजनाः, बान्धवास्तु अन्ये सजातीयाः. ते उभये त्यक्तव्याः. तेषामपि सत्त्वेतु न स्वजनबन्धुत्वम्.** इसमें एक मुख्य बात बतायी है कि **''भार्यादिर् अनुकूलश्चेत् कारयेत् भगवत्क्रियाम्''** (त.दी.नि.२।२३१) अपना परिवार यदि सेवामें अनुकूल है तो सब मिल-जुल कर सेवा करो. अपने दैहिक संबंधसे उन्हें अपना संबंधी मत मानो, अपितु भगवद्-संबंधसे उन्हें अपना संबंधी मानो. **''उदासीने स्वयं कुर्यात्''** (त.दी.नि.२।२३१) वह उदासीन हो तो स्वयं सेवा करो. सेवाका प्रकार इतना बढ़ाओ मत कि जिससे तुम्हें उनकी अपेक्षा करनी पड़े. जितना स्वयं निभा सको, केवल उतना ही रखो. **''प्रतिकूले गृहं त्यजेत्''** (त.दी.नि.२।२३१) यदि इतना भी कोई नहीं करने दे रहा है तो घर छोड़ दो. यह अपनी भक्तिकी प्रक्रिया है. और घर न छोड़ सकते हो तो सेवा छोड़ दो. क्योंकि दोनों बात साथ नहीं चल सकतीं. कोई आपका घरमें प्रतिरोध करता है और आप फिर भी सेवा चालू रख रहे हो तो गाली आपको नहीं ठाकुरजीको पड़ेंगी. कैसी परिस्थिति है, उसके हिसाबसे आप निश्चित करो. घर छोड़ना है अथवा सेवा. यह अपने भक्तिमार्गका कोड्-ऑफ्-कन्डक्ट् था.

यह बात कपिलजीने अपनी माँको भक्तिके तहत समझायी. यह तो बादकी बात है. मैंने यह तुम्हें पहले बता दी है क्योंकि यह वृत्ति किस प्रकार विकसित होती है, यह जानना आवश्यक है. यह अद्भुत ग्रंथ है कपिलजीका. हमें केवल दशमस्कंधके प्रति आकर्षण रहता है. पर कपिलगीतामें कितना कुछ कहा है कि भक्ति है क्या!

देखो! कपिलमुनि कह रहे हैं कि जो तापमें भक्ति करे तो

ही वह भक्तिकी पहचान है. सुखमें तो सभी भक्ति करते हैं पर तकलीफमें सच्ची भक्ति कौन कर सकता है. उदाहरणके लिए पतिके पास कार हो, बंगला हो, सुख-सुविधाकी सारी वस्तुएं हों तो पत्नीका पतिको प्रेम करना कौनसी बड़ी बात है! पर सीताकी तरह सबकुछ पतिका खो गया हो, तब यह प्रेम बरकरार रहे तो ही वह सच्चा प्रेम कहलायेगा. अयोध्याकी सारी सुविधाएं हों तो कौनसी ऐसी सीता होगी जो रामके साथ रहना पसंद नहीं करेगी. पर नंगे पांव जंगलमें कौन भटकनेको राजी होगा? सीताको वनमें जानेका किसीने कहा भी नहीं था. बल्कि उन्हें मना किया गया था. पर सीताने पतिके साथ रहना चुना. बादमें कितनी कठिनाइयां आयी! उन दुःखोंको तो सीताने स्वयं ही बुलाया था और उन्होंने उन दुःखोंको झेला भी. जो यह दुःख झेल पाये, वह ही तो सच्चा प्रेमी है. सुखमें सुविधाओंमें प्रेम सच्चा है कि खोटा इसकी पहचान की नहीं जा सकती. दुःखमें ही इसे नापा जा सकता है. धंधा अच्छा चलता हो तो कौन दोस्ती नहीं चाहेगा. अम्बानीकी दोस्तीके लिए कौन नहीं तरसता? हां, वह दिवालिया हो जाये फिर उसके साथ कोई दोस्ती रखे तो ही तो वह सच्चा दोस्त है. तकलीफ जान कर भोगनी, यह अपेक्षित नहीं है पर स्नेहकी परीक्षा तो दुःखमें ही होती है॥२२॥

**प्रश्न :** आपने जो उदाहरण दिया उसमें आपको ऐसा नहीं लगता कि आपकी वह एक घंटे तक राह देख रहे थे, इससे अच्छा तो उन्हें अपने परिवारको सपोर्ट करने जाना चाहिये था!

**उत्तर :** उस समय तक तो केवल उन्हें ही खबर मिली थी. घरमें केवल पत्नी थी. बेटेकी खबर उन्होंने और किसीको दी ही नहीं थी. सीधे वह मेरे घर आ गये थे. इसमें बात समझनेकी यह है कि पुत्रकी खबर मिलते ही उनके मस्तिष्कमें पहला विचार यह आया कि दुर्घटना खतरनाक हुयी है. कहीं ऐसा न हो कि

वह बचा ही न हो. नहीं बचा होगा तो मेरे ठाकुरजीकी सेवा कौन करेगा? और ठाकुरजीसे भी उन्होंने कोई पुत्रकी रक्षाके लिए बिनती नहीं की क्योंकि उनकी सेवा ठाकुरजीसे किसी प्रकारका व्यवहार तो था नहीं. मैं इसी बातका तो तुम्हें उदाहरण दे रहा हूं कि उनमें भक्तिकी रसता कैसी थी! ठाकुरजी पुत्रको मारें अथवा बचावें. इससे कोई सरोकार(फरियाद) नहीं है. "मुझे ठाकुरजीको बचाना है." उनके हृदयका भाव बताऊं कि "घरमें बेटेकी जब मृत-देह आयेगी तो घरमें रोना-धोना मचेगा. पर मेरे ठाकुरजी तो पौढ़ रहे है. वह इससे व्यथित हो जायेंगे. इसलिए मृत-देह आनेसे पहले वह यहांसे कहीं और पधार जाने चाहिये." मैं झांपीजी ले कर निकला ही था कि लोग उसका मृत शरीर घर ले आये. यह भक्तिकी पराकाष्ठा थी.

**प्रश्न :** पर ऐसे भक्तके साथ भी ठाकुरजी ऐसा क्यों करते हैं? वह चाहते तो उसे बचा सकते थे.

**उत्तर :** सच बात है. ठाकुरजीकी आवश्यकतासे ठाकुरजीकी सेवा करना, यह अपना धर्मका भाव है. पर अपने मनसे सेवा करना भक्तिका भक्तिमयी भाव है. अपने बच्चेको दूध पिलाना क्योंकि वह भूखा है, यह एक प्रकारकी माँकी बच्चेके प्रति भक्ति है. पर यह सोच कि "आज मैं इसे दूध पिला रही हूं. बड़ा हो कर यह मेरी सेवा करेगा" यह भाव तो व्यवहारका हो गया. इस प्रकार मातृत्वके भी कई रूप हो सकते हैं. दूध पिलानेमें भी फलान्तरका भाव तो है ही. प्रश्न उठता है कि जो ठाकुरजी हमारे घर बिराज रहे हैं, वे हमारे लिए हैं अथवा हम ठाकुरजीके लिए हैं. यह तो वही बात हुयी कि माँ पूछे कि बच्चा मेरे लिए है कि मैं बच्चेके लिए. हर माँ यही सोचती है कि उसका अस्तित्व बच्चेके लिए है. हां, साधारणतया पितामें यह सोच रहती है कि बच्चा

मेरे लिए है. बहुतसी ऐसी माँ होती हैं जो पुत्रके लिए अपने पतिको त्याग देती हैं. बालकके प्रति उनमें इतना भाव होता है. इसलिए सबसे पहला पाठ यदि भक्तिका हमें मिलता है तो वह माँसे ही मिलता है. बापसे वह नहीं मिलता. बापमें तो यह भाव आ जाता है कि मेरा बेटा मेरे जैसा होना चाहिये, मेरा व्यापार संभालना चाहिये. माँको ऐसी कोई अपेक्षा नहीं होती. उसका तो केवल यह भाव होता है कि वह बालकके लिए है. यह भक्तिका सच्चा भाव है. और पिताकी तरह जो अधिकारका भाव है, वह ऐसा नहीं है कि स्नेहका नहीं है पर वह कहीं न कहीं पिताके अहंकारसे जुड़ा हुआ रहता है. मेरा घर मेरे लिए है, मेरी पत्नी मेरे लिए है, मेरी कार मेरे लिए है. यह कामभाव है. स्नेह तो है पर अहंकार लिए हुए है. पारसी बाबाओंको यह भाव होता है कि "मैं कारके लिए हूं." वे कारकी इतनी देखभाल करते हैं, कारके भक्त होते हैं, मालिक नहीं होते. भेद वहां आ जाता है. मालिकाना भाव भी स्नेहका ही भाव है पर उससे ऊंचे दर्जेका भाव है कि 'मैं तेरे लिए हूं.' है तो यह दुर्लभ भाव पर है उत्कृष्ट. यह मातृत्वका भाव केवल मनुष्यमें हो ऐसा नहीं है. जानवरोंमें भी यही भाव होता है. गाय अपने बछड़ेको बचानेके लिए सिंहसे भिड़ जाती है. उसे अपने मरनेकी फिक्र नहीं होती. यह स्त्री होनेके कारण है ऐसा नहीं है. यदि ऐसा हो तो पत्नीमें भी होना चाहिये, बहनमें भी होना चाहिये, पुत्रीमें भी होना चाहिये. पर नहीं होता. केवल माँमें यह भाव होता है कि मेरा अस्तित्व ही अपने बच्चेके लिए है. मजेकी बात यह है कि बालक ऐसा कोई संकेत नहीं देता कि बड़ा हो कर वह उसके लिए कुछ करेगा. पर इससे माँको कोई फर्क नहीं पड़ता. इसलिए मैं इसको यह नहीं मानता कि यह स्त्रीका गुण है. मैं तो यह मानता हूं कि यह माँ होनेका गुण है. यह एक अद्भुत कृति है भगवान्‌की. स्त्री तो पुरुषोंकी तरह ही होती है. उसमें भी उतने ही अहंकार होते हैं. पर माँ

होते ही पुत्रके लिए वे सब समाप्त हो जाते हैं. पता नहीं माँ होनेके बाद शायद शरीरमें कुछ ऐसे रसायन बनते होंगे जो इस प्रकारका स्वभाव पुत्रके प्रति देते हैं.

**( भक्तियोगमें सत्संगकी प्रक्रिया )**

श्लोक :

**मदाश्रयाः कथामृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च ।।**
**तपन्ति विविधाः तापाः न एतान् मद्गतचेतसः ।।२३।।**

अनुवाद : **जो मेरी कथाके श्रवण-कीर्तनमें परायण होके स्वयंको शुद्ध बना देते हैं उनका चित्त मेरेमें स्थिर होनेके कारण विविध तापोंसे संतप्त नहीं होता ।।२३।।**

विवेचन : **मदाश्रयाः** जिनको मेरा आश्रय है **कथामृष्टाः** मेरी कथासे जो शुद्ध हो गये हैं **शृण्वन्ति कथयन्ति च** जैसे मैंने आपको बताया कि तनु-वित्तजा सेवाके भाग नहीं किये जा सकते, वैसे ही श्रवण और कीर्तन के विभाग करनेकी मनाई थी. आज यह पूरे रूपसे विभाजित हो गया है. कथा कहनेवाले सुनते नहीं हैं और सुननेवाले कहते नहीं हैं. पुराने समयमें नियम ऐसा था कि कथा सुननी भी और कहनी भी. अपना तन और अपना धन ही सेवामें प्रयोग करनेकी बात थी. अपना धन और दूसरेका तन अथवा अपना तन और दूसरेका धन, यह सेवामें मनाई थी. और कथा-कल्पमें कोई कहे और हम सुनें अथवा हम कहें और कोई सुने, ऐसा प्रचलित नहीं था. यह प्रक्रिया परस्पर थी, सुनना भी और कहना भी. **तपन्ति विविधाः तापाः** उसके लिए जो भी तकलीफ हो उसे सहनेको अपनी तैयारी होनी चाहिये. **न एतान् मद्गतचेतसः** क्योंकि ऐसे व्यक्तिका चित्त, ताप अथवा तप में नहीं अपितु मुझमें होता है. ताप भी ऐसे लोग इसीलिए सहन करते हैं क्योंकि उन्हें ताप अच्छा लगता

है, उनका चित्त मुझमें लगा है और उसके लिए जो तकलीफ उन्हें आती है, उन्हें वह झेलते हैं. जैसे पर्वतारोही पर्वत चढ़नेमें आनेवाली सभी तकलीफ; जैसे ऑक्सीजन्की कमी, ठंड इत्यादि, वे सहन करते ही हैं. क्योंकि उन्हें पर्वत चढ़ना है॥२३॥

श्लोक :

**त एते साधवः साध्वि! सर्वसंगविवर्जिताः॥**
**संगः तेषु अथ ते प्रार्थ्यः संगदोषहराः हि ते॥२४॥**

अनुवाद : **हे साध्वि! जो सर्वसंगविवर्जित साधु पुरुष हैं उनके संगकी प्रार्थना करनी क्योंकि वे ही संगदोषको दूर करनेवाले हैं॥२४॥**

विवेचन : **त एते साधवः साध्वि! सर्वसङ्गविवर्जिताः** ऐसे जो साधु पुरुष हैं उनका संग यदि तू करे तो उनका संग बंधनरूप नहीं होगा. क्योंकि इससे पहले यह कहा गया है कि संग बंधनकारी होता है. जो बांध ले वह संग अच्छा नहीं है. जो छोड़नेके लिए बांधे वह संग अच्छा संग है. इसीलिए जैसे व्यक्तिके गुण ऊपर बताये, वैसे व्यक्तिका संग सच्चा संग है. **सङ्गः तेषु अथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहराः हि ते** ऐसे संगकी हमको आकांक्षा रखनी चाहिये. क्योंकि ऐसे लोगोंके संगसे लगनेवाले दोषोंका हरण हो जाता है॥२४॥

अब ऐसा संग करनेसे होगा क्या, उसकी प्रक्रिया बता रहे हैं;

श्लोक :

**सतां प्रसंगाद् मम वीर्यसंविदो**
**भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः॥**
**तज्जोषणाद् आशु अपवर्गवर्त्मनि**

श्रद्धा रतिर् भक्तिर् अनुक्रमिष्यति ॥२५॥
भक्त्या पुमान् जातविरागः ऐन्द्रियाद्
दृष्टश्रुताद् मद्रचनानुचिन्तया ॥
चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो
यतिष्यते ऋजुभिः योगमार्गैः ॥२६॥

अनुवाद : **सत्पुरुषोंके संगसे मेरे सामर्थ्यका बोध प्रकट करनेवाली मेरी कथा हृदय और कर्ण दोनोंमें रसायन ओषधिका कार्य करनेवाली बन जाती है. उसका सेवन करनेवालोंमें शीघ्र ही अपवर्गके मार्गमें श्रद्धा रति और भक्ति प्रकट होती है ॥२५॥**

**भक्तिके कारण इन्द्रियोंसे देखे हुए या समझे हुए विषयोंमें मेरी लीलारचनाके रूपमें अनुचिन्तन कर पानेका सामर्थ्य विकसित होनेके कारण वहांसे (विषयोंसे) पुरुष विरागी बन जाता है. इसलिये स्वचित्तको सावधानीके साथ ग्रहण करके योगयुक्त बन कर ऋजु योगमार्गोंके लिये यत्न कर पानेमें समर्थ बनता है ॥२६॥**

विवेचन : **सतां प्रसङ्गाद् मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः** ऐसे भक्तके संगसे मेरी महिमा तुझे अच्छी लगने लगेगी. मेरी कथा तुझे सुननेमें और हृदयसे अनुभव करनेमें अच्छी लगने लगेगी. ऐसे लोगोंका संग यदि न करें तो भगवत्कथा अच्छी नहीं लगेगी. **तज्जोषणाद् आशु अपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर् भक्तिर् अनुक्रमिष्यति** 'जोषण' मानें सेवन यदि आप करो तो अपवर्गका मानें मुक्तिका मार्ग आपके लिए सुलभ होगा. त्रिवर्ग और अपवर्ग. 'त्रिवर्ग' मानें धर्म अर्थ और काम. यह तीन वर्ग जिसमें न हों उसका नाम 'अपवर्ग'.

'अप'का अर्थ साधारणतया खराबके लिए प्रयोगमें आता है. जैसे अपशब्द अपवाद, यह सब नकारात्मक प्रयोगमें आते हैं. संस्कृतमें

यह आवश्यक नहीं है कि 'अप'का अर्थ खराब ही हो. इसका अर्थ होता है 'बिना इसके'. जैसे 'अपगच्छति' मानें जाता है. 'आगच्छति' मानें आता है. संस्कृतमें दो बातोंका ध्यान देना होता है. इसमें एक शक्तिवाद होता है और एक अपोहवाद होता है. 'शक्तिवाद'का अर्थ है कि जो भी वाक्य आप बोल रहे हो उसका जो शब्दकोषमें अर्थ है, वह आपको समझमें आ रहा है. मानें शब्दकी एक शक्ति है, potentiality है जो कि अपने आपको उजागर कर रही है. इसके सामने बुद्ध भगवान्ने एक अपोहवाद स्थापित किया. क्योंकि बुद्ध भगवान्के मतमें शब्दकी शक्ति जैसा कुछ है ही नहीं. उनके मतके अनुसार शब्द अपना अर्थ नहीं होनेके अर्थमें उजागर करता है. जैसे मैं आपको एक वाक्य कहूं ''यह मोबाइल् है.'' इसका अर्थ यह नहीं है कि यह मोबाइल् है. अपितु यह है कि ''यह टेबल् नहीं है, कुर्सी नहीं है, बोर्ड नहीं है, पॅन् नहीं है.'' इसको 'अपोहवाद' कहते हैं. अपोह = अप + ऊह. आप इस वस्तुका जो-जो 'ऊह' मानें अनुमान लगा रहे हो वह यह नहीं है. शब्द हमेशा नकारात्मक अर्थ ही बताता है कि वह यह नहीं है, यह भी नहीं है, वह भी नहीं है.

इसके आगे एक मत ऐसा भी है कि शब्द अपोह हो ही नहीं सकता क्योंकि यदि नकारात्मक अर्थमें जायेंगे तो वह तो अनन्त हो जायेंगे. जैसे यह मोबाइल् क्या नहीं है, इसमें तो इस मोबाइल्के अलावा सारे जगत्की वस्तुएं आ जायेगी. इससे तो अच्छा है कि आप वह क्या है यह समझ जाओ. बुद्ध भगवान् कहते हैं कि ''यह क्या है, यह तो आप समझ ही नहीं सकते, जब-तक यह नहीं समझें कि 'यह क्या नहीं है''' आपको शायद बुद्धके तर्कपर हंसी आ रही होगी पर इसे ठीकसे समझेंगे तो आप भी अचंभित रह जायेंगे कि बुद्ध भगवान् क्या कहना चाह रहे हैं. वे कहते हैं कि आप जब भी कह रहे हो कि यह मोबाइल् है, तो इस

शब्दका अर्थ है कि यह गतिशील है. क्या यह ही गतिशील है, आप नहीं हो? आप अपने आपको मोबाइल् क्यों नहीं कह रहे हो? कार भी तो ऑटो-मोबाइल् है. पर हम उसको भी मोबाइल् नहीं कहते हैं. आप मोबाइल्का केवल एक ही अर्थ ले रहे हो पर उसके तो कई अर्थ हो सकते हैं. इसलिए वे कह रहे हैं कि ''जो यह नहीं है वह.'' यह बुद्धका सिद्धांत है.

इस प्रकार अपवर्गका अर्थ दुर्गति नहीं है. शायद हिन्दी अथवा गुजरातीमें अपवर्गका अर्थ दुर्गति भी होता है. संस्कृतमें 'अप'का अर्थ खराब अर्थमें नहीं अपितु नकारात्मक अर्थमें है. त्रिवर्ग जिसमें न हो, वह अपवर्ग, अर्थात् मोक्ष. मुक्ति अथवा मोक्ष में आपका कोई धर्म अर्थात् आपकी कोई जिम्मेदारी नहीं रह जाती, कोई आपकी कामनाएं नहीं रह जाती, आपको कुछ भी कार्य करनेका शेष नहीं रह जाता. **तज्जोषणाद् आशु अपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर् भक्तिर् अनुक्रमिष्यति** ऐसा संग आपको अपवर्गके मार्गपर ले जाता है. उसकी प्रक्रिया है कि पहले आपको श्रद्धा होगी, उसके बाद रति होगी और अंतमें भक्ति होगी.

यह बात बुद्धिके मनोविज्ञानपर आधारित है. 'श्रद्धा'का अर्थ क्या? इंग्लिशमें हम इसको faith कहते हैं. पर संस्कृतमें इसका अर्थ इतना सीमित नहीं है. संस्कृतमें 'श्रत्'का अर्थ है सत्य और 'ध'का अर्थ है आधान अथवा स्थापन. जो भी वस्तु आप अपने मस्तिष्कमें सत्यकी तरह स्थापित कर रहे हैं, वह आपकी श्रद्धा है. यदि आपको किसी वस्तुमें श्रद्धा हुयी अर्थात् आपने किसी बातको सत्य माना तो कहा जायेगा कि आपको उसमें श्रद्धा है. हो सकता है वह तर्कपर आधारित हो अथवा अतार्किक हो अथवा इन दोनोंसे परे हो, पर आपके मस्तिष्कमें यदि वह बात सत्य हो कर बैठ गयी है तो आपकी श्रद्धा उसमें है. आपकी वह दिमागी परिस्थिति 'श्रद्धा' कहलायेगी.

आपको यदि भगवान्‌की कथामें श्रद्धा होगी तो ही अगली स्टेज् आयेगी जो रति है. यदि आप किसी बातको सत्य ही नहीं मान रहे हो तो रति कहांसे होगी! रति मानें 'रमण'. आप किसीके साथ तभी रमण कर सकते हो कि जब आप उसे सत्यके रूपमें स्वीकार करते हो. श्रद्धा बौद्धिक है अथवा भावनात्मक है अथवा व्यावहारिक है, यह कहना बहुत कठिन है. ऐसा निश्चित रूपसे कोई कह नहीं सका है. आप किसी बात अथवा वस्तु का आधान सत्यके रूपमें अपनी बुद्धिमें कर रहे हो अथवा हृदयमें कर रहे हो अथवा अपने व्यवहारमें कर रहे हो, यह उस बातपर निर्भर करेगा. कभी सत्य हमारे व्यवहारमें बैठ जाता है और हम कहते हैं ''भई, काम तो मैं ऐसे ही करूंगा.'' कभी सत्य हमारी भावनामें बैठ जाता है तो हमें लगता है कि ''जो मैं सोच रहा हूं वही सत्य है.'' जब भी कोई लड़का अथवा लड़की आपसमें प्रेम करते है तो वह यही तो सोचते है कि ''यही मेरे लिए उचित है.'' श्रद्धाके बाद रति आती है. जब-तक श्रद्धा नहीं होगी तब-तक रति होनेका प्रश्न ही नहीं है. उसमें हमें रमणका विचार ही नहीं आयेगा. कोई भी मैदान; जिसमें हमें यह श्रद्धा ही नहीं है कि यह खेलनेके लिए उचित है, तो हमें वहां खेलनेका मन करेगा ही नहीं. अपना मन जिस वस्तुको श्रद्धासे स्वीकरता है, उससे हम स्नेह करने लगते हैं. ऐसे बहुत कम लोग हैं जो मन न लगनेपर भी बुद्धिसे उसे स्वीकार कर पाते है. एक बात और समझें कि आपको यदि किसी विषयमें जिज्ञासा भी हो रही है तो इसका अर्थ है कि थोड़ी बहुत श्रद्धा आपको उस विषयमें है. मैंने कई बार इसपर प्रयोग किया है. बिल्डिंग्‌में नीचे एक कुत्ता है. जब भी मैं वहांसे निकलता हुं तो थोड़ीसी आहट करनेपर भी वह सोता हुआ भी उठ कर देखता है कि आवाज़ कहांसे आ रही है. उसको उस ओर देखनेकी तुरंत जिज्ञासा हो जाती है. बार-बार आवाज़ करनेपर उसकी जिज्ञासा समाप्त हो जाती है. फिर उसके बाद आप कितनी भी आवाज़

करें वह उधर देखेगा भी नहीं. कहींसे भी आवाज़ आये तो जानवरोंमें जिज्ञासा बहुत तीव्र होती है. यह उनके सरवाइवल्के लिए आवश्यक भी है. हम मनुष्योंमें बचपनमें तो यह बहुत तीव्र होती है पर बादमें उम्रके साथ क्षीण होती जाती है. अपनी संवेदनशीलता कम हो जाती है.

इस प्रकार पहले श्रद्धा होती है उसके बाद रति आती है. श्रद्धा और रति दोनों हो गयीं तो भक्ति हो गयी. यदि आपको भक्ति है पर श्रद्धा नहीं है तो आपको रति है पर भक्ति नहीं है. जैसे पति-पत्नीमें आपसमें रति होती है पर श्रद्धा नहीं होती. थोड़ी देरके लिए भी एक कहीं चला जाये तो ''कहां हो, कब आ रहे हो.'' ऐसे सवाल चालू हो जाते है. इसमें रति तो है, क्योंकि रति नहीं होती तो पूछते ही क्यों, पर श्रद्धा नहीं है. कोई बिरले ही ऐसे होंगे कि जिनको रति और श्रद्धा दोनों होय. यदि ऐसा होगा तो वह एक-दूसरेके भक्त होंगे. यह समीकरण इसी प्रकारका है.

इसीलिए कहते हैं **श्रद्धा रतिर् भक्तिर् अनुक्रमिष्यति** क्रमसे ये एकके बाद एक विकसित हो जाते हैं. सबसे पहले श्रद्धा, उसके बाद रति और यह दोनों मिल कर भक्तिमें विकसित हो जाते हैं. उसके बाद कहते हैं **भक्त्या पुमान् जातविरागः ऐन्द्रियाद् दृष्टश्रुताद् मद्रचनानुचिन्तया** भक्ति जब आपको होगी तो आपमें अंतर यह दिखायी देगा कि जैसे एक सुंदर चित्र है अथवा सुंदर गीत है, तो ऐसा हो सकता है कि हमें वह चित्र अथवा गीत तो अच्छा लगता है पर उसका रचयिता अच्छा नहीं भी लग सकता. दूसरा यह भी हो सकता है कि हमें वह चित्रकार अथवा गीतकार तो अच्छा लगे पर उसकी कृति अच्छी नहीं लगती. अब यदि जगत्को हम काव्य मानें क्योंकि वेदमें ब्रह्मको 'कवि' और जगत् को उसका

'काव्य' कहा है. प्रश्न यह है कि आपको काव्य पसंद है कि कवि? इन्द्रियोंका आनंद तो काव्यमें है. उन्हें तो खाने-पीनेमें, अच्छा सुननेमें, अच्छा देखनेमें ही आनंद मिलता है. उन्हें इस बातसे कोई लेना-देना नहीं है कि इसका रचयिता कौन है. इसीलिए उन सभी वस्तुओंको, जिससे इन्द्रियोंको आनंद मिलता है, हम 'ऐन्द्रियक आनंद' कहते हैं. पर हम यह भूल जाते हैं कि हमें यह ऐन्द्रियक आनंद किसके कारण मिल रहा है. पर यदि आपको उस रचयिताका आनंद लेना हो तो आप अपनी इन इन्द्रियोंसे नहीं ले सकते. यह आनंद तो आपको अपनी बुद्धिसे लेना-समझना होगा. वह इस प्रकार कि जिस वस्तुको हम देख रहे हैं, सुन रहे हैं, चख रहे हैं वह जिसने भी बनायी है वह अद्भुत रचयिता है और वह कोई अपनी कृतिसे अलग नहीं है. वह और उसकी कृति एक ही हैं. इसी प्रकार आपको जगत् रूपी काव्य तो पसंद आ रहा है क्योंकि यह तो ऐन्द्रियक है, पर उसका रचयिता ब्रह्म पसंद नहीं आ रहा, तो आप इस कृतिके सच्चे प्रेमी नहीं हो सकते.

आपने साहिर लुधियानवीका नाम तो सुना ही होगा. उसकी एक नज़्म है *''अभी तो मैं जवान हूं, हवा भी खुश गवार है, गुलोंपे भी निखार है, तरन्नुमें हज़ार हैं बहार पर बहार है. मगर सुनो तो शेखजी, अजीब शै हैं आप भी. भला शबाबो आशिकी, अलग हुए भी हैं कभी. चलो जी किस्सा मुख्तसर, तुम्हारे नुक्तए-नज़र. दुरुस्त है तो हो मगर, अभी तो मैं जवान हूं.''* 'शेख' मानें उसका धर्म-गुरु. वह कहता है कि ''तू भगवान्में लग, इन सब गलत कामोंको छोड़ दे.'' इसके जवाबमें वह कह रहा है ''शेख तुम भी अजीब आदमी हो! कभी यौवन और आशिकी भी अलग हुए हैं? चलो मान भी लें कि आप सही कह रहे हैं, पर अभी आपकी बात सुननेका यह समय ठीक नहीं है क्योंकि अभी तो मैं जवान हूं.'' इससे हम समझ सकते हैं कि चाहे हमें कवि

पसंद नहीं भी हो पर उसकी कविता अच्छी लग रही है. पर यदि कविको सही रूपसे समझना है तो अपनी समझसे ही हम उसे समझ सकते हैं, इन्द्रियोंसे नहीं. जैसे लताका गाना तो हमको पसंद आता है पर वह पसंद नहीं आती, तो हम उसकी आवाज़के सच्चे प्रेमी नहीं हैं. जब वह नहीं रहेगी तो क्या चीज हम खो देंगे, इस बातका अहसास ही नहीं होगा हमको. जब वह छोटी थी तो यहां पार्ला ईस्टमें एक स्कूलमें उसके पिताकी यादमें हर साल एक संगीत-समारोहका आयोजन किया जाता था. उस प्रोग्राम्में नौशाद आया था जिसने लताको सबसे पहले गानेका मौका दिया था. वह अपने जमानेमें फिल्मी संगीतमें एक नया दौर ले कर आया था. उसने वहां इतनी गजबकी बात कही कि "जब पहली बार किसीने लताकी उससे गाना गवानेकी सिफारिश की और जब वह स्टूडियोमें आयी तो उसकी शक्ल और उम्र देख कर उसे लगा कि वह क्या गाना गायेगी!" उसको गवानेका मन नहीं बना पाया. पर जब किसीने कहा "आप इसको एक बार सुन कर तो देखें!" उसने सोचा चलो एक बार गवा कर देख लेते हैं. जांचके लिए उसने कई सारे कम्पोजीशन्स् उससे गवाए. वह बता रहे थे कि "उसकी परीक्षा लेनेके लिए एकके बाद एक उसको गाना गवाता रहा. सोच रहा था इस गानेमें तो इससे ठीक सुर नहीं लगेंगे, पर हर गाना इतनी खूबसूरतीसे वह गा रही थी और कहीं भी बेसुरी नहीं हो रही थी! मुझे हार मान कर उसको चांस् देना पड़ा." वह कह रहे थे कि "समस्या मुझे यह हो गयी कि इतने मुश्किल गानोंमें भी वह बेसुरी कैसे नहीं हो रही है!" अब यह इन्द्रियोंका आनंद न हो कर समझका आनंद है. हम लोग लताके गानोंका आनंद जो कि इन्द्रियोंका आनंद है, वह लेते हैं. पर नौशादने समझका आनंद लिया और साथ ही साथ इन्द्रियका आनंद भी लिया.

इसीलिए वेद जगत्को ब्रह्मका 'अमर काव्य' कहता है. इसी

प्रकार भक्ति केवल काव्यका आनंद नहीं है और न ही केवल कविका आनंद है. पर काव्यकर्ता कविका आनंद है. वह भागोंमें बंटा हुआ नहीं है. क्योंकि रतिमें काव्यका आनंद आता है और श्रद्धामें कविका आनंद आता है. पर भक्तिमें दोनोंका आनंद आता है.

श्रद्धाकी व्यवहार भावना अथवा बुद्धि में प्रतिष्ठा की जा सकती है, यह बात ध्यानसे समझो.

यह व्यक्तिकी संवेदनशीलतापर निर्भर है कि श्रद्धा कहां जा कर अपना स्थान ग्रहण करेगी. कई बार वह आदमीकी समझमें प्रतिष्ठित हो जाती है पर भावना और व्यवहार में नहीं हो पाती. कई बार व्यवहारमें हो जाती है पर समझ और भावना में नहीं हो पाती. जैसे कुछ लोग छोटे बच्चोंको मेरे पास लाते हैं और उन्हें मुझे दंडवत् करनेके लिए बोलते हैं. बच्चेको कुछ भी पता नहीं होता पर वह दंडवत् करके अपनी श्रद्धाका व्यवहार प्रकट कर देता है. न उसकी कोई भावना होती है और न उसमें कोई समझ. इसी प्रकार श्रद्धा किसीकी समझमें प्रतिष्ठित हो जाती है पर भावनाओंमें नहीं होती. इसी तरह किसीकी भावनाओंमें यह बैठ जाती है कि आप किसीके साथ भावनात्मक रूपमें इतने जुड़ जाते हो कि आपको फिर किसी समझकी अथवा व्यवहारकी गरज ही नहीं रहती. इसलिए श्रद्धा कहां जा कर प्रतिष्ठित हो रही है, वह तो हम अंदाजा नहीं लगा सकते. यह तो एकदम वैयक्तिक है कि किसको किसमें श्रद्धा होगी. यह इस बातपर निर्भर करेगा कि वह किसमें संवेदनशील है. अपने व्यवहारमें, अपनी भावनाओंमें अथवा अपनी समझमें॥२५॥

**भक्त्या पुमान् जातविरागः ऐन्द्रियाद् दृष्टश्रुताद् मद्रचनानुचिन्तया**
इसलिए भक्तिके कारण इन्द्रियोंसे मिलनेवाले आनंदमें एक प्रकारकी

विरक्ति आती है और जिसको यह अनुभव होता है, उसे यह जिज्ञासा होती है कि जगत् यदि एक रचना हो तो इतनी सुंदर रचनाका रचनाकार कौन है! **चित्तस्य यत्तो ग्रहणे योगयुक्तो यतिष्यते ऋजुभिर्योगमार्गैः** उसके बाद उसका चित्त मेरेमें जुड़ता है, ऐसा भगवान् कह रहे हैं. नहीं तो रतिके रूपमें इन्द्रियोंमें जो काव्य है वह तो सभीको अच्छा लगता ही है. पर भक्ति इसलिए नहीं विकसित होती है क्योंकि हम अपनी रतिसे ही जुड़े रहते हैं. अभी जैसे मैंने आपको बताया कि लताके गानेको चाहना रति है, केवल लताको चाहना यह श्रद्धा है पर दोनोंको चाहना भक्ति है. इस प्रकार समझोगे तो बात साफ हो जायेगी. **यतिष्यते ऋजुभिः योगमार्गैः** ऐसा व्यक्ति ही मेरी ओर आनेका प्रयास करता है॥२६॥

श्लोक :

**असेवया अयं प्रकृतेर् गुणानां**
**ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन॥**
**योगेन मयि अर्पितया च भक्त्या**
**मां प्रत्यगात्मानम् इह अवरुन्धे॥२७॥**

अनुवाद : **प्रकृतिके गुणोंका असेवन मतलब वैराग्योपेत ज्ञानसे योग और मुझे अर्पित की गई भक्तिसे मेरे प्रत्यगात्माको यहां पकड़ सकता है॥२७॥**

विवेचन : **असेवया अयं प्रकृतेर् गुणानां ज्ञानेन वैराग्यविजृम्भितेन योगेन मयि अर्पितया च भक्त्या मां प्रत्यगात्मानम् इह अवरुन्धे** इससे उस व्यक्तिमें प्रकृतिके गुणोंके प्रति जो स्वाभाविक आकर्षण है, वह इससे ऊपर उठ जाता है मानें उनका असेवन करता है. और वैराग्य जिसमें विलस रहा है ऐसे ज्ञान और योग द्वारा अपनी भक्तिको मुझे अर्पित करता है. इसके बाद मैं उसकी 'प्रत्यगात्मा' मानें उसकी अंतरतम आत्मा हुं, उसे यह बांध लेता है. मुझे बांधनेका

अर्थ है कि स्वयं भी बंध जाता है. हकीकतमें कोई भी अपनी अंतरतम आत्मासे बंधा नहीं रहता. सब बाहरी हकीकतसे ही बंधे रहते हैं. उदाहरणके लिए डॉक्टर् कह दे कि ''मिर्च मत खाओ, नहीं तो ॲसीडिटी बढ़ जायेगी.'' पर आदत हो तो हम मिर्च खाये बिना रह नहीं पाते. क्योंकि विषयसे हम इस तरहसे बंधे हुए रहते हैं कि छूटा नहीं जाता. जब इस कारणसे मरने लगते हैं तो समझ आता है कि यह तो गलत हो गया. पर तब-तक बहुत देर हो चुकी होती है. यह पूरी प्रक्रिया कपिलदेवजी अपनी माँको बता रहे हैं.

मेरे पास एक गायिका आती थी. वह पुष्टिमार्गीय वैष्णव थी. वह दिखनेमें सुंदर और सभ्य थी. उसे ब्रेस्ट्-कँसर् हो गया. मैंने उसे कई बार कहा कि ''तू इसका ऑपरेशन् करा ले.'' पर वह कहती थी कि ''नहीं, मैं अपनी पर्सनेलिटीके साथ किसीको छेड़छाड़ नहीं करने दूंगी.'' तीन महीनेके अंदर वह एकदम काली कंकाल हो गयी. आखिरी समयमें मैं जब उससे मिलने गया तो बोली कि ''श्यामबाबा, आप सच कह रहे थे. मैंने ऑपरेशन् करा लिया होता तो आज यह नहीं होता.'' पूरे शरीरमें कँसर् फैल गया. उसे देख कर दया आ जाय, ऐसी उसकी स्थिति हो गयी थी. आज वह होती तो बहुत बड़ी सिंगर् होती. मैंने दो-तीन बार उसका कार्यक्रम आयोजित किया. मैं बहुत उसको प्रोत्साहित करता था. पर कहती थी कि ''मैं अपने सौंदर्यके साथ किसीको छेड़छाड़ नहीं करने दूंगी.'' पर उसके जीवनके साथ ही छेड़छाड़ हो गयी. बहुत ही दुःखद अंत हुआ उसका. यह है ऐन्द्रियक होना. ऑपरेशन् करा लेती तो क्या हो जाता! मनुष्यके साथ समस्या यही है कि हमें ऐन्द्रियक ममता बहुत हो जाती है, समझ अथवा भावनात्मकता की अपेक्षा. इससे यदि छुटकारा मिले तो हमें कविका स्मरण हो. इसी ऐन्द्रियक ममताको 'पराग-आत्मा' भी कहते हैं. एक होती है पराग-आत्मा

जो कि अपनी इन्द्रियोंके प्रति ममताको दर्शाती है और दूसरी होती है प्रत्यागात्मा जो अपनी अंतरतम होती है.

**प्रश्न :** क्या हम इस प्रसंगको भाग्यमें लिखा हुआ नहीं कह सकते?

**उत्तर :** जहां-तक भाग्यका प्रश्न है, यह हो गया इसलिए हम इसको भाग्यपर डाल सकते हैं. पर यदि वह प्रारंभिक अवस्थामें ऑपरेशन् करा लेती तो भाग्य उसके बचनेका हो जाता. पर वह इस बातपर अड़ गयी थी कि शरीरसे छेड़छाड़ नहीं करने देगी. महत्त्वपूर्ण क्या था? उसका शरीर अथवा उसके अंदर छिपा हुआ गायक. आज होती तो बहुत बड़ी सिंगर् होती. उसके अंदरका गायक उसकी प्रत्यगात्मा थी. उसने उसका ध्यान नहीं रखा. इसी प्रकार भगवान् हम सभीका प्रत्यगात्मा है. हमारा ध्यान उसपर नहीं जाता.

अब जब भक्तिका वर्णन कपिलदेवजीने किया तो देवहूतिने प्रश्न किया:

**( योग्य भक्तिकी जिज्ञासा )**

**देवहूतिः उवाच**

श्लोक :

**काचित् त्वयि उचिता भक्तिः कीदृशी मम गोचरा।।**
**यया पदं ते निर्वाणम् अञ्जसैव अश्नवा अहम्।।२८।।**

अनुवाद : **देवहूति कह रही हैं कि आपमें श्रद्धा आदि अनेक प्रकारोंमेंसे कौनसे प्रकारकी भक्ति मेरे लिये? वैसे ही मुझे सगुण या निर्गुण भक्तिभाव आपके लिये रखना उचित होगा जिससे आपके निर्वाणपदको मैं सरलतासे प्राप्त कर सकूँ।।२८।।**

विवेचन : मैं किस प्रकारकी तुम्हारी भक्ति करूं कि तुम्हें अच्छी लगे, क्योंकि तुम तो मेरे पुत्र हो. देवहूतिकी माँ होनेके कारण

पुत्रमें रति तो है पर जो नहीं है वह है भक्ति. रति अभी भक्तिमें विकसित नहीं हुयी है. इसलिए पूछ रही है **काचित् त्वयि उचिता भक्तिः कीदृशी मम गोचरा** मैं आपकी भक्ति किस प्रकार करूं? **यया पदं ते निर्वाणम् अञ्जसैव अश्नवा अहम्** जिससे आपकी जो भक्तियोग्य प्रतिष्ठा है, उसमें मैं सहज रूपसे खरी उतर पाऊं॥२८॥

श्लोक :

**यो योगो भगवद्बाणो निर्वाणात्मन्! त्वया उदितः॥**
**कीदृशः कति च अङ्गानि यतः तत्त्वावबोधनम्॥२९॥**
**तदेतद् मे विजानीहि यथा अहं मन्दधीः हरेः॥**
**सुखं बुद्ध्येय दुर्बोधं योषा भवदनुग्रहात्॥३०॥**

अनुवाद : **हे निर्वाणरूप! आपके उपदेशोंको, आपको लक्ष्य मानके शरके समान कैसे योगसे मुझे लक्ष्यानुसन्धान करना उचित होगा? सच्चा तत्त्वबोध जिससे हो ऐसे योगके अंग कितने? मैं तो मन्दबुद्धिवाली कठिन बात समझ नहीं सकती पर आप कृपा करके सरलतासे समझाये, तो मैं समझ पाउंगी॥२९-३०॥**

विवेचन : **यो योगो भगवद्बाणो निर्वाणात्मन् त्वया उदितः** क्योंकि इससे पहले भगवान्ने योग कहा है इसलिए कह रही हैं कि ऐसा कौनसा योग है जो आपको लक्ष्य मान कर शरके समान लक्ष्यानुसन्धान कर सके. **कीदृशः कति च अङ्गानि यतः तत्त्वावबोधनम्** ऐसा योग कौनसा है और उसके अंग कितने हैं, जिससे आपका असली रूप मुझे समझमें आये. सत्य तो यह है कि आप मेरे पुत्र हैं पर यह बाहरी है. इसके साथ कुछ अंदरका सत्य भी है जो कि आप मुझे भक्तिके स्वरूपवर्णनमें समझाओ मानें तत्त्वावबोधन कराओ॥२९॥

विवेचन : **तदेतद् मे विजानीहि यथा अहं मन्दधीः हरेः** यह मुझे

समझाओ क्योंकि इसमें मेरी बुद्धि थोड़ी कम चल रही है कि आपको पुत्र न समझ कर भगवान् किस प्रकार जान सकूँ! **सुखं बुद्ध्येय दुर्बोधं योषा भवद् अनुग्रहात्** आप दुर्बोध हैं क्योंकि आप कह रहे हैं कि "आप भगवान् है" और मैंने आपको पुत्ररूपमें ही जाना है, इसलिए मुझे आपको समझना थोड़ा कठिन है पर आप ही मुझे राह दिखायें कि मैं आपके अंतरतम रूपको किस प्रकार सुख-पूर्वक जान पाउं, यह आपकी मेरे ऊपर बहुत कृपा होगी. माँके अपने पुत्रके साथ कितने मीठे संवाद हैं!॥३०॥

**मैत्रेयः उवाच**

श्लोक :

**विदित्वार्थं कपिलो मातुः इत्थं**
**जातस्नेहो यत्र तन्वा अभिजातः॥**
**तत्त्वाम्नायं यत्प्रवदन्ति सांख्यं**
**प्रावोचद् वै भक्तिवितानयोगम्॥३१॥**

अनुवाद : **मैत्रैयने कहा, अपनी माताकी जिज्ञासा जानके जिनके तनसे स्वयं प्रकट हुए उनके लिये तत्त्वमीमांसायुक्त सांख्य और भक्तिवितानयोग समझाने लिये कपिल भगवान् तत्पर हुए॥३१॥**

विवेचन : **विदित्वार्थं कपिलो मातुः इत्थं जातस्नेहो यत्र तन्वा अभिजातः** माँका यह भाव सुननेके बाद कपिलदेवजीको अपनी माँपर अधिक स्नेह हुआ. क्योंकि माँ और पुत्र के बीच अब एक घनिष्ठ संबंध स्थापित हुआ है. इसलिए कपिल कह रहे हैं कि **यत्र तन्वा अभिजातः** मेरा तन तेरे तनसे निकला है यह तो एक ऐतिहासिक सत्य है पर इस समय वर्तमान सत्य यह है कि तेरा मन अब मेरे मनसे निकल रहा है. अभी तक तू मुझे पुत्र ही समझ रही थी पर अब तूने मुझे भगवान्के रूपमें स्वीकार लिया है, इसलिए अब हम दोनोंका मन एकाकार हो गया है. अर्थात् तेरा मन अब

मेरे मन जैसा गढ़ा चुका है. अब मैं तुझे **तत्त्वाम्नायं यत्प्रवदन्ति साङ्ख्यं प्रावोचद् वै भक्तिवितानयोगम्** तत्त्वरूप सांख्य जो कि आगे चल कर भक्तिवितानयोग बन जाता है, वह समझाता हूं.

एक बात यहां समझनी आवश्यक है कि सांख्य भक्ति नहीं है. यह तो एक गणना है. अथवा दूसरे तरीकेसे कहें तो एक बौद्धिक व्यायाम है. पर एक माँ-बेटेके संबंधसे और दूसरे स्वयं भगवान्का अवतार और अपनी प्राकृतिक माँ होनेके संबंधसे, केवल तत्त्वोंकी गणना तत्त्वज्ञानमें पूर्णरूपसे सहायता नहीं करेगी. क्योंकि दोनोंको एक-दूसरेके साथ स्नेह तो है और दोनोंको एक-दूसरेमें श्रद्धा भी है, पर ये दोनों भक्तियोगमें विकसित हों इसलिए उन्होंने सोचा कि पहले सांख्य समझा दूं. पर यह सांख्यमें फंसी न रह जाये, इसलिए सांख्यको एक स्टेपिंग्-स्टोन् बना कर भक्तियोगपर आरूढ़ हो जाये. पहले यदि माँ यह समझ जायेगी कि दुनिया क्या है तो यह मेरा स्वरूप भी समझ जायेगी. इसलिए अब वे कह रहे हैं॥३१॥

**(भक्तिका लक्षण)**

श्लोक :

**श्रीभगवान् उवाच**

**देवानां गुणलिंगानाम् आनुश्रविककर्मणाम्॥**
**सत्त्वएव एकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकीतु या॥३२॥**
**अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेः गरीयसी॥**
**जरयति आशु या कोशं निगीर्णम् अनलो यथा॥३३॥**

अनुवाद : **भगवान्ने कहा : स्वयंके गुणोंके कारण अनुभवमें आती वेदोक्त कर्तव्यमें परायण 'देव' = इन्द्रियोंकी सिर्फ सत्त्वमूर्ति भगवान्में ही जो एकान्तिक स्वाभाविक कोई भी निमित्त = निर्व्याज मानसी भागवती वृत्तिवाली भक्ति सिद्धिओंसे भी गरीयसी होती है. क्योंकि**

**वह शुद्ध चिदात्माका आवरणरूप लिंगशरीरके कोशको जलानेवाली होती है जैसे खानेमें आते खुराकको जठराग्नि शीघ्र जलाके पचा लेता है॥३२-३३॥**

विवेचन : यहांसे जो भी अब कहा जायेगा वह पुष्टिमार्गमें भक्तिके रूपमें स्वीकार्य है. बेकार ही यह कहा जाता है कि अपने यहां केवल ग्यारह वर्ष बावन दिनके कृष्णकी ही भक्ति करनी है. इसके अलावा कुछ नहीं. शास्त्रको समझे बिना ऐसे विधान करनेमें आये हैं. यह तो है ही पर इतना ही नहीं है क्योंकि इस कालमें कृष्णके साथ व्रजभक्तोंकी भक्ति थी इसलिए महाप्रभुजीने भक्तिके दो भेद किये हैं. इसको हम निम्न प्रकारसे समझ सकते हैं:

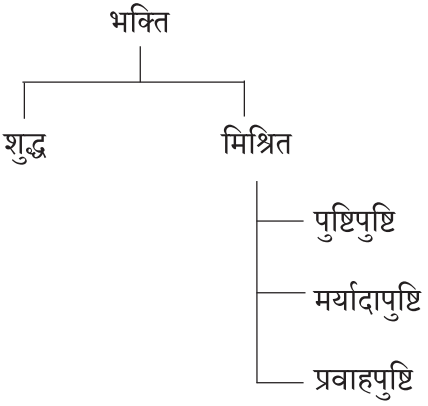


शुद्ध और मिश्रित में भेद मोटे तौरपर यह है कि जहां भगवान्का प्राकट्य पहले हो जाता है और उनके कारण हमें भक्ति हो तो वह 'शुद्ध-पुष्टि' कहलाती है. भगवान् उस भक्तिकी पहल करते हैं. भगवान् प्रकट हो कर आपके साथ ऐसा व्यवहार करना प्रारंभ कर दें कि आपको उनकी भक्तिके अलावा और कोई चारा ही नहीं

रह जाये. इस प्रकारकी भक्तिमें पहल भगवान्‌की ओरसे हो रही है. मिश्र-भक्तिमें भगवान् थोड़े अनिच्छुक हैं. पूरे तौरपर नहीं पर थोड़ेसे. आप पहल करोगे तो आपको प्रतिक्रिया देंगे. आप पहल नहीं करोगे तो भगवान् प्रतिक्रिया नहीं देंगे. इसमें भेद कहां आता है, इसके लिए एक प्रसिद्ध उदाहरण देता हूं संक्षिप्तमें भगवान्‌के कारण जहां भक्ति प्रकट हो रही है वह शुद्धपुष्टि है और जहां भक्तिके कारण भगवान् प्रकट हो रहे हैं, वह मिश्रपुष्टि है.

व्रजकी गोपिकाएं दही बेचने जाती थीं. वे कृष्णको खिलाने तो जाती नहीं थीं. पर ठाकुरजी कह रहे हैं कि ''नहीं, यह दही तो मुझे ही खाना है.'' पहल कौन कर रहा है? प्रभु. अपने यहां दानके दिनोंमें दही आपको प्रभुको धरना है तो धरो, नहीं धरना है तो मत धरो. तुम्हारे धरनेसे, न धरनेसे, न उन्हें कुछ लाभ होगा और न तुम्हें कुछ हानि. पर आपमें यह भाव जागे कि ठाकुरजी मांगे कि नहीं पर मुझे तो अपनी आड़ीका दही ठाकुरजीको भोग धरना ही है, तो पहल आपने ही तो की. क्योंकि यहां तो आपके धरनेसे ठाकुरजी अरोग रहे हैं और वहां छीन कर अपने आप ले रहे हैं. गोपीजन अपना माखन बचाती थीं पर वे उनके मटके तोड़ कर खा जाते थे. यह मूल भेद है.

अब यह समझें कि पुष्टि मानें क्या? यदि आपका बिहेवियेरल् कोशेन्ट् (बी.क्यू), इन्टलॅक्चुअल् कोशेन्ट् (आइ.क्यू.) और इमोशनल् कोशेन्ट् (ई.क्यू.) मानें आप व्यवहारसे बुद्धिसे और भावनासे उनके साथ जुड़ गये तो यह पुष्टि-पुष्टि हो गयी. पर मानो कि आप तीनों तरहसे उनसे नहीं जुड़ पाये अर्थात् आप व्यावहारिक और केवल भावना अथवा बौद्धिक तौरपर ही जुड़ पा रहे हो तो यह 'मर्यादा-पुष्टि' कहलायेगी. यदि दो भी नहीं हैं, केवल एक मानें व्यावहारिक तौरपर ही आप प्रभुसे जुड़ पा रहे हो तो यह 'प्रवाह-पुष्टि' कहलायेगी. जैसे छोटे बालकोंमें होता है. उनको कह दो कि जै-जैको

भोग धरे बिना कुछ खाना नहीं है, तो वह चॉकलेट् भी लायेगा तो ठाकुरजीको दिखा कर ही खायेगा. उसको समझ तो है नहीं पर माँने कह दिया इसलिए उसका व्यवहार प्रकट हो जाता है. मैंने एक तोता पाल रखा है. उसे भी पता है कि जब ठाकुरजीका भोग सरता है तो वह नाचने लगता है. उसे मिर्ची अच्छी नहीं लगती. प्रसाद ही अच्छा लगता है. हम प्रसाद लेने बैठ जायें और उसे न दें तो घरमें प्रलय आ जाये, इतना शोर कर देता है. भोग सरे, आरतीकी घंटी बजी और उसने नाचना शुरू किया. उसका बी.क्यू. ऐसा गढ़ गया था. उसको भी पता चल जाता था कि ठाकुरजीके भोग सर गये, अब खानेको मिलेगा. समझदार इतना हो गया था कि जो भी वैष्णव आये, उसके सामने नाचना शुरू कर देता था तो वैष्णव उसे कुछ न कुछ खिला देते थे. तो वह हर वैष्णवको देख कर नाचता था. बदमाश इतना कि मूंगफली नहीं खाता था, बूंदी झट चट कर जाता था. एक बात और कि जब सामग्री भोग धरने ले जा रहे होते थे तो उसे कोई फरक नहीं पड़ता था. पर सरनेके बाद तो बस नाचने ही लगता था. इस प्रकार व्यवहार विकसित हो जाता है और इसीको 'प्रवाह-पुष्टि' कहते हैं. मुझे पक्का पता है कि उसे ठाकुरजीके माहात्म्यज्ञानका पता नहीं था और न ही ठाकुरजीके प्रति उसकी कोई रति थी पर व्यवहार वह ऐसा प्रकट करता था. मर्यादा-पुष्टिमें व्यवहारके साथ या तो रति होगी पर समझ नहीं होगी अथवा समझ होगी पर रति नहीं होगी. उदाहरणके लिए ''हमारे बाप-दादा ठाकुरजीकी सेवा करते थे इसलिए हम कर रहे हैं. यह हैं कौन इससे हमें कोई सरोकार नहीं है'' अथवा ''मैं जानता हूं कि यह ब्रह्म है, सेवा भी कर रहा हूं पर स्नेह नहीं है''. यह दोनों ही प्रकार मर्यादा-पुष्टिके हैं.

**प्रश्न :** यह भी कह सकते हैं कि उन सब व्रजभक्तोंका चयन

भगवान्ने किया था, इसलिए वह ऐसी सेवा करते थे.

**उत्तर :** चयन तो हमारा भी भगवान्ने अपनी सेवाके लिए ही किया है. बल्कि उनसे सेवा भगवान् जबरदस्ती लेते थे. पर हमारा चयन उनको चुननेके लिए किया है. यहां भुलेश्वरमें एक गांडा गिरधरलालकी हवेली थी. वह सचमें थोड़े पागल थे. पर शामको ठाकुरजीके लिए स्वयं सब्जी खरीदने जाते थे. कोई वैष्णव उन्हें रोके तो उसे बैंतसे मारते थे. पर जिसको वह मारते थे वह माला-माल हो जाता था. इसलिए कई वैष्णव उनकी सब्जी-बाजारमें बैंत खानेके लिए प्रतीक्षा करते थे. उनके पिताजीका एक शिष्य अहमदाबादमें आर्यसमाजी हो गया. यह कोई सौ वर्ष पुरानी बात है. गांडा गिरिधरलालजीको यहां पता चला. वह सीधे अहमदाबाद उसके घरपर चले गये. वहां सेठ तो था नहीं, कामपर गया था. उसकी पत्नीने कहा कि "सेठ नहीं हैं और अब हम आपके मार्गको मानते भी नहीं हैं. हम आर्यसमाजी हो गये हैं. इसलिए आप यहांसे चले जाओ." उन्होंने क्रोधमें एक बैंत उसे मारी और बोले "तू ऐसा कैसे कह सकती है!" और जबरदस्ती अपना सारा सामान उनके घरमें रख दिया. सेठानीने अपने नौकरोंको बुला कर सारा सामान बाहर फिकवा दिया. तो उसे एक और बैंत मार कर बोले "तेरे बापने, तेरे ससुरने कभी मेरा सामान बाहर नहीं फैंका, तू कैसे फैंक सकती है?" और फिर सामान अंदर रख दिया. उसने घबरा कर अपने पतिको बुला लिया. उन्होंने उसे भी दो-चार बैंत जड़ दीं. बेचारा घबरा कर फिर पुष्टिमार्गी हो गया. इस प्रकार आप यह समझ लो कि अवतार कालमें प्रभु गांडा गिरिधरलाल हो गये थे. ऐसा नहीं है कि आज वे नहीं हो सकते हैं. मीराके पीछे वे ही गये थे. पर हमारा कर्तव्य बनता है कि हम उन्हें उस प्रकारसे न लें.

मीराकी समस्या बहुत छोटीसी थी. जब वह छह सालकी थी तब उसने अपने महलकी छतसे एक बारात जाते हुए देखी.

उसने अपने पितासे पूछा ''यह क्या है?'' पिताने कहा कि किसी कन्याको ब्याहने उसका वर आया है.'' वह रोने लगी ''मुझे ब्याहने मेरा वर कब आयेगा?'' पिताने बच्चा समझ कर उसे एक कृष्णका स्वरूप ला दिया और कहा ''यह है तेरा वर.'' उस दिनसे उसने उन्हें ही अपना पति मान लिया. यहां तक कि राणा जब उसे ब्याहने आया तो उसने मना कर दिया कि वह तो पहलेसे ही शादी-शुदा है. बहुत मुश्किलसे उसका संस्कार पूरा हुआ पर उसने राणाको अपना पति कभी नहीं माना. राणाने बहुत समझाया पर वह नहीं मानी. पुराने समयमें कोई राजाकी पत्नी ऐसा करे तो समाज उसे स्वीकार नहीं करता था. तंग आ कर राणाने उसे मारनेके लिए विष भेजा. मीरा विष भी पी गयी और मरी नहीं. घरसे निकल गयी पागलकी तरह. उस समयमें कोई अकेली स्त्री घरसे बाहर रहे तो मुगल उसे उठा लिया करते थे. पर वह निर्भय थी. बिना चिंताके द्वारका जा कर द्वारकाधीशमें मिल गयी. वह पागल ही तो थी और वह इसलिए कि कृष्ण उसके पीछे पागल थे. वह भी कृष्णके साथ पागलकी तरह ही व्यवहार करती थी. नहीं तो कोई समझदार ऐसे कहेगा कि ''जोगी मत जा, जल कर भयी भस्मकी ढेरी अपने अंग लगा जा.'' कोई समझदार व्यक्ति कहेगा कि मेरे शरीरकी राखको तू अपने शरीरपर लगा. पता नहीं कृष्णको भी कैसा लगा होगा यह सुन कर. पागलपनेकी पराकाष्ठा है. पर यदि कृष्ण उसके पीछे पागल न हो तो ऐसा पागलपन होना बहुत कठिन है. ऐसा नहीं है कि आज ऐसा नहीं हो सकता. हो सकता है पर हमें यह नहीं मान लेना चाहिये कि कृष्ण हमारे साथ भी वैसा ही करे तो ही हम भक्ति करेंगे. इसलिए महाप्रभुजी समझा रहे हैं कि अब यहांसे आगेके श्लोकोंमें मिश्र-पुष्टि प्रारंभ हो रही है जो कि एक समझदार कृष्णकी कथा है.

**देवानां गुणलिङ्गानाम् आनुश्रविककर्मणाम्, सत्त्वएव एक-मनसो**

**वृत्तिः स्वाभाविकीतु या. देवानां** हम सबको दिव्यताकी तरफ एक स्वाभाविक झुकाव होता है. अपनी आत्मामें, अपनी संवेदनाओंमें, अपने मनमें, अपनी समझमें एक दिव्यताकी ओर स्वाभाविक झुकाव होता है. **गुणलिङ्गानाम्** और एक गुणलिंग होता है जो कि प्रकृतिके गुणोंसे नियंत्रित होता है. सात्त्विक हो तो वह सात्त्विक होता है, तामस हो तो तामस होता है और राजस हो तो राजस होता है. दुनियाकी जितनी भी वस्तुएं हैं, उनसे यह संवाद करनेमें सहयोग करता है. **आनुश्रविककर्मणाम्** 'आनुश्रविक कर्म' मानें वेदके द्वारा निर्धारित किया गया आपका कर्तव्य. यह भी अपने लिए बंधन है. आज-कल वेदका इतना प्रभाव नहीं रहा. पुराने समयमें वेद सभी सनातन धर्मियोंके लिए एक संविधानकी पुस्तक थी. आज भी कई चीजें, जैसे विवाह यज्ञोपवीत अग्नि-संस्कार इत्यादि जो वेदके हिसाबसे किये जाते हैं. वेदके सब कर्म आपके बंधनकारी कर्तव्य ही तो हैं, जो कि आपको विधानके तहत करने ही हैं. पर **सत्त्वएव एक-मनसो वृत्तिः स्वाभाविकीतु या** यदि आपकी जो स्वाभाविक मानसिक वृत्ति है उससे भक्तिकी शुरुआत हो जायेगी. जैसे मीराकी मैंने आपको बतायी, ऐसे आपको कृष्णका कोई स्वरूप अच्छा लग गया. यदि कृष्णका कोई स्वरूप ही आपको अच्छा नहीं लग रहा है तो भक्ति कहांसे होगी? यहां कृष्ण स्वयं तो मौजूद है नहीं.

इसलिए महाप्रभुजीसे जो भी ब्रह्मसंबंध लेते थे और पूछते थे कि "अब मेरा क्या कर्तव्य है." तो महाप्रभुजी उसको यही उत्तर देते थे "जा बाजारसे जो ठाकुरजीका स्वरूप तुझे अच्छा लगता हो वह ले आ, उसे पुष्ट करके मैं तुझे पधरा देता हूं." क्योंकि भक्तिकी पहली शर्त यह है. किसीको लालन अच्छे लगते है, किसीको मदनमोहनलाल अच्छे लगते है. आप स्वयंको जो अच्छा लगता है वह स्वरूप पधराओ तो ही उसे तुम प्यार कर सकोगे. जब स्वरूप तुम पधरा रहे हो तो यह तुम्हारी श्रद्धा है. सेवा करते

रहोगे तो वह रतिमें परिवर्तित हो जायेगी. इसके बाद ही वह रति भक्तिमें विकसित हो पायेगी. एक शेर है *''निगाहोंने देखी मुहब्बतने मानी तेरी बेमिसाली तेरी लाजवाबी''* 'बेमिसाल' मानें जिसकी उपमा न दी जा सके. 'निगाहोंने देखी' मानें गुणलिंग. जो मुझे मनसे अच्छा लग रहा है वही तो मुझे अच्छा लगेगा. वार्तामें आता है कि उस बुढ़ियाने लालन देखे ही नहीं थे, मदनमोहनजीकी ही सेवा वह करती थी. लालन आये तो वह समझी कि ठाकुरजी ठंडमें सिकुड़ गये हैं. तेलकी मालिश कर-करके उसने उन्हें मदनमोहनजी बना दिये. क्योंकि आंखको मदनमोहनजी ही अच्छे लगते थे. यह है गुणलिंग. भगवान्‌की समझ नहीं है, अपने स्वभावका पता है. कुछ अच्छा लगता है, कुछ नहीं लगता. गिरिराजजीका तो कोई रूप ही नहीं है, पर बहुतसे लोग गिरिराजजीकी सेवा करते हैं तो उन्हें वही अच्छे लगने लगते हैं. यह पहल किसने की? ठाकुरजीने तो नहीं की. ''तू मुझे इस रूपमें अच्छा लगा है.'' यह इज़हार कौन करेगा? हम ही तो करेंगे. जब हम ठाकुरजीसे यह कह देंगे तो ठाकुरजी भी यह कहेंगे कि ''तुझे मेरा यह रूप अच्छा लगता है तो मैं भी तुझसे इसी रूपसे व्यवहार करूंगा.'' हम इज़हार ही नहीं करेंगे तो वे भी बैठे हैं, उनके तो सारे ही रूप हैं. उनको तुम्हारे साथ फिर क्या लेना-देना! वे तो समझदार हैं. आप उनसे बात करनेके इच्छुक हो तो ही वह आपसे संबंध स्थापित करेंगे. नहीं तो उन्हें आपसे कुछ भी लेना-देना नहीं है. इसलिए पहल किसको करनी होगी? आपको. आप संबंध बनायेंगे तो गुणलिंगके आधारपर ही तो बनायेंगे. जैसा व्यवहार मुझे अच्छा लगता है वही तो मैं उनके साथ करूंगा. आनुश्रविक कर्म भी आपको इसके साथ करने पड़ेंगे. उन्हें भी आप छोड़ नहीं सकते क्योंकि आप दुनियामें हो, उससे बाहर तो नहीं हो. वह करते हुए भी जब आपने एक स्वरूप चुना कि ''मुझे तुझे इस स्वरूपसे भजना है'', तो तुम्हारी श्रद्धा स्थापित हुयी. सेवा करोगे तो रति स्थापित हुयी. उसके बाद

धीरे-धीरे यह भक्तिमें विकसित हो जायेगी. प्रक्रिया यह है.

बॉम्बे म्यूज़ियमका एक डायरॅक्टर् था. वे लोग बनारसके थे. घरमें सेवाका बहुत विस्तृत प्रकार था वैसा प्रकार हवेलियोंमें भी नहीं होता. वह बनारसका बहुत बड़ा सेठ था. आज़ादीके बाद उनकी आर्थिक स्थिति पहले जैसी नहीं रही. पर फिर भी काफी अच्छी थी. ठाकुरजीकी राजसेवा होती थी. उनके परिवारका एक भाई अमेरिका गया और वहांके म्यूज़ियमका वह क्यूरेटर् बन गया. वहां ही उसने एक अमेरिकन् लड़कीसे शादी कर ली. बहुत समय बाद एक परिस्थिति घरमें ऐसी आयी कि सब भाईयोंने अलग होनेका निश्चय किया. अब प्रश्न यह उठा कि फिर ठाकुरजीकी इतनी भव्य सेवाके प्रकारकी जिम्मेदारी कौन लेगा? एक और निर्णय उन्होंने लिया कि ठाकुरजीकी जितनी भी संपत्ति है, उसको भी आपसमें बांट लो, जिससे भविष्यमें किसी प्रकारका कोई विवाद न हो. अब जो भाई अमेरिकामें रहता था और जिसकी पत्नी अमेरिकन् थी, वह बोला "आप ठाकुरजीकी कोई भी वस्तुका भाग न करें. उसके बाजार मूल्यका भुगतान मैं यहांसे कर देता हूं." और उसने कर भी दिया. अब यह गुणलिंगका प्रश्न नहीं है, श्रद्धाका प्रश्न है. क्योंकि वह तो सेवा भी नहीं करता था. रहता भी अमेरिकामें है. इसलिए रति नहीं है. रति होती तो ठाकुरजीको छोड़ कर अमेरिका नहीं जाता. पर श्रद्धा उसमें पूरी-पूरी थी कि अपने घरके ठाकुरजी हैं और उन्हें उनको मिलनेवाली सुविधाओंमें कमी नहीं की जानी चाहिये. उनकी संपत्तिका विभाजन नहीं होना चाहिये. यहां जितने भी भाई थे वे सब गुणलिंग थे, उन्हें ठाकुरजी नहीं, उनकी संपत्ति अच्छी लगती थी. इसलिए वे उसको हथियानेकी फिराकमें थे. **देवानां गुणलिङ्गानाम् आनुश्रविककर्मणाम्, सत्त्वएव एक-मनसो वृत्तिः स्वाभाविकीतु या.** एक सत्त्वमें, ठाकुरजीके कोई एक स्वरूपकी ओर आपका झुकाव होना चाहिये; *निगाहोंने देखी मुहब्बतने मानी तेरी बेमिसाली तेरी लाजवाबी, उन आखोंका*

*आलम गुलाबी गुलाबी,* आंख गुणलिंगसे देखेगी पर रति उसका आनंद लेगी. यह सब होना चाहिये स्वाभाविक वृत्तिसे, गुणलिंगतासे नहीं. जैसे हमारी हवेलियोंमें होता है कि ठाकुरजीकी सेवा करेंगे तो हमें सारी सुविधाएं मिलेंगी.

बाइबल्में सोलोमन्की कथामें बहुत अच्छा उदाहरण आया है. दो माताएं एक बालकके कब्जेके लिए झगड़ती हुयी सोलोमन्के पास गयीं. दोनों बहुत रो रही थीं और कह रही थीं कि यह उनका बेटा है. सोलोमन् भी परेशान था कि झगड़ा किस तरह सुलझाये. अंतमें उसने कहा कि ''इस बालकके दो टुकड़े करके दोनों माँओंमें बांट दो. जो सच्ची माँ थी वह बोली ''मुझे नहीं चाहिये, इसीको दे दो.'' सोलोमन्ने तुरंत निर्णय ले लिया कि यही सच्ची माँ है. बालक अच्छा लगता है इसलिए मुझे ही चाहिये, चाहे आधा काट कर ही दो. यह माँका हृदय तो नहीं कर सकता. यह स्वाभाविक वृत्ति है. दूसरीकी वृत्ति अस्वाभाविक है. क्योंकि वह मातृत्वको तो भोगना चाहती थी पर उसे उस बच्चेके व्यक्तित्वसे कोई लगाव नहीं था. उस बच्चेके स्वरूपमें सत्त्वकी एक-वृत्ति नहीं थी इसलिए. कहनेका अर्थ यह है कि गुणलिंग और अनुश्राविक की कर्तव्यबुद्धि होनेपर भी यदि अपनी प्रवृत्ति श्रद्धा और रति की हो तो वह भक्तिमें विकसित हो जायेगी.

**अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेः गरीयसी** और आपकी भक्ति अनिमित्ता होनी चाहिये मानें वह लेन-देनकी प्रक्रियावाली नहीं होनी चाहिये. इस प्रकारकी भक्ति सारे धर्म अर्थ काम मोक्ष पुरुषार्थोंसे अधिक गरिमावाली होती है. **जरयति आशु या कोशं निगीर्णम् अनलो यथा** वह अपने 'कोश' मानें अपने ऊपर चढ़े हुए अहंता-ममताके आवरणोंको अग्निकी तरह जला देगी.

मैं जब बी.ए.में पढ़ता था तो कॉलेज्से आते समय रोड्पर

एक रेस्टोरेंट्में एक घटना आंखसे देखी. वहां एक दिन गॅस्का सिलिंडर् फट गया था. बहुत सारी अग्निशमन गाड़ीयाँ वहां आग बुझानेका प्रयास कर रही थीं. उस रेस्टोरेंट्का जो मालिक था वह बाहर था, वह दौड़ कर आया और सीधा अपनी तिजोरी लेनेके लिए अंदर आगमें चला गया और जल कर मर गया. इतना अधिक मोह अपने धनसे! पर हम आज हँस सकते हैं कि धनके लिए पागल था पर उसकी मनोदशा उस समय क्या थी, यह वह ही जान सकता है. सारे जीवनकी मेहनतसे की गयी कमाई, ऐसे जल रही हो तो उससे यह देखा न गया. और ममताके आवरणके कारण भस्म हो गया. **निगीर्णम् अनलो यथा** ऐसे ही भक्ति अपनी अहंता और ममता के इन आवरणोंको जला देती है. आवरणोंको जलाती है, अहंता-ममताको नहीं. यह कपिलजीद्वारा कहा गया पहला भक्तिकी प्रक्रियाका विवरण है. महाप्रभुजी इसे मिश्र-पुष्टिका आदर्श विवरण कहते हैं॥३२-३३॥

सुबोधिनी : **तत्र भक्तिं लक्षयति देवानाम् इति द्वयेन. तस्य च परिकरः सर्वोऽपि अग्रे वक्ष्यते एकादशभिः. एकमनसः पुरुषस्य सर्वेन्द्रियाणां सत्त्वमूर्तौ भगवति या स्वाभाविकी वृत्तिः सा भक्तिः इति. इन्द्रियाणि हि द्विविधानि स्वभावतः "द्वया ह प्राजापत्याः" (बृह.उप.१।३।१) इत्यत्र निरूपितानि. एकानि देवरूपाणि, एकानि असुररूपाणि. यानि अलौकिकं वेदोक्तमेव कर्म ज्ञानं वा जनयन्ति, तानि देवरूपाणि; यानि लौकिकं कर्मादि जनयन्ति, तानि आसुराणि. तेषाम् अन्योन्यं स्पर्द्धा. तत्र बलिष्ठानि आसुराणि. तैः देवरूपाणि न स्वकार्ये प्रवर्तितुं शक्नुवन्ति. तानि चेद् आसन्योपासनादिना आसंगादिदोषाद् निवृत्तानि स्वस्य देवभावं प्राप्नुवन्ति, तदा कार्यतोऽपि देवरूपाणि भवन्ति. तत्र ऋषीणां बहुजन्माभ्यासाद् इन्द्रादिदेवानां च देवरूपाण्येव इन्द्रियाणि भवन्ति; ये वा दैव्यां सम्पदि जाताः, तेषामपि देवरूपाणि भवन्ति आसुराण्यपि भवन्ति. एकस्मिन्नेव गोलके उभयमपि तिष्ठति. यानि निषिद्धाद् विचिकित्सन्ते, यथा अमेध्यं दृष्ट्वा तथा कामिन्यामपि**

दृष्टायाम्. यानि पुनः निषिद्धे लौकिके च रज्यन्ते, तानि बलाद् विहिते प्रवर्तमानान्यपि न परितुष्टानि भवन्तीति आसुराणि. तत्र भक्तिः देवैरेव भवति, न आसुरैरिति 'देव'पदेन करणानि निर्मितानि. तेषां परिज्ञानार्थं लक्षणम् आह गुणलिंगानाम् इति, गुणाः रूपादयः तैः लिंग्यन्ते, गुणाः लिंगानि येषाम् इति. देवरूपाणाम् इन्द्रियाणाम् एतल्लक्षणम्, तानि लयविक्षेपशून्यानि. ततो विक्षेपाभावाद् न कार्येषु प्रवृत्त्या स्पष्टम् उपलभ्यन्ते, नापि लयाभावाद् मूढानि पदार्थमपि न गृह्णन्ति इत्यपि. किन्तु रूपमात्रं चक्षुः गृह्णाति पश्यति इति कृत्वा चक्षुः अस्ति इति ज्ञायते. एवम् अन्यानि. तादृशानि कथं भवन्ति इति आकांक्षायाम् आह आनुश्रविककर्मणाम् इति, गुरोः उच्चारणानन्तरं श्रूयते इति अनुश्रवो वेदः, तेन प्रोक्तानि कर्माणि आनुश्रविकाणि; तान्येव कर्माणि येषाम्. लोके दर्शनादिमात्रं, कार्याणितु वैदिकान्येव तेषाम्. दैवाद् येषाम् एतादृशानि इन्द्रियाणि भवन्ति, तेषां भक्तिः भवति इति उक्तम्. किञ्च तान्यपि कर्मयोगज्ञानादिबहुरूपे वैदिके कर्मणि प्रवर्तमानानि पूर्ववासनया अभ्यासाद् भवन्ति. तेषामपि यदि फलावस्था भवति तदा सत्त्वएव शुद्धसत्त्वरूपे भगवत्स्वरूपे प्रवर्तमानानि स्वभावतो भवन्ति. सत्त्वे इति सांख्यमतानुसारेण उक्तम्. वस्तुतस्तु ''गुणातीते भगवति स्वाभाविकी वृत्तिः'' इति भगवच्छास्त्रम्. ''मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्'' (भाग.पुरा.११।२५।२४) ''हरिः हि निर्गुणः साक्षात्'' (भाग.पुरा.१०।८५।५) इत्यादिवाक्यैः सर्वा भगवतः सामग्री निर्गुणा. एवकारो राजसतामसव्युदासार्थः. एकमनसः इति, एकमेव मनो यस्य. मनोऽपि द्विविधम्, दैवासुरविभेदेन. तत्र आसुरं संकल्पविकल्पात्मकं नानाभावापन्नं गुणैः च क्षोभम् एति. दैवन्तु एकस्वभावापन्नं मननात्मकमेव. इन्द्रियाणितु उभयविधान्येव भवन्तु नाम कार्यमेव आसुराणां बाध्यते. मनसातु द्वितीयेन न भाव्यमेव, तथा सति इन्द्रियाणां पूर्वोक्ता वृत्तिः न स्यात्. अतः एकम् एकस्वभावापन्नं मनो यस्य, तस्यैव भक्तिः. अन्येषान्तु यथाकथञ्चित् क्रियमाणा भगवति खण्डशो वृत्तिः अक्षयत्वाद् बहुभिः जन्मभिः पुष्टिं गता, अन्तिमजन्मनि भक्तिरूपां वृत्तिं जनयिष्यतीति, न कापि अनुपपत्तिः. वृत्तिः तन्निष्ठता, नतु ग्रहणमात्रम्. सापि वृत्तिः औत्पत्तिकी; यथा प्रह्लादस्य, अन्येषां

वा भक्तानाम्. एतावद् दूरे न अस्मिन् जन्मनि साधनसाध्यता किन्तु पूर्वजन्मवशादेव एवंभूतो भवति. अग्रे विशेषं वक्तुं शब्दम् आह. जन्मान्तरेण व्यवधानात् पूर्वजन्मवृत्तिः 'यत्'शब्देन परामृश्यते.

फलरूपे जन्मनि सा अनिमित्ता भवति, स्वतन्त्रा, भगवन्निमित्ता वा. भगवतः सकाशात् फलानि निमित्तानि. या अनिमित्ता सा भक्तिः भवतीति उत्तरेण सम्बन्धः. किञ्च सा चेद् भागवती भवति, साक्षाद् भगवन्तं विषयीकरोति, भगवद्भावं वा षड्गुणरूपताम् आपद्यते. पूर्वं सत्त्वरूपे देवे विष्णौ वृत्तिः, सैव जन्मान्तरे भागवती भवति इति वा. पञ्चाग्निविद्यायां ज्ञानौपयिकदेहसिद्धिः निरूपिता, तस्मिन् देहे ज्ञाने जाते मुक्तिः भवतीति तस्य च ब्रह्मविदो जीवतो, म्रियमाणस्य, गच्छतः, संगतस्य च व्यापाराः निरूपिताः. सद्योमुक्तावपि सायुज्यं निरूपितम्. तद् वस्तुतो भक्तानामेव भवति इति सिद्धान्तः, प्रकारान्तरेण प्राप्य अभिव्यक्त्यभावात्. तथापि मुक्तेः सायुज्यादपि इयं भक्तिः गरिष्ठा इति आह सिद्धेः गरीयसी इति. सिद्धिः पूर्वोक्ता. गरीयस्त्वं निरूपयति जरयति इति, या कोशं लिंगशरीरं जीर्णं करोति. बीजात्मकम् इति अन्ये. यद्यपि सिद्धावपि कोशजीर्णता वर्तते, तथापि आशु जरयति. अनायासार्थं दृष्टान्तः निगीर्णम् अनलो यथा इति. नहि भुक्तकवलस्य परिपाकार्थम् औदर्याग्नेः अन्यत् साधनं विधीयते, औषधादिकमपि अग्निमेव उद्बोधयति. एतया मे पदं प्राप्यत इति भावः ॥३२-३३॥

अनुवाद : अब भक्तिका लक्षण दे रहे है **देवानां**...इन दो श्लोकके द्वारा. वह भक्तिका पूर्ण परिकर आगे ग्यारह श्लोकोंसे निरूपित किया जायेगा. **एक ही मनवाले** पुरुषकी सभी इन्द्रियोंकी **सत्त्वमूर्ति** भगवान्के लिये **जो स्वाभाविकी वृत्ति वह 'भक्ति'**. इन्द्रियाँ स्वभावसे द्विविध होती हैं **''द्वया ह प्राजापत्याः''** (बृह.उप.१।३।१) इस श्रुतिवचनमें निरूपित किया है. कुछ देवरूप और कुछ आसुररूप होती हैं. जिन इन्द्रियोंसे अलौकिक वेदोक्त ही कर्म या ज्ञान होता है, वे देवरूप

इन्द्रियाँ हैं. जिन इन्द्रियोंसे लौकिक कर्म इत्यादि उत्पन्न होते हों उनको आसुरी जानना. इन दोनों प्रकारकी इन्द्रियोंमें आपसमें स्पर्धा होती है. उनमें आसुरी इन्द्रियोंके बलिष्ठ होनेसे देवरूप इन्द्रियाँ स्वयंके कार्यमें प्रवृत्त नहीं हो सकतीं. आसुरी इन्द्रियाँ यदि आसन्योपासनाके द्वारा विषयासक्तिके दोषसे मुक्त हो जायें तो वे देवभावको प्राप्त कर सकती हैं. तब देवरूपोचित कार्य करनेमें समर्थ हो सकती हैं. ऋषिओंको तो बहुत जन्मोंका अभ्यास होनेके कारण और इन्द्रादि देवोंकी देवयोनि होनेसे ही इन्द्रियाँ देवरूप होती हैं; अथवा दैवी सम्पद्में जन्मे हो, उनकी भी देवरूप एवम् आसुररूप इन्द्रियाँ हो सकती हैं. एक ही इन्द्रियगोलकमें (चक्षुका अधिष्ठान) दोनों रहती हैं. जो इन्द्रियाँ निषिद्ध कर्मोंसे संशयग्रस्त (ग्लानि प्राप्त करें) हो जाती हों, जैसे कि अपवित्र वस्तुको देख कर या कामिनिओंको देख कर वे इन्द्रियाँ देवस्वभाव हैं. जब कि आसुरी इन्द्रियाँ दृश्यमात्रसे निषिद्ध या लौकिक में अनुरक्त हो जाती हैं. उनको हठात् भी शास्त्रविहित कर्मोंमें प्रवृत्त करनेपर भी परितुष्ट नहीं होतीं. भक्ति तो दैवी इन्द्रियोंसे ही हो सकती है, आसुरी इन्द्रियोंसे नहीं. **'देव'**पदके द्वारा निर्मित करणोंका परामर्श किया है. **गुणलिंगानाम्** इस पदको समझानेके लिये लक्षण कहते हैं, गुण रूपादि जिनके द्वारा जाने जाते है, अर्थात् गुण है चिन्ह जिनका. यह दैवी इन्द्रियोंका लक्षण है. ऐसी इन्द्रियोंमें लय या विक्षेप की बाधा नहीं होती. विक्षेप न होनेके कारण कार्यकी प्रवृत्तिमें स्पष्ट रीतसे अनुभवमें (इन्द्रिय) नहीं आती. वैसे ही लय भी नहीं होनेके कारण इतनी मूढ़ नहीं हो जाती कि पदार्थको गृहीत ही न कर सके. फिरभी चक्षु रूपमात्रका ग्रहण करती है इसलिये 'चक्षु है' ऐसा जाना जाता है. इसी तरह अन्य इन्द्रियोंको जाना जाता है. इन्द्रियाँ ऐसी क्यों होती हैं उसका हेतु कहते हैं **आनुश्रविककर्मणाम्** गुरुके उच्चारणके अनन्तर जो सुना जाता है उसे 'अनुश्रव' = वेद कहते है. वेदद्वारा कहे गये कर्मोंको 'आनुश्रविक' कहा जाता है. ऐसे आनुश्रविक कर्मोंमें ही जो इन्द्रियाँ

प्रवृत्त रहती हों वे दैवी होती हैं. लोकमें केवल दर्शनादि मात्रका कर्म करती है. अनुरक्त नहीं होती. उनकी रुचि तो वैदिक कर्मोंमें ही होती है. दैवयोगसे जिनकी इन्द्रियाँ ऐसी होती हैं वे भक्ति कर सकते हैं. और ऐसी इन्द्रियाँ भी कर्म योग या ज्ञानादि ऐसे अनेक कर्मोंमें पूर्ववासनाके कारण अभ्यासवश प्रवृत्त होती है. पर कभी उनकी भी यदि फलावस्था होती है तो **सत्त्वमें ही** अर्थात् शुद्धसत्त्वरूप भगवत्स्वरूपमें ही स्वभावसे प्रवृत्त होनेमें समर्थ होती हैं. **सत्त्व** तो सांख्यमतके अनुसार कहा है, वास्तवमें तो **''गुणातीत भगवान्में स्वाभाविकी वृत्ति''** यह भगवच्छास्त्रके अनुसार भक्तिका लक्षण है **''मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्''** (भाग.पुरा.११।२५।२४) **''हरिः हि निर्गुणः साक्षात्''** (भाग.पुरा.१०।८५।५) इत्यादि वचनोंके आधारपर भगवान्की सर्व सामग्री निर्गुण है. **एव** पदके प्रयोगसे भगवान्की राजसी एवं तामसी मूर्तिओंके ध्यानको व्यावर्तित किया. **एकमनसो** का अर्थ है जिसका मन एकरूप है. मन भी दो प्रकारके होते है, दैवी और आसुरी के भेदसे. उनमें आसुरी मन संकल्प-विकल्पात्मक होनेसे नाना भावोंसे युक्त होता है और प्रकृतिके गुणोंसे क्षुब्ध भी. और मननात्मक दैवी मन एक ही स्वभाववाला होता है. इन्द्रियाँ भले दो प्रकारकी हों पर मन दो प्रकारका नहीं होना चाहिये. क्योंकि आसुरावेशी इन्द्रियोंका बाध जरूरी है. अन्यथा इन्द्रियोंसे भक्ति नहीं हो सकेगी. अतः मन स्वभावसे **एक** प्रकारका होना चाहिये. एकस्वभावापन्न जिसका मन होगा तब भक्ति शक्य होगी. अनेक स्वभाववाले मनसे भगवान्के लिये यथाकथञ्चित् की जाती खण्डशः वृत्ति अक्षय होनेके कारण अनेक जन्मोंके द्वारा पुष्टिको प्राप्त होनेसे अन्तिम जन्ममें भक्तिके रूपमें फलित होती है. अतः कोई भी अनुपपत्ति नहीं है. **वृत्ति** अर्थात् एकनिष्ठा, केवल ग्रहणमात्र नहीं. वह वृत्ति स्वाभाविक होनी चाहिये; जैसे प्रह्लाद या अन्य भक्तों की थी. अनेक जन्मोंके बाद इस जन्ममें वह (भक्ति) साधनसाध्य नहीं होती किन्तु पूर्वजन्मोंकी वृत्ति ही सहज स्वभावरूपमें फलित होती है. अनेक जन्मोंके अन्तराय होनेसे पूर्वजन्मकी वृत्ति ही

यहां **या** पदसे कही है.

फलरूप जन्ममें वह अनिमित्त होती है. स्वतन्त्र या भगवन्निमित्त होती है. भगवान्से प्राप्त होते फल या निमित्त हो ऐसी कोई भी निमित्त बिनाकी भक्ति होती है. और वह **भागवती** होती है, अर्थात् भगवान्को (भक्तिका) विषय बनानेवाली अथवा भगवद्भाव या भगवान्के षड्गुणोंवाली हो जाती है. पहले सत्त्वरूप देव विष्णुमें जो वृत्ति थी वही जन्मान्तरमें **भागवती** हो जाती है. पञ्चाग्निविद्यामें ज्ञानोपयिक देहकी सिद्धिका निरूपण किया है. उस देहमें ज्ञान उत्पन्न होनेसे मुक्ति मिलती है. वैसे ब्रह्मज्ञानकी चार अवस्था हैं, (१) जीवितावस्था, (२) म्रियमाणावस्था, (३) परलोकगतावस्था और (४) उनके व्यापार. सद्योमुक्तिमें भी सायुज्यका निरूपण किया गया है. वास्तवमें यह मुक्ति भक्तोंकी ही चार अवस्थाएं हैं, ऐसा सिद्धान्त है, प्रकारान्तरसे मुक्तिमें जो प्राप्त होता है उसकी अभिव्यक्ति होती नहीं है. फिर भी मुक्ति या सायुज्य से यह भक्ति श्रेष्ठ है. इसलिये **सिद्धेः गरीयसी** ऐसा कहा. सिद्धिका तो पहले निरूपण किया अब गरीयताका निरूपण करते हैं. **जीर्ण कर देती है. जो कोश** लिंग शरीरको जीर्ण कर देती है. यद्यपि सिद्धिमें भी कोशकी जीर्णता है, भक्ति तो बिना किसी प्रयत्नसे **शीघ्र ही** कोशको जीर्ण कर देती है. वहां अनायासार्थ द्रष्टान्त देते हैं **निगीर्णम् अनलो यथा** जैसे खाये हुए अन्नको पचानेके लिये जठराग्नि अन्य कोई साधन नहीं करती, औषधि आदि भी अन्तमें जठराग्निको ही प्रज्वलित करती है. ऐसी भक्तिके द्वारा मेरा पद प्राप्त होता है॥३२-३३॥

विवेचन : **तत्र भक्तिं लक्षयति देवानाम् इति द्वयेन.** जब कपिलदेवजीने अपनी माताके मस्तिष्कमें क्या चल रहा है यह जान लिया, उसके बाद माताकी इच्छाके अनुसार उन्हें तत्त्वज्ञान देना प्रारंभ किया. माँ होनेके कारण उनपर स्नेह भी है इसलिए उन्होंने सोचा कि "सीधे

सांख्यका उपदेश उनके लिए थोड़ा क्रूर हो जायेगा. इस कारण पहले वेदमार्गका उपदेश देना उचित है.''

एक बार आपको फिरसे बता दूं कि सांख्य और वेद की दृष्टियोंमें भेद क्या है? वेदकी दृष्टि यह है कि जो भी नाम-रूप-कर्म रूपी सृष्टि हमें दिखलायी दे रही है, उनमें एक ब्रह्म-तत्त्वको कैसे देखना. सांख्य इसके बिल्कुल विपरीत है. जो एक दीख रहा है उसमें कैसे भेद देखना. सांख्य हमें एकमेंसे अनेकता किस प्रकार हुयी है, यह समझाता है. और वेद यह समझाता है कि अनेकतामें एकता किस प्रकार देखनी. क्योंकि सांख्यका अर्थ होता है 'गणना'. जैसे मैं अपना हाथ दिखा कर आपको कहूं कि ''यह कितने हैं?'' तो आप कहेंगे ''एक'' पर मैं यदि कहूं कि इसमें पांच गिनो, तो आप क्या करेंगे? आप मेरी अंगुलियां गिनेंगे. फिर मैं कहूं कि ''इसमें चौदह गिनो.'' आप इन्हीं अंगुलियोंके पोरुए गिन कर बता देंगे. इस प्रकार हर संख्याको गिननेके लिए उसके पॉइन्ट् हमको दिये जाने चाहियें. 'पॉइन्ट्' मानें तत्त्व. अर्थात् किन मापदंडोंके आधारपर हमें गिनती करनी है. कौनसी वस्तु एक है कि अनेक, यह जब-तक उसके गिननेके मापदंड नहीं दिये जायेंगे तब-तक हमें कैसे पता चलेगा कि वस्तु कितनी है! जैसे यही हाथ है, पर अंगुली गिनेंगे तो पांच हैं और हाथ गिनेंगे तो एक है. इस प्रकार एक और अनेक, किसी वस्तुकी अपनी विशेषता नहीं है, बल्कि उसे अपने देखनेका दृष्टिकोण है. एक अनेक भी हो सकता है और अनेक एक. जैसे मुम्बई शहर एक है पर इसके कितने भाग हैं. यदि हम मुम्बईमें रहते हैं तो हम यह नहीं कहेंगे कि ''हम मुम्बईमें रह रहे हैं.'' हम उसके किसी एक हिस्सेका नाम लेंगे कि ''हम पार्लामें रह रहे हैं, कांदिवलीमें रह रहे हैं.'' पर यदि हम बाहर हैं तब कोई पूछे तो हम कहेंगे ''हम मुम्बईमें रहते हैं.'' तो यह बात अपने देखनेके दृष्टिकोणपर आधारित हुयी. हम एक और अनेक

को ले कर झगड़ा करते हैं पर यह झगड़ेका विषय है ही नहीं क्योंकि यह इस बातपर निर्भर है कि आपका उस वस्तुको देखनेका नज़रिया क्या है. इस नज़रियेमें भेद आता है अपने संदर्भ-बिन्दुसे. एक ही मनुष्यको अंग-प्रत्यंगकी दृष्टिसे देखेंगे तो उसमें कितने सारे अंग हैं! एक ही शरीर है पर इसमें बायोलॉजिकल् फंक्शन्स् सत्ताइस हैं. साँस लेनेकी सिस्टम् है, रक्त दौड़नेकी सिस्टम् है, हृदयके धड़कनेकी सिस्टम् है इत्यादि. इन सिस्टम्को गिनते जायें तो हमें अनेकता दिखेगी और मनुष्यके रूपमें देखें तो एक दिखेगा. मानो कि इसी मनुष्यमें कोई एक सिस्टम् थोड़ी खराब हो गयी तो क्या वह मनुष्य नहीं कहलायेगा? वह कहलायेगा तो मनुष्य ही.

मेरी एक भाभी थी जिन्हें दो रोग एक साथ हो गये थे. वह रोग भी कैसे कि एकका इलाज करो तो दूसरा बढ़े. दूसरेका इलाज करो तो पहला बढ़े. पर वह इन दो विरोधी रोगोंको झेलते हुए भी बहुत समय तक जीवित रही. मॅडिकल् सांइस्के लिए भी वह अचंभा था. वह एकका इलाज करते तो दूसरा बढ़ जाता. डॉक्टर् कहते थे कि इस प्रकार तो यह अधिक समय तक जीवित नहीं रह पायेंगी, पर दो विरोधी बीमारियोंके होते हुए भी वह जीवित रही. अब शरीर एक है कि अनेक? ऐसे ही किसी वस्तुका निश्चय हम वेदकी दृष्टिसे देख रहे हैं कि सांख्यकी दृष्टिसे देख रहे हैं, इस बातपर निर्भर करेगा. मेरी भाभीके भी दोनों रोग मारक थे. गणनाकी दृष्टिसे देखो तो दोनों वस्तुएं आपसमें टकरा रही हैं. रोगकी गणनाकी दृष्टिसे देखें तो उनके जीनेकी कोई संभावना ही नहीं थी. पर मनुष्यकी दृष्टिसे देखें तो वह जी रही थी. इसी प्रकार सांख्यका अर्थ है कि जो एक तत्त्व है उसको किस प्रकार अनेकमें विभाजित करके उसकी गणना की जाये, यह बताया गया है और वेद बताता है कि जो अनेकमें बंटा है, वह एक तत्त्व कौनसा है? ऐसी कौनसी चीज है जो इन सबको एकमें बांध रही है.

पश्चिममें एक बहुत बड़ा दार्शनिक हुआ है. जब हमारा एक स्वतंत्रता सेनानी इंग्लॅन्ड् गया था और उसने एक बात कही कि ''अंग्रेजोंके रहनेसे हमारा इतिहास, हमारी संस्कृति, हमारी खुशहाली सब चली जा रही है.'' इसके प्रत्युत्तरमें उस दार्शनिकने एक बात पूछी कि ''तुम यह बताओ कि भारतमें इतनी भाषा, इतनी संस्कृति, इतने लोग, इतने पहनावे होनेके बाद भी सभी लोग एक साथ रह रहे हैं कि नहीं?'' तब वह स्वतंत्रता सेनानी बोला ''हां वह तो रह रहे हैं.'' आप सोचो कि किस हद तक यह बात सत्य है कि जैन लोग अपने कृष्णको नरकमें मानते हैं. पर जैनोंमें हम अपनी बेटी देते ही हैं. अपने सभी शास्त्रोंमें लिखा है कि यह सब लोग नरकगामी होते हैं. पर फिर भी वे लोग अपने दोस्त होते हैं कि नहीं? धर्मका भेद है पर परिवार एक हो जा रहा है. इसलिए वह कहता है कि ''इस सिस्टम्के कारण जब आठसौ वर्षमें मुगल तुम्हारा कुछ बिगाड़ नहीं पाये तो हम सौ-दोसौ सालोंमें तुम्हारा क्या बिगाड़ लेंगे.'' पचास सालमें ईरानका खात्मा हो गया मुसलमानोंके कारण. क्योंकि वहां एक ही धर्म था. एकको समाप्त करनेमें समय नहीं लगा. हमारे यहां कितने धर्मोंको समाप्त कर सकते थे. कितनी जातियाँ, कितने धर्म, कितनी भाषाएं, कितनी संस्कृति, कितने पहनावे, कितने अलग-अलग व्यवहार! समाप्त करें तो करें कैसे इतनी विविधताको? हम कभी भी राजनैतिक दृष्टिसे एक नहीं थे पर सांस्कृतिक दृष्टिसे हम मिले-जुले थे. इसीलिए नौ-सौ वर्ष दुनियाका कोई देश गुलाम नहीं रहा है, भारत गुलाम रहा. पर फिर भी यहांकी विविध संस्कृति अभी जीवित हैं. ईरानकी तरह ईजिप्तमें भी उनकी संस्कृति समाप्त हो गयी. सीरिया दमिष्क यह सभी संस्कृतियाँ पूरी तरहसे तबाह हो गयीं. यहां तक कि अब किसीको पता भी नहीं है कि उनका असली रूप क्या था.

अपनी दस हजार साल पुरानी संस्कृति अभी तक जीवित

है. वह इस कारण कि हम विविधताओंमें बंटे हुए हैं. कोई हमें खत्म करनेकी कोशिश करे तो भी यह संभव नहीं है. यह खूबसूरती भी है कि इन सभी संस्कृतियोंमें साथ रहनेकी एक ललक भी है. ऐसा नहीं है कि ये झगड़ते नहीं हैं. झगड़ते हैं पर फिर भी साथ रहते हैं. इसका आदर्श आप समझ सकते हो कि कौरव-पांडव झगड़ते थे पर जब भीष्म मर नहीं रहे थे तो पांडवोंने कृष्णसे पूछा कि ''इन्हें मारा कैसे जाये?'' उन्होंने कहा ''यह तो वह ही बता सकते हैं कि उन्हें कैसे मारा जा सकता है.'' पांडव भीष्मके पास गयें. उन्होंने बता दिया अपने मरनेका तरीका. अपने यहां है ऐसी सहूलियत औरोंमें नहीं है. पुराने जमानेमें पति-पत्नी लड़ते थे तो भी साथ रहते थे. ऐसा कोई युग नहीं गया कि जिसमें पति-पत्नी झगड़ते न हों. उनका तो यह मौलिक अधिकार है. पर झगड़ते हुए भी अलग नहीं होते थे. आज-कल झगड़ेकी संभावना मात्रसे अलग हो जाते हैं. यह पाश्चात्य संस्कृति है. अपनी संस्कृतिमें झगड़े चलते रहते हैं पर रहना साथमें ही है. इसलिए हमें कोई खतम कर ही नहीं पाया. जैन और बौद्ध आपसमें झगड़ते ही थे. हम भी उन दोनोंसे बराबरीसे झगड़ते थे. पर रहते साथ ही थे.

इसी प्रकार सांख्य और वेदांत की जो लड़ाई है, वह एक समयमें ही है. इसीलिए देवहूतिकी विचारधारा कपिलदेवजीसे पृथक् होना चाह रही है और कहीं पुत्र स्नेहवश साथ होना भी चाह रही है. इसलिए दोनोंको उपयुक्त हो, ऐसा उपदेश होना चाहिये. इसीलिए सांख्य तो देवहूतिने पूछा पर कपिलदेवजीने उन्हें वेदान्त भी समझाया है. झगड़ा भी करना है और साथ भी रहना है.

आपको एक व्यक्तिगत बात बताता हुं. इससे आपको यह चीज बिल्कुल साफ हो जायेगी. यहां दो मिल थीं, रघुवंशी और

अम्बिका, उसके मालिक मेरे काकाओंके दोस्त थे. वे सब साथ ही खेले थे. बचपनसे ही मेरे काका उनको 'मोटा भाई' कहते थे क्योंकि वह उम्रमें बड़े थे. अब हम लोग ब्राह्मण और वह मिलके मालिक. इसलिए बचपनसे ही मेरे काकाओंको ऐसी आदत पड़ गयी थी कि उन्हें यदि कोई भी चीजकी आवश्यकता है तो वे तुरंत कहते "मोटा भाईसे कहो, वह दिलवायेंगे." उनको भी काकाओंपर इतना स्नेह कि वह तुरंत दिलवा भी देते. इन काकाओंमेंसे एक काकाको ऐसी आदत कि जो मेरे पास है, वह किसीके पास नहीं होना चाहिये. वह कहते "मोटा भाई, मुझे यह चीज दिलवाओ." बड़े भाईने दिलवा दी. यह देख कर दूसरे काकाने कहा "मुझे भी दिलवाओ." उन्होंने उन्हें भी दिलवा दी. इस बातपर पहले काका नाराज हो गये और उनसे बोले "निकल जाओ यहांसे." वह बोले "आप तो दोनों मेरे छोटे भाई हो, इसलिए मेरे लिए तो बराबर हो. पर आप जानेके लिए कहोगे तो नहीं जाऊंगा. क्या आप मुझे धक्का मार कर निकालोगे?" अब इतनी हिम्मत तो मेरे काकामें नहीं थी क्योंकि वे उनको बड़ा भाई मानते थे. इस तरह झगड़ा भी होता था और अत्यंत स्नेह भी था. एक बार मेरे दादाजी दीक्षितजी महाराजसे कोई कुछ मांगने आया तो उन्होंने मोटा भाईको चिठ्ठी लिख दी "यह बेचारा बहुत दुःखी है, इसकी कुछ मदद कर देना." उन्होंने कर भी दी. अब जो कोई कुछ भी मांगने आये उसे दादाजी उसीके पास चिठ्ठी लिख कर भेज देते. एक दो बार तो उन्होंने दे दी. बादमें देना बंद कर दिया. इस बातपर दादाजीका गुस्सा सातवें आसमानपर पहुंच गया. वह रोज उत्थापनके समय मंदिरमें दरशन करने आते थे. उसी समय अपनी बैठकमें बैठ कर दादाजी उसे भर पेट गाली दे रहे थे "साला बनिया है. पैसेका घमंड हो गया है." तभी वह दादाजीसे मिलने आ पहुंचा. मैं बाहर बैठ कर सुन रहा था. मैंने उन्हें अंदर जानेसे मना किया. उन्होंने सुन लिया कि दादाजी उन्हींको गाली

दे रहे हैं. हंसते हुए अंदर गये और बोले ''क्यों दीक्षितजी गाली दे रहे हो?'' दादाजी खिसिया गये और बोले ''अरे नहीं नहीं. आओ.'' वह जब बाहर आये तो मैंने उनसे कहा ''बुरा मत मानना.'' वह हंस कर बोले ''अरे इसमें क्या है. बालक तो सारे ऐसे ही होते हैं. उम्रमें कितने ही बड़े हो जायें पर रहते बालक ही हैं.'' उनका ऐसा भाव था. सभीके साथ झगड़ा भी करते थे, गालियाँ भी सुनते थे, फिर भी बड़े भाईकी तरह रहते थे. आजकी तारीखमें ऐसी सहनशक्ति नहीं रही. न तो वैष्णवोंमें है और न ही हममें है.

कहनेका मुद्दा यह है कि सांख्य विभाजित करता है और वेद सबमें एक देखता है. पर व्यक्ति किसी एकपर यदि रुक जाये तो कुछ भी समझमें नहीं आयेगा. आपको दोनों पक्ष समझमें आने चाहियें कि कैसे विभिन्न वस्तुओंमें एक देखना और फिर भी वस्तुओंको अलग-अलग पहचानना. जब ऐसा होगा तब ही आपको एक सांगोपांग दृष्टिसे सत्यका पता चलेगा कि सभी वस्तुओंकी एकात्मकता है और एकात्मकता होते हुए भी वे अलग-अलग भी हैं. इसीलिए कपिलदेवजीने उचित यही समझा कि यद्यपि माँ सांख्यके बारेमें पूछ रही है पर मुझे इसे केवल सांख्य नहीं समझाना है, क्योंकि माँ अंततः तो अपने मातृप्रेमके कारण मुझसे पूछ रही है, इस कारण इसे वेदान्त आधारित भक्ति भी समझानी चाहिये. **तत्त्वाम्नायं यत्प्रवदन्ति साङ्ख्यं प्रावोचद् वै भक्तिवितानयोगम्** उन्होंने भक्तिवितानयोगवाला सांख्य उन्हें समझाया, केवल सांख्य नहीं समझाया.

ऐसी भक्तिकी परिभाषामें सबसे पहले ''**देवानां गुणलिङ्गानाम् आनुश्रविककर्मणाम्, सत्त्वएव एक-मनसो वृत्तिः स्वाभाविकीतु या, अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेः गरीयसी, जरयति आशु या कोशं निर्गीणम् अनलो यथा**'' श्लोक कहा है.इसका विस्तारसे अध्ययन

हम पहले ही कर चुके हैं. अब इसके आगे भक्तिके लक्षण बता रहे हैं.

**तत्र भक्तिं लक्षयति देवानाम् इति द्वयेन. तस्य च परिकरः सर्वोऽपि अग्रे वक्ष्यते** मानें भक्तिके लिए आवश्यक सामग्री सब आगे समझायी जायेगी. सबसे पहले भक्तिके लक्षणरूप जो बात समझमें आनी चाहिये वह है **एकमनसः पुरुषस्य सर्वेन्द्रियाणां सत्त्वमूर्तौ भगवति या स्वाभाविकी वृत्तिः सा भक्तिः इति.** आदर्श-भक्ति किसी भी समय पक्षपाती नहीं हो सकती है. प्रारंभिक अवस्थामें हो सकती है पर जब यह अपने चरमपर पहुंचती है तो पक्षपाती हो ही नहीं सकती क्योंकि चाहनेका नाम भक्ति है. चाहमें हम यह नहीं कह सकते कि ''देखनेमें तू मुझे अच्छा लग रहा है पर तेरी बात अच्छी नहीं लग रही.'' अथवा ''तेरी बात मुझे अच्छी लगती है पर तू देखनेमें अच्छा नहीं लगता.'' अथवा ''तू देखनेमें अच्छा लगता है, तेरी बात भी अच्छी लगती है पर तेरे साथ रहना अच्छा नहीं लगता.'' ऐसा तो जब प्रेममें नहीं हो सकता तो भक्तिमें किस प्रकार हो सकेगा! इसलिए हम जिसकी भक्ति कर रहे हैं उसके प्रति हमारी एकादश इन्द्रियोंका जो व्यवहार होना चाहिये; जैसे जिसे देखना अच्छा लग रहा है, उसको सुनना भी अच्छा लग रहा है, उसे सुनाना भी अच्छा लग रहा है, उसके साथ रहना भी अच्छा लग रहा है, उसके साथ काम करना भी अच्छा लग रहा है, उसका विचार भी अच्छा लग रहा है, उसकी गंध भी अच्छी लग रही है, यह भक्ति है.

हमारी संस्कृतिमें कोई भी छोटा बच्चा होता है तो माँ उसे अपने पास ही सुलाती है. यूरोपमें बच्चोंके लिए अलग बॅडरूम् होता है. माँके पास सोनेके कारण बच्चा अपनी माँकी गंधका इतना आदी हो जाता है कि यदि उसे वह गंध नहीं मिले तो उसे

आराम नहीं मिलता. ऐसा नहीं है कि बच्चेको माँ केवल इसलिए अच्छी लगती है कि वह उसकी दूधकी आवश्यकताको पूरा करती है अथवा उसे देखे बिना उसे चैन नहीं आता, उसे माँके शरीरकी गंध भी उतनी ही अच्छी लगती है. इस गंधके कारण ही माँकी चाहना उसे होती है. इसीलिए फिर वह उसे कैसी भी वस्तु बना कर दे, चाहे उसमें नमक अधिक है अथवा कम है, उस चाहनाके कारण वही उसको पसंद आने लगता है. उसकी बोली चाहे वह कितनी भी कर्कश क्यों न हो, पसंद आने लगती है. यह केवल इस कारण होता है क्योंकि जब हम सच्चे हृदयसे जिसको चाह रहे हैं तो उसका हर पहलु हमें पसंद आने लगता है. ऐसा नहीं होता कि उसकी यह बात तो हमें पसंद है पर यह नहीं. जिस किसीको भी हम चाह रहे हैं, उसे संपूर्ण रूपसे चाहना ही सच्ची चाहकी पहचान है.

इसलिए भक्ति होनेकी पहली शर्त यह है कि जिस किसीके भी प्रति हमारी भक्ति है उसकी सत्त्व-मूर्तिके प्रति हमारी एकादश इन्द्रियाँ आकर्षित हो जायें और वह हमारी स्वाभाविक वृत्ति बन जाये. मानें बस वही अच्छा लगे. उसमें अच्छा लगने अथवा न लगनेका कोई कारण नहीं होता. माँको अपना बेटा अच्छा किसी कारणसे थोड़े ही लगता है. इसी प्रकार बालकको अपनी माँ क्यों अच्छी लगती है, इसका कोई कारण नहीं होता. वह तो बस अच्छी लगती है. यह कहलाती है 'स्वाभाविक वृत्ति'. दूसरेके अच्छा लगने न लगने के कई कारण हो सकते हैं कि वह दिखता अच्छा है, बोलता अच्छा है आदि आदि. पर अपने बच्चेके अच्छा लगनेके कोई कारण नहीं होते. वह तो स्वाभाविक ही अच्छा लगता है. **स्वाभाविकी वृत्तिः सा भक्तिः इति.** एकादश इन्द्रियाँ स्वभाविक तौरपर सत्त्व-मूर्तिकी ओर आकर्षित हो जायें, इसका नाम 'भक्ति' है.

अब एक सुंदर बात देखो कि वेदान्त जब भक्तिकी परिभाषा देता है तो ऐसे नहीं देता. वेदान्त भक्तिकी परिभाषामें कहता है **माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः स्नेहो इति भक्तिः** ब्रह्मका माहात्म्य समझनेके बाद जब आप उसे अहैतुकी स्नेह कर रहे हैं तो वह भक्ति है. वहां एकत्वका मापदंड है. वहां यह नहीं कहनेमें आया है कि किससे प्रेम करना चाहिये. वहां गणना नहीं है कि किससे. पर यहां सांख्यकी डिरॅक्ट्रीमें भक्तिकी फाइल् खोल रहे हैं इसलिए कपिलदेवजी कह रहे हैं ''एकादश इन्द्रियोंसे किये जाते स्वाभाविक प्रेमका नाम 'भक्ति' है.'' देखो यहां गणना आ गयी. वेदान्त किसी बातको कहेगा तो वहां गणना नहीं आयेगी. पर जब सांख्य भक्तिके बारेमें कहेगा तो गणना आयेगी. कपिलदेवजीको सांख्य समझाना है और भक्ति भी समझानी है. वेदान्त जब भक्तिके बारेमें बतायेगा तो गणना करके यह नहीं बतायेगा कि किस-किस चीजसे भक्ति की जा सकती है. भक्तिकी परिभाषा वह एकत्वके रूपमें करेगा कि भगवान्का माहात्म्य समझो और उसको सबसे अधिक चाहो, इसका नाम भक्ति है. उसको सबसे अधिक स्नेह कर रहे हो पर उसके माहात्म्यका ध्यान नहीं है तो भक्ति नहीं है और उसका माहात्म्य जान रहे हो पर स्नेह नहीं है तो भी भक्ति नहीं है. इस तरह भक्तिका वहां संघटित रूप है.

पर क्योंकि यहां सांख्यके अन्तर्गत भक्ति आ रही है इसलिए हर प्रकारसे उसकी गणना की गयी है. जैसे देखना उसीको अच्छा लगता है, सुनना उसीको अच्छा लगता है, उसीका अरोगा हुआ प्रसाद लेना अच्छा लगता है इत्यादि. जिसको दयाराम भाई कह रहे हैं ''**एवी अचल भक्ति तारी आप मुने मोहन...माल्य वृंदावन अंघ्रिप्रसादीनी लेउं सुगंधी घ्राण रे... तारुं कथामृत श्रवणे मारे प्रेमे करूं नित्य पान रे, हस्ते हरि करुं तारी सेवा, मन प्रिते करुं ध्यान रे, चरणे चाली तारे मंदिर आवुं पण, व्यापे नहीं अभिमान रे...**''

(श्रीदयारामभाई) इस प्रकार प्रत्येक इन्द्रियसे मैं तुझे चाहूं, गुणगान करूं, ऐसी अचल भक्ति तू मुझे दे. यह सांख्यपर आधारित गणना की जा सकनेवाली भक्ति है.

**इन्द्रियाणि हि द्विविधानि स्वभावतः ''द्वया ह प्राजापत्याः'' (बृह.उप.१।३।१) इत्यत्र निरूपितानि.** हमारी एकादश इन्द्रियोंमें दोनों प्रकारके आवेग हैं. दैवी आवेग भी हैं और आसुरी आवेग भी हैं. 'आवेग' मानें प्रवृत्ति, तीव्र इच्छा. प्रत्येक इन्द्रियमें दोनों प्रकारकी प्रवृत्ति होती हैं. महाप्रभुजी कहते हैं कि यदि तुम आसुरी प्रवृत्तिसे चाहोगे तो वह कभी भी भक्तिमें परिवर्तित नहीं होगी. पर यदि तुम किसीको दैवी प्रवृत्तिसे चाहोगे तो ही वह भक्तिमें विकसित होगी. इन प्रवृत्तियोंमें भेद किस प्रकार आ गया? एक बात समझो कि हमारी प्रवृत्ति आसुरी कब कहलाती है?

मैंने एक मजाकिया कहानी पढ़ी थी. एक छोटे बच्चेने एक मैंढ़क पाल रखा था. वह उसको बहुत चाहता था. जब भी छोटा बच्चा किसीको चाहता है तो बहुत ही दृढ़तासे चाहता है. एक दिन उस मैंढ़कने प्रतिक्रिया देनी बंद कर दी. बच्चेने उसे मरा हुआ जान कर जोर-जोरसे रोना शुरु कर दिया. बच्चेके पिताने उसे ढांढस बंधानेके लिए कहा कि ''तू चिंता मत कर. हम इसकी अंतिम क्रिया पूरे धूम-धामसे करेंगे. सभी संबंधीजनोंको बुलायेंगे.'' बच्चा तो खुश हो गया क्योंकि सभी व्यक्तियोंमें अधिकतर उसके दोस्त भी आये थे. यह निश्चित किया गया कि उस मैंढ़कको तलाबके किनारे दफनाया जायेगा. पूरे गाजे-बाजेके साथ सब उस मैंढकको तलाबके किनारे एक गढ्ढेमें दफन करने ले गये. जैसे ही वे तलाबके पास पहुंचे मैंढक तलाबमें कूद गया. अब वह बच्चा फिर रोने लगा और उसने कहा ''उसे तलाबमेंसे वापस निकालो, मुझे उसे जमीनमें गाढ़ना है.'' यह होती है आसुरी प्रवृत्ति. चाहे वह बालक-वृत्तिसे

हो, पर है तो यह चाहतकी आसुरी प्रवृत्ति.

आप अखबारमें भी पढ़ते होगे कि आजकल लड़का-लड़की यदि एक दूसरेका रिश्ता होनेसे मना कर दें तो वह चेहरेपर एसिड् छांट देते है. यह चाह नहीं है ऐसा नहीं है. पर यह चाहकी आसुरी प्रवृत्ति है. जब तुम किसीको इसलिए चाह रहे हो कि तुम्हें चाहना है अथवा केवल अपनी चाहनाको ही संतुष्ट करनेके लिए चाह रहे हो तो उसका नाम होता है 'असुर'. क्योंकि असुरका अर्थ कोई सींग अथवा दांत वाला मनुष्य नहीं होता. शास्त्रके हिसाबसे सुरका उल्टा असुर होता है. सुरकी परिभाषा शास्त्रमें इस प्रकार की गयी है ''सुष्ठु रमते'' जिसका मूड सदा रमणका होता है उसका नाम है 'सुर'. जिसका मूड रमणका न हो कर आत्मकेन्द्रित होता है, वह है असुर. रमणमें तो आपको दूसरेकी आवश्यकता होती है, दूसरेके बिना तो रमण हो ही नहीं सकता. पर दूसरेको आप भाव ही न दो तो रमण चलेगा ही नहीं. इसलिए उपनिषद्में कहा है **''स वै नैव रेमे तस्माद् एकाकी न रमते सः द्वितीयम् ऐच्छत्''** (बृह.उप.१।३।३) रमणके लिए हमें दूसरा तो चाहिये ही. अब जब दूसरा चाहिये तो आपकी जितनी आवश्यकता है, उतनी ही उसकी भी तो आवश्यकता है. इसके लिए आपको अपनी और दूसरेकी आवश्यकताओंका ध्यान बराबर रखना पड़ेगा. पर आप दूसरेका ध्यान ही न रखो, केवल अपनी आवश्यकताओंकी तरफ ही ध्यान रखो तो रमण नहीं चलेगा. इसीलिए इस वृत्तिको 'असुर' कहा गया है. यह प्रत्येक बातमें हम देख सकते हैं. आप किसीको चाह रहे हो, बहुत अच्छी बात है. पर यदि दूसरा चाहे नहीं तो उसे एसिड् छांट कर खतम कर देना; यदि प्रेम एक रमण है, तो यह उसका गलत तरीका है. इसीलिए इसको 'असुर-वृत्ति' कहा गया है. इस प्रकार सुर और असुर का प्रभेद किया गया है. प्रत्येक इन्द्रियमें आसुरी और दैवी, यह दोनों प्रवृत्तियाँ होती हैं. यही बात यहां

कही गयी है. **इन्द्रियाणि हि द्विविधानि स्वभावतः ''द्वया ह प्राजापत्याः'' ( बृह.उप.१।३।१ ) इत्यत्र निरूपितानि.**

प्रजापतिकी सृष्टि दो प्रकारकी है, आसुरी और दैवी. **एकानि देवरूपाणि, एकानि असुररूपाणि.** वे कैसी हैं, **यानि अलौकिकं वेदोक्तमेव कर्म ज्ञानं वा जनयन्ति तानि देवरूपाणि.** अलौकिकका अर्थ है कि जैसे कुछ काम हमें करना अच्छा लगता है और वह हम कर नहीं सकते. पर हमें लगता है कि वह तो हमें करना ही चाहिये. इस प्रकार जो अलौकिक कर्म है वह चाहे अच्छा लगता हो अथवा न अच्छा लगता हो, वह तो करना ही चाहिये. इसलिए जो तुम्हें करना ही है, इस वृत्तिसे जब आप कोई कर्म करते है तो वह दैवी है. और ''मैं यह कर्म करना चाहता हूं'' इस वृत्तिसे जब कोई कर्म किया जाता है तो वह 'आसुर' कहलाता है. क्योंकि ऐसी वृत्तिसे किये गये कर्मपर आपका कोई नियंत्रण नहीं होता. तुम जो करना चाह रहे हो वह तो चाह ही रहे हो. आप देखते ही होंगे कि ट्रॅफिक् रोड्पर जब अधिक हो जाता है तो कई लोग फुटपाथ्पर भी गाडी चढ़ा देते हैं आगे आनेके लिए. कभी गलत साइड्से ओवरटेक् करके भी आगे गाड़ी ले जाते हैं. यह सब आपको नहीं करना चाहिये. पर क्योंकि आगे आना चाहते हो इसलिए आप ऐसा कर रहे हो. यह ट्रॅफिक्का आसुरी पालन हुआ. यदि आप पूरे नियमोंका पालन कर रहे हो तो वही काम दैवी हो जायेगा. जैसे परीक्षामें भी हम देख सकते हैं कि चोरी करके भी पास् होना चाहते हों तो यह आसुरी प्रवृत्ति हुयी और यदि नियमसे हो रहे हैं तो यह दैवी वृत्ति हुयी. इस प्रकार प्रत्येक कर्ममें चाहे वह चाहनाका हो अथवा धंधेका हो अथवा कपड़े पहननेका हो आदि आदि, इन सभीमें आसुरी और दैवी दोनों वृत्तियाँ अपनी काम करती हैं. पर जब भी आसुरी वृत्तिसे हम किसीको चाहते हैं तो वह किसी भी प्रकार भक्तिमें विकसित नहीं हो सकती.

जब भी दैवी वृत्तिसे हम किसीको चाहेंगे तो वह भक्तिमें विकसित हो सकती है. **यानि लौकिकं कर्मादि जनयन्ति तानि आसुराणि. तेषाम् अन्योन्यं स्पर्द्धा.** इस प्रकार इन इन्द्रियोंमें यह स्पर्धा चलती ही रहती है. इस स्पर्धामें होता यह है कि अधिकतर आसुरी वृत्तियोंकी ही विजय होती है. **तत्र बलिष्ठानि आसुराणि. तैः देवरूपाणि न स्वकार्ये प्रवर्तितुं शक्नुवन्ति.** क्योंकि ''मुझे यह चाहिये'' यह वृत्ति हमेशा बलशाली होती है और ''मुझे यह करना चाहिये'' यह वृत्ति हमारी थोड़ी कमजोर होती है. जो मुझे देखना है, यह वृत्ति हमेशा अधिक बलशाली रहेगी बजाय इसके कि ''यह मुझे देखना चाहिये.'' मियां-बीबीका झगड़ा हो तो सभीको रुचि जाग ही जाती है कि क्या हो रहा है. छुप कर भी सुननेका मन तो करता ही है. सुननेसे कोई लाभ तो होता नहीं है, फिर भी सुनते तो हैं ही. इस प्रकार अपनी जितनी भी आसुरी वृत्ति हैं, वे दैवी वृत्तियोंको दबा देती हैं और इस कारण ही हममें वह भक्तिको विकसित होने नहीं देती. कपिलदेवजी भक्तिकी यह पहली शर्त बता रहे हैं.

**तानि चेद् आसन्योपासनादिना आसङ्गादिदोषाद् निवृत्तानि स्वस्य देवभावं प्राप्नुवन्ति, तदा कार्यतोऽपि देवरूपाणि भवन्ति.** उसके बाद कहते हैं कि प्राणायामकी उपासना; एक बात समझो कि योगमें प्राणायामको क्यों प्रोत्साहन दिया जाता है? आज-कल अपनी आसुरी वृत्तियोंके कारण हम प्राणायाम करनेका यह कारण देते हैं कि इससे शक्ति बढ़ती है, त्वचा अच्छी होती है, पेट कम रहता है. इसीलिए पांच सितारा होटलोंमें भी लोगोंने प्राणायाम करना शुरु कर दिया है. मूलमें योगका हेतु यह नहीं है. योग जब आपको प्राणायामके लिए कह रहा है तो उसका अर्थ है कि वह आपको यह समझाना चाह रहा है कि अपने अंदर कुछ क्रियाएं स्वतः चालित हैं और वही क्रियाएं हम अपनी इच्छाके अनुसार भी कर सकते हैं. जैसे देखनेकी क्रिया. हम जिसे देखना चाह रहे हैं, वह तो दीखता

ही है पर जिसे देखना नहीं चाह रहे और वह सामने आ जाये तो भी दिखता ही है. जिसे सुनना चाहते हैं वह तो सुनायी देता है पर जो नहीं सुनना चाहते पर आवाज आ रही है तो सुनायी तो देता ही है. इसी प्रकार बहुत सारी ऐसी क्रियाएं हैं जिनमें यह दोनों ही बातें देखनेको मिलती हैं. कुछ ऐसी क्रियाएं हैं जो केवल करनेसे ही की जाती हैं, स्वतः नहीं होती और कुछ ऐसी क्रियाएं हैं जो स्वतः ही होती रहती हैं. पर कुछ ऐसी हैं जो स्वतः तो चलती ही हैं पर उनपर नियंत्रण किया जा सकता है.

योग केवल ऐसी क्रियाओंको पकड़ता है जो कि स्वतः चल रही हैं पर उन्हें किसी प्रकारसे नियंत्रणमें लाया जा सके. जब इन क्रियाओंपर अपना नियंत्रण आ जायेगा तो अपनी आसुरी वृत्तियोंको भी नियंत्रित किया जा सकेगा. इसमें सबसे बड़ी क्रिया है श्वास-उच्छवासकी. आप चाहो अथवा नहीं पर श्वास-उच्छवास चलता ही है. योगद्वारा हम उसे अभ्यास करके अपने नियंत्रणमें लाते हैं. मैंने अपनी आंखसे देखा है. बड़े-मंदिरमें एक योगी आया था, उसने पांच मिनट तक अपनी नाड़ी बंद करके दिखा दी. मैं तो बहुत छोटा था. पर उस समय पांच छह डॉक्टरोंके सामने उसने अपनी नाड़ी बंद कर दी. वहां तक योगके द्वारा उसने अपनी स्वतः चलित क्रियाओंको नियंत्रणमें कर रखा था. बहुतसे योगी जमीनके अंदर समाधि लेते हैं और श्वास लिए बिना जी सकते हैं. यह सब अभ्याससे होता है. जो क्रिया स्वतः हो रही है वह आपके नियंत्रणमें योगके द्वारा आ सकती है. यदि आप अपनी इन क्रियाओंको अपने नियंत्रणमें ले आयेंगे तो ही आप एकादश इन्द्रियोंकी जो स्वाभाविक वृत्ति है, उसपर नियंत्रण ला पायेंगे और उन्हें आसुरी वृत्तियोंके साथ लड़नेको तैयार कर पायेंगे. यह मूल उद्देश्य था योगका. पर अपनी आसुरी-वृत्ति इतनी प्रबल है कि योगको भी पांच सितारा होटल्में ले गयी. वह तो केवल अपनी कोई लौकिक प्रवृत्तिको शांत करनेके लिए

ही ऐसा किया जा रहा है. योगी भी अपनी इस विद्याका उपयोग पैसा कमानेके लिए कर रहे हैं. आज वह मूल उद्देश्य कहीं खो गया है.

जब यह सिद्धि आपको हो जायेगी तो आपको समझ आयेगा कि जो आपको चाहिये वही आपको नहीं करना है अपितु जो आपको करना चाहिये वह आपका कर्तव्य है, वही आपको करना है. जो मुझे अच्छा लगता है, इससे मैं नियंत्रित नहीं हो रहा हूं. जो मुझे करना चाहिये, चाहे वह मुझे अच्छा नहीं लगता, उसको नियंत्रित कर रहा हूं. कोई व्यक्ति यदि अपने चाहनेवालेको जला रहा है, तो ऐसा नहीं है कि वह उसे चाहता नहीं है. शायद वह उसे बहुत अधिक चाहता है. नहीं चाहता तो जलाता ही क्यों? पर उसकी वृत्तिपर उसका नियंत्रण नहीं है, इसीलिए वह जला रहा है. सुननेकी क्रिया आपको नियंत्रित कर रही है अथवा आपको जो सुनना है वह सुन रहे हो. ध्यान होनेकी क्रिया आपको नियंत्रित कर रही है कि आप उसको नियंत्रित कर रहे हो? सारी समस्या यह है. इस समस्याके समाधानके लिए ही योग है. इसलिए महाप्रभुजी कह रहे हैं कि यदि आप आसन्य-योग करो मानें प्राणायाम इत्यादि करो तो आपको अपनी स्वाभाविक वृत्तियोंपर नियंत्रण आयेगा और अंततः आपका मन भी आपके नियंत्रणमें आ जायेगा. फिर आप अपनी आसुरी वृत्तियोंको भी दैवी प्रवृत्तिमें परिवर्तित कर पाओगे. **तत्र ऋषीणां बहुजन्माभ्यासाद् इन्द्रादिदेवानां च देवरूपाण्येव इन्द्रियाणि भवन्ति.** ऋषि और देवताओं की जो इन्द्रियाँ हैं उनमें दैविक प्रवृत्ति होती है. **ये वा दैव्यां सम्पदि जाताः, तेषामपि देवरूपाणि भवन्ति, आसुराण्यपि भवन्ति.** एक दैवी और एक आसुरी, दो प्रकारकी सृष्टि है. भगवान् गीतामें कहते हैं कि **"दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धाय आसुरी मता"** (भग.गीता १६।५) ऐसा नहीं मान लेना चाहिये कि जो दैवी सृष्टिमें पैदा हुए हैं, उनकी इन्द्रियोंकी वृत्ति दैवी ही होगी.

उनकी प्रवृत्ति भी आसुरी हो सकती है और आसुरीमें पैदा हुए उनकी प्रवृत्ति दैवी भी हो सकती है क्योंकि जीवका दैवी और आसुरी होना और इन्द्रियोंकी दैवी और आसुरी प्रवृत्ति होना, ये दोनों वस्तु अलग हैं. इनका आपसमें एक-दूसरेपर प्रभाव अवश्य पड़ता है, पर जब-तक मनुष्य पुरुषार्थ न करे तब-तक किसका नियंत्रण किसपर होगा, वह कह पाना कठिन है. इन्द्रियोंका नियंत्रण आत्मापर अथवा आत्माका नियंत्रण इन्द्रियोंपर, यह तो समस्या रहेगी ही. आत्माका नियंत्रण इन्द्रियोंपर हो तब ही बात बनेगी. **एकस्मिन्नेव गोलके उभयमपि तिष्ठति.** एक ही 'गोलक' मानें आंखके डोलेमें दैवी वृत्ति भी है और आसुरी भी. **यानि निषिद्धाद् विचिकित्सन्ते,** अब जो तुम्हें मना किया गया हो उसमें यदि तुम्हें विचिकित्सा होती हो कि ऐसा क्यों करना अथवा ऐसी सोच कि कोई अभी तो देख नहीं रहा है तो ऐसा क्यों नहीं कर लिया जाये! यह सब आसुरी प्रवृत्तिके प्रबल होनेके लक्षण हैं. **यथा अमेध्यं दृष्ट्वा तथा कामिन्यामपि दृष्टायाम्.** कोई अपवित्र वस्तु है, उसे देखनेकी मनाई है तो अवश्य उसे देखनेका मन तो होता ही है.

कर्णाटकके एक बहुत बड़े कम्युनिस्ट् थे. उनकी आत्मकथा मैंने पढ़ी थी. उनके माँ-बाप शिवजीके भक्त थे. वे हमेशा उसे यह ही कहते थे कि "शिवजीके सामने ऐसे नहीं जाना चाहिये, यह नहीं करना चाहिये, वह नहीं करना चाहिये." यह सब सुन कर उनको लगता था कि एक बार शिवजीपर पेशाब करके देखना चाहिये कि होता क्या है! और उसने ऐसा किया. यह प्रवृत्ति आसुरी है. यदि माँ-बाप मना कर रहे हैं तो नहीं करते तो हो क्या जाता! कुछ भी नहीं. पर उन्होंने अपनी आसुरी प्रवृत्तिके कारण ऐसा सोचा कि उनके पेशाब करनेसे कोई फरक नहीं पड़ा तो इससे सिद्ध होता है कि भगवान् नहीं है. भागवत उसमें अलग दृष्टिकोण अपनाती है. वह कहती है कि जो माँके गर्भमें बालक होता है,

वह माँको कितनी लात मारता है! इस लातको माँ किस प्रकार लेती है कि बालक जीवित है, स्वस्थ है. इस लात मारनेका माँ बुरा नहीं मानती. भागवत कहती है कि **''किम् अस्ति न अस्ति व्यपदेशभूषितं तव अस्ति कुक्षेः कियदपि अनन्तः''** (भाग.पुरा.१०।१४।१२) यह सारा जगत तेरे गर्भमें है. यदि इसमें तुझे कोई लात मारता हो तो तुझे इससे क्या फरक पड़ेगा! पूरा जगत् जब भगवान्के गर्भमें है तो तुम उसे अस्वीकारनेकी लात मारो अथवा स्वीकारकी भक्ति करो, उससे उसे कोई फरक नहीं पड़ता. जैसे बालक माँकी गोदमें यदि पेशाब कर दे तो क्या माँको फरक पड़ेगा? पर दूसरेकी गोदीमें करे तो फरक पड़ता है. इस तरह **''किम् अस्ति न अस्ति''** व्यपदेशसे भगवान्को कोई फरक नहीं पड़ता. आपको पड़ सकता है. हमारी वृत्ति आसुरी है अथवा दैवी, इस बातसे फरक पड़ता है. मुद्दा यह नहीं है कि उसे फरक पड़ रहा है कि नहीं. मुद्दा यह है कि आपकी वृत्ति कैसी है. जैसे बापकी बीबी कहो अथवा माँ कहो, बातमें कोई भेद नहीं है. पर जब आप बापकी बीबी कह रहे हैं तो आपके मनके भावमें तो फरक पड़ ही गया है. सत्य तो दोनों ही बात हैं, पर अपने मनका भाव दोनोंमें अलग है. इसी प्रकार भगवान्को कोई फरक नहीं पड़ता. उसके लिए तो दोनों ही सच्चे हैं, पर आपके भावमें भेद आ रहा है.

**यानि पुनः निषिद्धे लौकिके च रज्यन्ते तानि बलाद् विहिते प्रवर्तमानान्यपि न परितुष्टानि भवन्तीति आसुराणि.** और जो निषिद्ध हो वही करनेमें यदि आपका स्वाभाविक आकर्षण है तो यदि बलसे आप दैवी काम करोगे तो आपको संतोष ही नहीं होगा. आप देख ही सकते हो कि बागमें यदि फूल खिला हो तो आसुरी वृत्तिवाला उसे तोड़े बिना रह ही नहीं सकता. अरे! उसे वहां रहने दो और देखनेका आनंद लो. पर नहीं, अच्छा है तो तोड़ो. अजंताकी गुफा जिसको देख कर ह्युएनसांग लिखता है कि ''जब

मैंने उसे देखा तो मेरी हिम्मत उसके अंदर घुसनेकी नहीं हुयी क्योंकि मुझे लगा कि यहां जैसे हीरे मोती जवाहरात जड़े हुए हैं.'' वहां ऐसा कुछ नहीं था. केवल इतने सुंदर रंग किये हुए थे कि वह ही रत्नों जैसे दिखते थे. यह बात सही है कि पहले रंग रसायनोंसे न बन कर कीमती पथ्थरोंको घिस कर ही बनाये जाते थे. उसका प्रभाव भी ऐसा ही पड़ता था कि जैसे रत्न ही हो. यह पूरी गुफा लगभग छह-सौ वर्ष बंद रही. वहां जानवर ही रहे पर वह बिगड़ी नहीं. आजसे डेढ़सौ वर्ष पहले अंग्रेजोंने यह गुफा खोली और मनुष्योंने घुस कर सब बर्बाद कर दिया. चक्कूसे छील-छील कर उसका प्लास्टर् उखाड़ कर ले गये. अरे! अच्छी वस्तु है तो उसे वहां ही रहने देना चाहिये कि घर ले जाना चाहिये! अब यह दैवी वृत्ति है कि आसुरी है? आपको अच्छी लगी, यह तो बहुत अच्छी बात है पर उसे उखाड़ कर अपने घर ले जाना, क्या यह अच्छी बात है? पूरी गुफाका सौंदर्य समाप्त कर दिया. आज वहां कुछ भी नहीं बचा है. ताजमहलका भी यही हाल है. वहां सब अपनी प्रेमिकाका नाम लिख देते हैं. यह सब आसुरी वृत्ति है. **तानि बलाद् विहिते प्रवर्तमानान्यपि न परितुष्टानि भवन्तीति आसुराणि. तत्र भक्तिः देवैरेव भवति, न आसुरैरिति 'देव'पदेन करणानि निर्मितानि.** इस प्रकारकी आसुरी वृत्तिसे भगवान्में प्रेम हो सकता है पर भक्ति नहीं हो सकती. प्रेम और भक्ति में यही भेद है. प्रेम आसुरी इन्द्रियसे भी होता है. आसुरी इन्द्रियसे यदि प्रेम हो तो वह दैवी इन्द्रियसे तीव्र भी हो सकता है. वह मरने-मारनेपर भी उतारु हो जाता है. पर क्योंकि वह इतना प्रबल है, इस कारण वह भक्ति है ऐसी भ्रांति हमको नहीं होनी चाहिये. क्योंकि भक्ति तो केवल दैवी इन्द्रियोंसे ही हो सकती है. यह कपिलदेवजीका सिद्धांत है.

कपिलदेवजीकी भक्तिकी परिभाषा यदि पढ़ें तो हमको तुरंत

समझमें आ जाये कि आज हम गोस्वामी जो कह रहे हैं कि ''हम हवेली न चलायें तो वैष्णवोंको सेवाका ज्ञान किस प्रकार होगा.'' तो यह बताओ कि आप सेवा भक्तिके लिए कर रहे हो कि वैष्णवोंको ज्ञान देनेके लिए. मान लें कि आप वैष्णवोंके लिए ही हवेली चला रहे हो तो वैष्णवोंकी सेवा तो अच्छी प्रकारसे करो. उन्हें तो झापट मारा जाता है. यह तो कोई अंदर भरी हुयी ऐसी आसुरी वृत्ति है कि वैष्णव अपने घर सेवा करता न हो जाये जिससे कि हमारी आमदनी बंद हो जाये. यह भगवान्‌की भक्ति तो नहीं ही है. आप किसी भी मनोरथमें जाओ तो गोस्वामियोंकी दृष्टि ठाकुरजीको पंखा करते समय भी भीड़पर ही होती है. आपके नौकरकी दृष्टि यदि आपको चाय देते समय कहीं और हो तो क्या आपको अच्छा लगेगा? नहीं अच्छा लगेगा. ठाकुरजीको पंखा करते समय यदि आप भीड़को देख रहे हैं बात तो साफ हो गयी कि आप ठाकुरजीको पंखा आसुरी वृत्तिसे कर रहे हो. हम केवल भक्तिकी परिभाषाको ही मापदंड बना कर देखें तो यह साफ हो जाता है कि जो हवेलियोंमें चल रहा है वह भक्ति नहीं है. महाप्रभुजी स्पष्ट कह रहे हैं **तत्र भक्तिः देवैरेव भवति, न आसुरैरिति.**

अब आगे कहते हैं **तेषां परिज्ञानार्थं लक्षणम् आह गुणलिङ्गानाम् इति. गुणाः रूपादयः, तैः लिङ्ग्यन्ते, गुणाः लिङ्गानि येषाम् इति.** दैवीके परिज्ञानका लक्षण क्या होगा? कौनसी आपकी वृत्ति दैवी है और कौनसी आसुरी, इसको कैसे पहचाना जाये? इसके उत्तरमें कहते हैं कि यह इन्द्रियोंको देख कर तो पता नहीं चलेगा. पर आंखके भाव, कानके सुननेकी रुचि, बात कहनेकी रुचि इत्यादि बातोंसे यह पता चल सकता है. 'लिंग' मानें ''लिनम् गमयति इति लिङ्ग'' जो छुपा हुआ है उसे प्रकट करे उसका नाम लिंग. जैसे धुएंको अग्निका लिंग माना जाता है क्योंकि अग्नि नहीं दिखायी दे रही है पर धुआं है तो अग्निका आभास होता है इसलिए. इसी प्रकार

इन्द्रियोंका लिंग गुण है. इन्द्रिय आसुरी गुण प्रकट करती हो तो आसुर है और दैवी गुण प्रकट करती हो तो दैवी है. अपने अंदर दोनों हैं. हम दैवी जीव हों अथवा आसुरी, वृत्ति तो हममें दोनों ही प्रकारकी होती हैं.

फ्रॉइड् इसको इस प्रकारसे कहता है कि अपने भीतर एक ईड् दूसरी ईगो और तीसरी सुपर्-ईगो होती है. 'ईड्' मानें जो भी आपको अच्छा लग रहा है उसे उठा लो, जो खानेका मन कर रहा है वह खा जाओ. सुपर्-ईगोका रोल् यह है कि उसके द्वारा हम सोचते हैं कि समाज इसको खाने लायक मानता है, इसको नहीं. समाज इसको अच्छा मानता है, इसको नहीं. जिसकी अनुमति समाज नहीं देता, वह काम मुझे नहीं करना चाहिये. इस प्रकार हमारे अंदर ईड् और सुपर्-ईगो का निरंतर द्वंद्व चलता रहता है. इसमें निर्णय लेनेका अधिकार हमारे ईगोको होता है. इस बातको मैं आपको एक रेखाचित्रके द्वारा समझा देता हुं जिससे यह बात बिल्कुल साफ हो जायेगी.

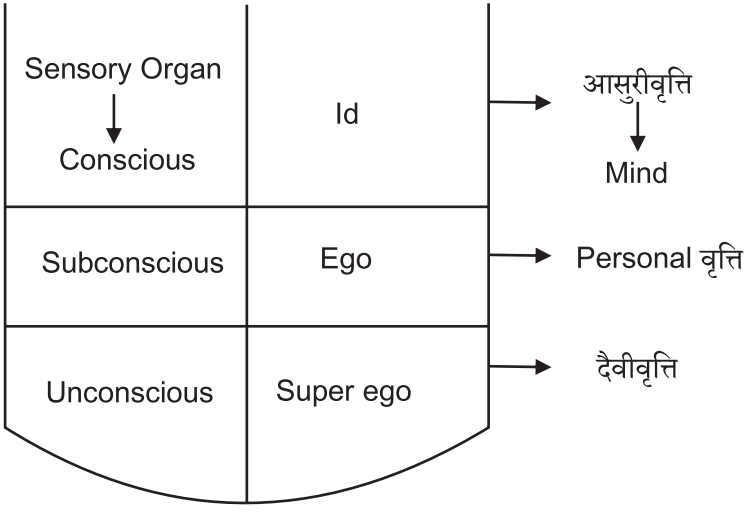

फ्रॉइड् मनका स्ट्रक्चर् कुछ इस प्रकार बताता है. ईड् ईगो और सुपर्-ईगो. कॉन्शियस्, सब्-कॉन्शियस् और अन्-कॉन्शियस्. सबसे पहले विषयका सामना अपनी इन्द्रियोंसे होता है. इन्द्रिय उस जानकारीको कॉन्शियसनेस्में भेजती हैं. कॉन्शियसनेस् उसको ईड्के पास भेजती है, जो कहती है कि अच्छा लगता है अथवा अच्छा नहीं लगता. जैसे सोनेका एक सिक्का राहमें पड़ा है तो ईड् कहेगी कि ''उठा लेना चाहिये.'' सुपर्-ईगो कहेगी कि ''कोई देखेगा तो दंड देगा.'' अब ईगो कहेगी कि ''देखो, कोई देख तो नहीं रहा है तो उठानेमें क्या समस्या है? इसलिए उठा लो.'' ईड् लगभग कॉन्शियस् लेवल्पर काम करती है और तत्कालीन इच्छाओंसे बनती है. सुपर्-ईगो हम जिस समाजमें रह रहे हैं, वहांके नियम बनानेवालोंके वातावरणमें रहनेसे बनता है. यह सारी बातें बचपनसे हमारे मस्तिष्कमें धीरे-धीरे अपना घर बनाती हैं और अंतमें सुपर-ईगोके रूपमें निखरती हैं. ईगो इन सबकी व्यवस्था करता है, सबको मॅनेज् करता है. ईड्का लॅवल् इन सबसे नीचा इस अर्थमें है क्योंकि वह कॉन्शियस् नहीं है कि क्यों मुझे सोना अच्छा लगता है. मैं जब कहता हुं कि ''मुझे सोना नहीं लेना चाहिये.'' तो इस अर्थमें यह ऊपर है एक आउटलॅट् देनेके लिए. पर इनलॅट्में तो ईड् ही ऊपर होती है. आउटलॅट् देनेमें तो ईगो ही कॉन्शियस् होती है. उस समय ईड् और सुपर्-ईगो, अन्-कॉन्शियस् और सब्-कॉन्शियस् लॅवल्पर चली जाती हैं. क्योंकि कोई चीज जब आपके कॉन्शियस् लेवल्पर आती है तो सबसे पहले ईड्के लेवल्पर आप यही तो विचार करेंगे कि वह वस्तु आपको पसंद आ रही है या नहीं? उसी समय वह वस्तु आपके सब्-कॉन्शियस् माइन्ड्से ले कर अन्-कॉन्शियस् माइन्ड् तक यात्रा करती है. यात्राके दौरान सुपर-ईगो बीचमें आती है और कहती है कि ''ऐसा हमें नहीं करना चाहिये.'' अब कॉन्शियस् लॅवल्पर इस द्वंद्वको ईगो मॅनेज् करेगा. इस प्रकार आउटलेट् देनेमें तो ईगो ही अपने कॉन्शियस् लॅवल्पर आ कर निर्णय लेती है. फ्रॉइड् इसको इस प्रकार कहता है.

अब आप इसको इस प्रकार समझ सकते हैं कि ईड् आसुरी वृत्तिके समानांतर है. सुपर्-ईगो दैवी वृत्तिके समानांतर है और ईगो आपके निजी तात्कालिक जो निर्णय है, उसके समानांतर है. आप कौन हो यह आपको ईड्के लेवल्पर पता नहीं चलेगा और न ही सुपर-ईगोके लेवल्पर चलेगा. क्योंकि वह तो अंदरसे नियंत्रण करता है. उदाहरणके लिए आप यदि मच्छीमारोंकी बस्तीमें नहीं रहते हैं तो आपको मरी हुयी मछलीमेंसे दुर्गंध आयेगी. और यदि वहीं रहते हो तो उसीमेंसे सुगंध आयेगी और मुंहमें पानी भी आयेगा. आपको पता नहीं है कि ऐसा क्यों है. यह आपके सुपर-ईगोके कारण है. आपको पता है कि यह खानेकी वस्तु है तो आपको दुर्गंध भी आनी बंद हो जायेगी. यदि आपको यह पता है कि यह खानेकी वस्तु नहीं है तो आपको ऐसी दुर्गंध आयेगी कि उल्टी भी आ सकती है.

कहनेका अर्थ यह है कि निर्णय हमेशा अपनी ईगो लेती है. पर सबसे पहले सामने आते विषयके साथ संवाद ईड् करती है. आपके अंदर छुपी हुयी जो स्वाभाविक वृत्ति है, वह ईड्के साथ संवादमें रहती है. अपने यहांके शब्दोमें इसको कहना हो तो इसे पाशविक इच्छा कह सकते हैं. पशु जैसी इच्छा हर मनुष्यके भीतर होती ही है. इसी प्रकार मानुषी इच्छा भी हर व्यक्तिके भीतर होती है कि यह किया जा सकता है और यह नहीं. इसीलिए यहां कह रहे हैं (फ्रॉइड्की शब्दावलीमें) कि जिस व्यक्तिका ईड् इतना शक्तिशाली है कि वह सुपर्-ईगोका भी उल्लंघन करनेमें सक्षम हो तो ऐसे ईड्से भक्ति नहीं हो सकती. कपिलदेवजी इसको ईड् न कह कर 'आसुरी वृत्ति' कह रहे हैं. सुपर्-ईगोकी वृत्तिको 'दैवी वृत्ति' कह रहे हैं. आपकी जो निजी जागरूकता (सॅल्फ्-अवेयरनेस्) है, जो दोनोंके बीच संतुलन बनानेका काम करती है, उसे 'ईगो' कह रहे हैं. इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि दैवी और आसुरी

का जो मुद्दा है वह बहुत सूक्ष्म है.

**देवरूपाणाम् इन्द्रियाणाम् एतद् लक्षणं, तानि लय-विक्षेपशून्यानि. ततो विक्षेपाभावाद् न कार्येषु प्रवृत्त्या स्पष्टम् उपलभ्यन्ते** दैवी इन्द्रियका लय और विक्षेप दोनों ही नहीं होता है. आसुरी इन्द्रियोंमें यह दोनों होते हैं. 'विक्षेप' मानें जैसे नदीमें बाढ़ नहीं आयी तो समुद्रका पानी कम हो गया. और बाढ़ आयी तो समुद्रमें तूफान आ गया. यह है लय और विक्षेप. ऐसा होता नहीं है पर यह उदाहरणके लिए मैंने बताया है. आसुरी इन्द्रियमें लय-विक्षेप बहुत अधिक होता है पर दैवीमें ऐसा नहीं होता. आप कुछ भी चीज देखें तो आपकी इन्द्रिय 'ना' नहीं करेगी कि ''नहीं, यह तो हमें देखना ही नहीं है.'' और ऐसे हां भी नहीं करेगी कि बस उस वस्तुको देखते ही रह जायें. सात्त्विक इन्द्रियकी वृत्ति इस प्रकारकी होती है कि वह देखती है, सुनती है, बोलती है, स्पर्श करती है पर उससे विचलित नहीं होती. आसुरी इसके ठीक विपरीत होती है. वह विषयके संसर्गमें आते ही विचलित हो जाती है. जैसे आप देख सकते हैं कि विज्ञापनोंमें आपको ऐसी वस्तु दिखायी जाती है कि शॅम्पु-साबुन् लगानेसे आपका शारीरिक सौंदर्य बढ़ जायेगा. यह सब आपकी आसुरी वृत्तियोंको भड़कानेके लिए ही तो किया जाता है. विज्ञापनोंका मूल सिद्धांत है अपनी आसुरी वृत्तियोंको बढ़ावा देना. आसुरी वृत्तियोंसे या तो लय होगा मानें अत्यधिक नकारात्मक विचार आयेंगे अथवा 'विक्षेप' मानें अत्यधिक सकारात्मक विचार आयेंगे.

**ततो विक्षेपाभावाद् न कार्येषु प्रवृत्त्या स्पष्टम् उपलभ्यन्ते, नापि लयाभावाद् मूढानि पदार्थमपि न गृह्णन्ति इत्यपि किन्तु रूपमात्रं चक्षुः गृह्णाति पश्यति इति कृत्वा चक्षुः अस्ति इति ज्ञायते.** मैंने आपको पहले भी यह कहानी बतायी होगी कि मैं अपनी छोटी बेटी, जब वह चार-पांच सालकी थी तब एक अंग्रजी पिक्चर् दिखाने ले गया.

जिसमें वे लोग गहरे समुद्रमें जाते हैं और खानेके लिए कछुए पकड़ते हैं. वहां बैठे हुए उसने मुझसे पूछा "काका, ये कछुएको क्यों पकड़ रहे हैं?" मैंने कहा "खानेके लिए." बस यह सुनते उसने जोर-जोरसे रोना शुरु कर दिया और कहने लगी "मुझे ऐसी पिक्चर् नहीं देखनी." मुझे आधेमें ही घर वापस आना पड़ा. देखो, उसके विचारोंका ऐसा विक्षेप हुआ कि ये लोग कछुएको खा रहे हैं तो कहीं मुझे ही न खा जायें. उसने कभी स्वप्नमें भी नहीं सोचा था कि जानवरोंको लोग खा भी सकते हैं. यह बात अपने लिए अच्छी हो सकती है पर इन्द्रियोंकी वृत्तिके रूपमें यह 'आसुरी वृत्ति' कहलायेगी.

विवेकानन्दके बारेमें एक कथानक बहुत प्रसिद्ध है. वह जब पहली बार कॅरो गये तो वहां एक दिन बाजारमें घूमते हुए एक वैश्याने उन्हें इशारा करके घरके अंदर बुलाया. उन्हें पता नहीं था कि वह वैश्या है. अंदर जानेके बाद उन्हें पता चला कि वह तो वैश्या है. बस वह जोर-जोरसे रोने लगे. वैश्या भी अचंभित रह गयी. बोली "रोते क्यों हो? जिस कामके लिए आये हो उसे पूरा करो और जाओ." विवेकानन्दने रोते-रोते पूछा "माँ तू यह काम क्यों करती है?" यह सुन कर वह उनकी शिष्या हो गयी. वह उसे वैश्याके रूपमें पहचान पाये, उससे डरे नहीं और उसकी ओर आकर्षित भी नहीं हुए. देखो, यहां लय भी नहीं है और विक्षेप भी नहीं है, केवल उस वैश्याके प्रति दयाका भाव है. यही बात महाप्रभुजी समझा रहे हैं कि दैवी इन्द्रियोंमें लय अथवा विक्षेप नहीं होता है. वह समुद्रकी तरह एक समान रहती हैं. इस प्रकार सांख्यके अनुसार भक्ति किस प्रकारकी होती है, उसका वर्णन कपिलदेवजी यहां कर रहे हैं. अपनी एकादश इन्द्रिय अथवा वृत्ति जब लय-विक्षेपसे रहित हो कर भगवान्की सात्त्विक मूर्तिकी ओर मुड़ती हैं अथवा आकर्षित होती हैं तब वह भक्ति होनेके लक्षण है. भगवान्की भी

तीनों प्रकारकी मूर्ति हो सकती हैं, सात्त्विक राजस तामस. यदि भगवान्‌की तामस मूर्तिमें आपकी इन्द्रिय आकर्षित हो रही हैं तो आपकी इन्द्रियोंमें तामसता होगी. तभी तो आप उसकी तामस मूर्तिकी ओर आकर्षित हो रहे हो. यही बात राजसताके लिए भी है. जहां-तक भक्तिका प्रश्न है, सांख्य भगवान्‌के सात्त्विकरूपकी ही बात करता है. विवेकानन्द भी तो मानते थे कि सभी कुछ ब्रह्म है तो वैश्याको ब्रह्मका रूप मान कर क्यों नहीं उसके भक्त हो गये. कहीं-न-कहीं उन्हें यह लगा कि यह वैश्या ब्रह्मका रूप तो है पर मनको चलायमान करनेवाला राजस रूप है. मनको स्थिर रखनेवाला रूप नहीं है. भगवान्‌के तो सभी रूप हैं पर मन आकर्षित होना चाहिये सत्त्वरूपकी ओर ही. भगवान्‌का तामसरूप भी है. जिसकी तामस वृत्ति होगी उसे भगवान्‌का तामसरूप ही अच्छा लगेगा.

भगवान् गीतामें कहते हैं कि **"प्रेतान् भूतगणांश्च अन्ये यजन्ते तामसा जनाः"** (भग.गीता.१७।४) तामस लोगोंको भगवान्‌की भक्ति करनेके लिए कहो तो उन्हें आनंद नहीं आयेगा पर भूतपिशाचकी भक्ति करनेको कहो तो उन्हें आनंद आ जाता है. क्योंकि उनकी वृत्ति तामस है. एक बात समझो कि जितने लोग भी नाथद्वारामें उल्टा स्वस्तिक करके आते हैं उन्हें श्री अच्छी लगती है कि नाथ? श्री ही अच्छी लगती है. भगवान्‌में तो श्री भी है और वह नाथ भी है. पर उन्हें श्रीका नाथ अच्छा लगता है कि नाथकी श्री? वे भक्त तो हैं, कदाचित् हमसे भी अच्छे हो सकते हैं. पर भक्ति उनकी राजस वृत्ति लिए हुए है. इसी प्रकार हम श्रीनाथजीकी भक्ति यदि किसीको मरवानेके लिए कर रहे हैं अथवा किसीका धंधा चौपट करवानेके लिए कर रहे हैं तो वह तामस भक्ति हो गयी. श्रीनाथजी वही है पर उनका रूप बदल जाता है और उनके प्रति हमारे भाव बदल जाते हैं. अपनी जननीको यदि बापकी औरत कह रहे हैं तो वह तामस वृत्ति हो गयी और यदि माँ कह रहे हैं तो

सात्त्विक वृत्ति हो गयी. स्त्री वही है पर हमारा उसको देखनेका नज़रिया बदल गया है. इन्द्रियोंकी कौनसी वृत्ति आपके भीतर शक्तिशाली है, आसुरी अथवा दैवी? आपने आसनकी उपासनासे उन्हें नियंत्रित किया है और आप उनके नियंत्रणमें नहीं हैं बल्कि आप उन्हें नियंत्रित कर रहे हैं, तो वह सात्त्विक हो जायेंगी. गुणलिंगसे ही यह निश्चय होगा. वह सात्त्विक है तो ही आप भक्ति कर पायेंगे, अथवा प्रेम कर सकते हैं पर भक्ति नहीं.

**प्रश्न : लय-विक्षेपशून्यानि. ततो विक्षेपाभावाद् न कार्येषु प्रवृत्त्या स्पष्टम्.** इन्द्रियोंके लय और विक्षेपके बारेमें फिरसे बतायें.

**उत्तर :** हम किसी ऐसे क्षेत्रमेंसे गुजर रहे हैं कि जहां अंधेरा हो. वहां कहीं दूरसे किसी लाइट्का प्रकाश यदि हमें दिखायी दे तो हमारी दृष्टि बार-बार न चाहते हुए भी उसपर जायेगी. अपनी आंख विक्षेपके मोड्में आ जाती है. इन्द्रियमें विक्षेप पैदा करनेके कई सारे मॉडल् होते हैं. उसमेंसे एक मॉडल् है कॉन्ट्रास्ट्का. उदाहरणके लिए, आप जिसे देख रहे हैं उसके कॉन्ट्रास्ट्में कुछ आपके सामने आये तो आपकी आंख पहले उधर देखेगी. आप जो देखना चाह रहे हैं, उस परसे आंख हट जायेगी. मानो कि आप शहरमें घूम रहे हैं और सभी लोगोंके बीचमें आपको कोई विचित्र व्यक्ति दीख जाये तो न चाहते हुए भी आपकी दृष्टि बार-बार उसकी ओर ही जायेगी. मुम्बईमें तो शहरमें बहुत कुत्ते घूमते हैं, इसलिए हमारा ध्यान उस ओर नहीं जाता. पर समझो कि यदि आपको भैंस घूमती दीखे तो निश्चित ही आपका ध्यान उस ओर जायेगा. इन्द्रियोंका यही सिद्धांत है कि कहीं भी उन्हें कॉन्ट्रास्ट् दीखता है तो पहले उस ओर आकर्षित होती हैं.

दूसरा सिद्धांत है कि वह स्थिरकी बजाय अस्थिर वस्तुकी ओर जल्दी आकर्षित हो जाती हैं. आप किसी भी जानवरके पास

खड़े हो तो उसे कुछ नहीं होता. पर आप जरासे भी हिले तो तुरंत वह चौकन्ना हो जाता है. मनोविज्ञानने इस विषयपर बहुत काम किया है. उन्होंने ऐसे कई सारे मॉडल् ढूंढे हैं कि जिनसे पता चलता है कि कौन-कौनसी चीजोंसे हमारी इन्द्रियोंमें विक्षेप आता है. और किसमें अधिक विक्षेप आता है, वह बताता हुं. जैसे हर प्रदेशमें, हर सोसाइटीमें बोलनेकी एक पिच् होती है. उस प्रदेशके सामान्य लोग लगभग उसी पिच्पर बोलते हैं. उस पिच्से नीचे कोई बोलता हो तो पहले उसे सुननेकी इच्छा हमारी हो जाती है. अथवा हमारी पिच्से ऊपरकी पिच्पर कोई बोलता हो तो हमें उसे सुननेकी इच्छा हो जाती है. हमारी पिच्पर यदि कोई बोलता हो तो हमें उसे सुननेकी इच्छा ही नहीं होती. इस प्रकार हमारी इन्द्रिय इस सिद्धांतके ऊपर चलती हैं. या तो इन्द्रियमें विक्षेप होता है और यदि इन्द्रियोंको यह लगे कि किसी बातमें उनको मजा नहीं आ रही है तो वह लीन हो जाती हैं. जैसे कोई तेज रोशनी आये तो आंख बंद हो जाती है, तेज आवाज़ आये तो कान बंद करनेकी इच्छा हो जाती है, दुर्गंध आये तो नाक बंद करनेकी इच्छा हो जाती है. जैसे किराने बाजारमें हम जायें, तो वहां जो रहते हैं उन्हें कोई फर्क नहीं पड़ता, पर हमें छींक आने लग जाती है. इस तरह हमारी इन्द्रियोंका सिद्धांत इसी प्रकारका है. इस तरह इन्द्रियोंके विषयके बहुत सारे सिद्धांत मनोविज्ञानने खोजे हैं. इसी प्रकार वर्टिकल् लाइन् और हॉरिजोन्टल् लाइन्, चाहे वह एक नापकी ही हो, वर्टिकल् लाइन् बड़ी लगेगी. यह सब आंखके काम करनेके सिद्धांत हैं. आप कहेंगे कि यह इल्युजन् है. है तो सही, पर है वह आंखके इस सिद्धांतपर काम करनेके कारण ही. आपके घर कोई रोज आता हो तो आपको उससे इतनी बात करनेकी इच्छा नहीं होगी जितनी कि वह कभी-कभार आये तब होगी. यह सब ऐसे सिद्धांत हैं जिनके कारण हमारी इन्द्रियोंमें विक्षेप होते हैं.

जहां विक्षेप नहीं होता वहां लय हो जाता है. जो विषय आपको रुचिकर नहीं है, वहां इन्द्रियोंका लय हो जाता है मानें वे बंद हो जाती हैं. जैसे कहीं दुर्गंध आ रही है तो हम नाक बंद कर लेते हैं, कहीं ऐसी चीज जो रुचिकर नहीं है, वह दिखे तो आंख अपने आप बंद हो जाती है जैसे तेज रोशनी. इस तरह लय और विक्षेप इन्द्रियोंका स्वभाव है और इस स्वभावके कारण; जैसे आप किसी छोटे बालकको गाड़ीमें ले जाओ तो वह सो जाता है. क्योंकि उसकी आंख इतनी तेज बदलते सीन्को देखनेकी आदी नहीं है. बहुतसे बड़े लोगोंको भी नींद आ जाती है. कारण वही है और इस कारण वे लय मोड्में चली जाती हैं. यह समस्या केवल आंखके ही साथ है, ऐसा नहीं हैं. सभी इन्द्रियाँ इसी प्रकार व्यवहार करती हैं. लय अथवा विक्षेप इनकी भाषा है. दोनों ही दो छोर हैं. इनके बीचकी एक और अवस्था है जो विशुद्ध ज्ञानकी है. वे जब शांत अवस्थामें होती हैं, तभी इसका भास होता है. नहीं तो या तो लय हो जायेंगी या उनमें विक्षेप आ जायेगा. सच्चा ज्ञान, विक्षिप्त इन्द्रिय नहीं दे सकती और न लयावस्थाकी इन्द्रिय दे सकती है. क्योंकि विक्षिप्त अवस्थामें तो विक्षेपका अपना कुछ रोल् होता है.

मैं सभीकी बात नहीं कर रहा हूं पर साधारणतया व्यक्तिको या तो मीठा या खट्टा या नमकीन स्वाद अच्छा लगता है. बाकी सब्जीका स्वाद सभीको अच्छा नहीं लगता. कड़वा-तीखा स्वाद तो किसी-किसीको ही अच्छा लगता है. क्योंकि पहले तीन स्वाद विक्षेपक स्वाद हैं. इस प्रकार हमारी इन्द्रियाँ विक्षेप और लय में ही लीन रहती हैं. इस कारण इन्द्रिय सच्ची सूचना नहीं देती हैं. क्योंकि स्वयं जो विक्षिप्त हैं वे सत्यका ज्ञान कैसे करा सकती हैं! 'विक्षेप'का अर्थ है विषयकी ओर चले जाना मानें आपके नियंत्रणमें नहीं रह जाना. इसी विक्षेपके संदर्भमें वह कह रहे हैं कि **तानि लय-विक्षेपशून्यानि**

**ततो विक्षेपाभावाद् न कार्येषु प्रवृत्त्या स्पष्टम् उपलभ्यन्ते** इन आसुरी इन्द्रियोंका स्वभाव या तो लय होनेका है या विक्षेपका. आसुरी इन्द्रिय कभी भी लय-विक्षेपसे शून्य नहीं हो सकती. **ततो विक्षेपाभावाद् न कार्येषु प्रवृत्त्या स्पष्टम् उपलभ्यन्ते, नापि लयाभावाद् मूढानि पदार्थमपि न गृह्णन्ति इत्यपि. किन्तु रूपमात्रं चक्षुः गृह्णाति पश्यति इति कृत्वा चक्षुः अस्ति इति ज्ञायते.** हमें अपनी इन्द्रियोंका अहसास ही तब होता है कि जब वे किसी विक्षेप अथवा लय के कारण उत्तेजित हो जाती हैं. जब ये दोनों स्थिति नहीं होती तो हमें इन्द्रियोंका अहसास भी नहीं होता. उदाहरणके लिए आप पढ़नेके लिए यहां बैठे हैं. जिस धरातलपर आप बैठे हैं उसके स्पर्शका अनुभव आपको हो रहा है कि नहीं? मैं कह रहा हुं तब आपको इस बातका अहसास हो रहा है, नहीं तो आपको पता भी नहीं था. यह स्पर्श आपको विक्षेप पैदा नहीं कर रहा है. पर मानों कि कोई कीड़ा आपको आ कर काटे तो तुरंत आपका ध्यान उस ओर चला जायेगा. मतलब आपकी इन्द्रियोंमें विक्षेप आ गया. इस बातसे हम समझ सकते हैं कि जहां लय अथवा विक्षेप नहीं है वहां हमें इन्द्रियोंका ध्यान नहीं आता है, जबकि इन्द्रिय तो अपना काम कर ही रही है. जैसे नाक यहांके वातावरणकी सारी गंध ले रही है पर जब-तक कोई तीव्र गंध आपका ध्यान अपनी ओर न खींचे, तब-तक नाक महसूस नहीं करेगा. अभी आपको केवल मेरी आवाज़ सुनायी दे रही है. पर हम सब यदि शांत हो जायें तो आपको ट्राफिक्की आवाज़ आनी शुरू हो जायेगी. हम आपसमें बोलते हों तो ट्राफिक्की आवाज़ आपको आयेगी ही नहीं क्योंकि कोई विक्षेप पैदा नहीं कर रहा है. कान है कि नहीं हमें कब पता चलता है? जब या तो कोई कानको विक्षिप्त करता हो अथवा कोई लीन करता हो. यह दोनों न हों तो इन्द्रियोंमें जागरूकता होगी. हम जब रिटायर् हो जाते हैं तो यही इन्द्रिय आरामके मूड्में चली जाती हैं. यह लय है. लयमें इन्द्रिय अपने बारेमें अधिक जागरूक हो जाती है.

विक्षेपमें विषयके बारेमें अधिक जागरूक हो जाती है.

और लय-विक्षेप-शून्य इन्द्रिय स्वस्थ होती है इसीलिए अपने बारेमें अथवा विषयके बारेमें वह जागरूक नहीं होती है. इन्द्रियोंने यही रूप अपना रखा है कि लयकी स्थितिमें वे इस मोड़में चली जाती हैं कि ''यह बात मैं सुन नहीं सकता, यह गंध मुझे नहीं सूंघनी है, यह स्वाद मुझे नहीं लेना है'' इत्यादि. इस स्थितिमें इन्द्रिय अपनी ओर मुड़ रही है. यही इन्द्रिय जब दूसरा पक्ष लेती है तो वह विक्षेपका होता है. वह विषयकी ओर मुड़ जाती है. इन दोनोंके बीचकी जो अवस्था है, जिसमें लय और विक्षेप दोनों नहीं हैं, ऐसी स्थितिमें हम इन्द्रियोंके प्रति जागरूक भी नहीं रह जाते. क्योंकि हमारा मन उसी इन्द्रियकी ओर ध्यान देता है कि जिस इन्द्रियमें या तो लय हो या विक्षेप हो. लय-विक्षेप हीन जो भी अपनी इन्द्रिय है उसके प्रति अपना मन भी जागरूक नहीं रह जाता. क्योंकि मन बना ही इसलिए है कि वह उसी इन्द्रियकी ओर खिंचता है जिस इन्द्रियमें कोई हरकत हो रही हो अथवा नहीं हो रही हो. यदि हरकत हो रही है तो सावधान हो जाओ. मन उस समय उस इन्द्रियकी ओर ध्यान दे कर उसे संतुष्ट करके अगली परिस्थितिकी ओर चला जाता है.

यह तो परमात्माके द्वारा हमें दी हुयी एक प्रकारकी सरवाइवल् किट् है. क्योंकि विक्षेप हो और उस ओर आपका ध्यान न जाये तो खतरा हो सकता है. और यदि हरकत नहीं है तो मन उस इन्द्रियको संकेत देता है कि मैं इस परिस्थितिमें कुछ नहीं कर सकता. यह भी हमारे अस्तित्वके लिए अत्यावश्यक है. क्योंकि यदि हमें कुछ ऐसा दर्द हो रहा है जिसको हम सहन ही नहीं कर सकते हैं तो हम परेशान हो जायेंगे. जैसे हम तेज झूलेपर बैठें तो हमारा सर भारी हो जाता है और हमें उल्टी जैसा महसूस होता है. यदि हम आंख मीच लें तो ऐसा कम होता है. इस

प्रकार मनकी क्रिया इसी प्रकारकी है कि वह उसी इन्द्रियकी ओर ध्यान देता है जो या तो लय-मोड़में हो अथवा विक्षेप-मोड़में हो. शांत स्थितिमें तो केवल देव इन्द्रियाँ हों तो ही वह उस ओर ध्यान देगी, अन्यथा नहीं. क्योंकि हमारी इन्द्रिय यही भाषा समझती हैं. हम दूसरी भाषाएं समझते हैं पर हमारी इन्द्रिय वह नहीं समझती. नित्य दिनकी क्रियामें तो लय और विक्षेप ही काममें आता है. लयविक्षेप-शून्य इन्द्रियमें हमारा ध्यान जाना एक अलग ही अनुभव है. यही अनुभव दैवी है, समस्या यह है. लय-विक्षेप होनेवाली इन्द्रिय आसुरी है. यह स्थिति एकदम घड़ीके पॅन्डुलम्की तरह है. लयसे छूटे तो विक्षेपमें जाती है और विक्षेपसे छूटे तो लयमें चली जाती है. बीचमें तो वह तभी स्थित रहेगी जब घड़ी बंद होगी. इन्द्रियोंका बीचकी स्थितिमें रहना अत्यधिक कठिन बात है. इसीलिए दैवी हार जाते हैं और आसुरी जीत जाते हैं. क्योंकि बीचकी स्थितिमें रहना कठिन है. इन्द्रियोंका स्वभाव ही ऐसा है कि उन्हें दो छोरपर ही रहना अच्छा लगता है. शांत रहना इन्हें अच्छा नहीं लगता.

**ततो विक्षेपाभावाद् न कार्येषु प्रवृत्त्या स्पष्टम् उपलभ्यन्ते** और यदि विक्षेप न हो तो कार्यमें प्रवृत्त होनेसे इन्द्रिय स्पष्ट उपलब्ध होती हैं अन्यथा इन्द्रिय उपलब्ध नहीं होती हैं. एक बात ध्यानसे समझो कि लय और विक्षेप में आपको केवल विषय ही उपलब्ध होता है, इन्द्रिय उपलब्ध नहीं होती है. क्योंकि लय और विक्षेप की स्थितिमें विषयके संदर्भमें आपका नकारात्मक रवैया अधिक शक्तिशाली होता है. इसलिए आपकी इन्द्रियकी अपेक्षा विषयके प्रति जागरूकता ही अधिक होती है. लय और विक्षेप से विहीन होनेपर ही आप अपनी इन्द्रियकी ओर ध्यान दे पाओगे कि यह मेरी इन्द्रिय है. नहीं तो होगा यह कि लयकी स्थितिमें आपका ध्यान विषयकी अपेक्षा वस्तुकी ओर ही अधिक रहेगा. विक्षेपमें भी स्थिति लगभग ऐसी ही रहती है. जिस समय कोई वस्तु दीख रही होती है उस

समय किसे अपनी आंखका खयाल आता है? जो दीख रहा है उसीका ध्यान रहता है. जब कुछ सुन रहे होते हैं तो किसे कानका खयाल आता है? जो सुना जा रहा है, उसीका ध्यान रहता है. जीभपर जब कोई स्वाद आता है तो किसे जीभका ध्यान रहता है? सबका ध्यान उस स्वादपर ही रहता है. यदि जीभका ध्यान रखना है तो वह तब होगा जब कोई स्वाद उसपर नहीं है. पर हम उसके भी आदी नहीं हैं. शुद्ध दृष्टिका ध्यान हमें तब ही होगा जब हमारी आंख किसी लय अथवा विक्षेप की स्थितिमें नहीं है. शुद्ध कानको हम तभी सुन सकते हैं जब हमें कुछ सुनायी न दे रहा हो. क्योंकि किसी प्रकारके लयमें कान नहीं सुना जा सकता है और न ही विक्षेपकी स्थितिमें कानका ध्यान रह सकता है. कानको यदि सुनना है तो वह लय-विक्षेपरहित होना चाहिये. पर समस्या यह है कि कानको सुननेकी हमारी आवश्यकता ही नहीं है. इसी प्रकार नाक आंख जीभ को सूंघने देखने स्वाद लेनेकी हमारी जरूरत ही नहीं है. पर यह भी सच है कि यदि हम उपवास करें तो हमें जीभका स्वाद पता चलता है. हम खाते रहें तो हमें वस्तुका ही स्वाद आता है, जीभका नहीं. इस तरह हम समझ सकते हैं कि लय-विक्षेपरहित इन्द्रियोंको ही अपना ध्यान आता है. लय-विक्षेपसहित इन्द्रियोंको विषयका भान होता है.

योगका प्रशिक्षण इन्द्रियोंको लय-विक्षेपरहित बनानेका है. जैसे हम वजन उठायें तो हमारा ध्यान वजनपर रहता है. पर योगमें हम वजन उठाते नहीं हैं, केवल खाली हाथसे भार उठानेका अभिनय करते हैं. ऐसी स्थितिमें हमें अपने हाथका ध्यान रहता है, वजनका नहीं. कराटेमें भी यही सिद्धांत काम करता है. उसमें आपका ध्यान आपके हाथके चलनेपर होता है बजाय किसीको मारनेके. अपनी इन्द्रियोंपर ध्यान होनेसे हमारी नसोंमें ताकत अधिक आती है बजाय माँस-पेशियोंके. वजन उठानेसे माँस-पेशियोंमें ताकत अधिक आती है.

अब यह हमें निर्णय लेना है कि हमें अपनी नसोंको अधिक शक्तिशाली बनाना है जो माँस-पेशियोंको नियंत्रित करती हैं कि माँस-पेशियोंको. जितना भी जिम जानेका व्यायाम है वह माँस-पेशियोंको शक्तिशाली बनाता है पर योगकी क्रिया नसोंमें ताकत बढ़ाती है. आप जब किसी वस्तुपर ध्यान दे रहे हो तो आपको उस वस्तुका ही ध्यान आयेगा पर यदि किसीपर ध्यान नहीं दे रहे हो तो आपका ध्यान अपनी इन्द्रियपर जायेगा. यह सिद्धांत है.

लय-विक्षेपरहित इन्द्रिय शुद्ध ज्ञानात्मिका होती है और लय-विक्षेपसहित इन्द्रिय विषयात्मिका होती हैं. संस्कृतमें इसे 'विषय' और 'विषयी' कहा जाता है. हिन्दीमें विषयीका अर्थ कुछ और ही हो जाता है जो कि नकारात्मक है. पर संस्कृतमें इसका अर्थ होता है, जिसका यह विषय है वह 'विषयी'. विषयीके सामने जो है वह विषय. जब विषयके कारण हमारी इन्द्रियोंमें लय अथवा विक्षेप होतां है, उस समय हमें विषयीका भान नहीं होता, विषयका ही भान होता है. विक्षेप-लय-शून्य इन्द्रियोंमें विषयका भान नहीं अपितु इन्द्रियोंका भान अधिक होता है. विषयीके बारेमें अपनी सभानता केवल विषयकी अनुपस्थितिमें ही हो सकती है. यदि विषय सामने है तो उसीका प्रभुत्व रहेगा, विषयीका नहीं. जैसे छोटे बालकको यदि खिलाना है तो माँ बच्चेकी नाक बंद करके उसके मुंहमें दूध चम्मचसे डालती है और बालकके पास उसको पीनेके अलावा कोई विकल्प रह नहीं जाता. उसी प्रकार विषयकी मौजूदगीमें हमारी इन्द्रियोंको विषयके स्वाद लेनेके अलावा कोई विकल्प नहीं रह जाता है. कोई भी विषय यदि सामने है तो हमारी इन्द्रियाँ बालक जैसी लाचार हो जाती हैं और वे विषयके साथ न चाहते हुए भी संलग्न हो जाती हैं. इसीलिए कह रहे हैं कि लय-विक्षेपरहित इन्द्रिय दैवी होती हैं और लय-विक्षेपसहित इन्द्रिय आसुरी होती हैं. आसुरीका अर्थ यह है.

**नापि लयाभावाद् मूढानि पदार्थमपि न गृह्णन्ति इत्यपि लय.** लय हो जाये तो मनुष्यमें मूढ़ता आ जाती है. फिर कोई विषय सामने हो भी तो वह उसे देखना बंद कर देता है. **किन्तु रूपमात्रं चक्षुः गृह्णाति पश्यति इति कृत्वा चक्षुः अस्ति इति ज्ञायते.** उसके बाद ही हमें अपनी आंखका भान ठीक प्रकारसे होता है कि रूप यदि होता तो मैं आंखसे उसे देख पाता, ध्वनि यदि होती तो मैं कानसे उसे सुन पाता, गंध यदि होती तो मैं नाकसे उसे सूंघ पाता. उस समय आपको अपनी इन्द्रियोंकी सभानता होती है. लय-विक्षेपकी स्थितिमें इन्द्रियोंकी सभानता न हो कर विषयकी सभानता ही रहती है.

**एवम् अन्यानि. तादृशानि कथं भवन्ति? इति आकाङ्क्षायाम् आह आनुश्रविककर्मणाम् इति.** होता यह है कि आपकी इन्द्रियाँ यदि आसुरी हैं तो उन्हें जो कर्म करने चाहिये, उनमें बहुत रुचि नहीं होती है. पर लय-विक्षेपरहित इन्द्रियोंमें कर्मकी अनिवार्यताका अथवा कर्तव्यताका भाव जाग्रत होता है. ऐसा होनेपर इन्द्रियाँ अपने आप लय-विक्षेपशून्य हो जाती हैं. जहां लय-विक्षेप होता है वहां कर्मकी अनिवार्यता अथवा कर्तव्यताका भाव नहीं जाग्रत होता है अपितु विषयमें लय अथवा विक्षेपका ही भाव जाग्रत होता है. इस अर्थमें आप जितने भी काम कर्तव्यदृष्टिसे करते हो उनमें इन्द्रिय लय-विक्षेपसे रहित ही होती हैं.

आपको एक मजेदार किस्सा सुनाता हुं तो शायद समझ आ जायेगा. कोई व्यक्ति बद्रीनाथ और केदारनाथ की यात्रापर एक टूर् ले कर गया. उसमें कुछ संन्यासी भी थे. संन्यासियोंने कहा कि "देखो, आज-कल तीर्थोंमें भी लड़कियाँ नये वेश धारण करके ही आती हैं. वह पुराना नियम तो रहा नहीं कि तीर्थोंमें केवल सात्त्विक वेशसे ही प्रवेश मिलेगा. वहां तो सभी तरहके कपड़े आज-कल

लोग पहनते हैं. आपसे अनुरोध है कि आप उस तरफ नहीं देखें. कोई भी लड़की यदि ऐसे वेशमें आपको दिखायी दे तो 'हरिॐ-हरिॐ' जप करना शुरू कर देना. यात्रा करते समय किसीको डकार आयी तो उसके मुंहसे हरिॐ निकला तो बाकी सब बोले ''कहां है हरिॐ? कहां है हरिॐ?'' अब देखो यह विक्षेपकी पराकाष्ठा हो गयी न!

**आकाङ्क्षायाम् आह आनुश्रविककर्मणाम् इति** आनुश्रविक कर्मोंसे मानें वेदके द्वारा निर्दिष्ट कर्म आपको करने चाहिये. इन्हें आनुश्रविक इसलिए कहते हैं क्योंकि यह कर्म आपको किस प्रकार समझाये गये हैं, यह समझो. सबसे पहले इन कर्मोंका अर्थ आपको नहीं बताया जाता बल्कि आपको उन्हें रटाया जाता है. यह वेदका ही प्रकार है, ऐसा नहीं है. अपने घरोंमें भी यही होता है. घरमें भी छोटे बालकको इसी प्रकार सिखाया जाता है कि ''कोई भी घरमें आये तो उसे सबसे पहले नमस्ते करो.'' अब बालकको क्या पता कि नमस्तेका अर्थ क्या होता है. जैसा सुनता है वैसा करता है. जब वह बड़ा होता है तब कहीं जा कर उसे उस शब्दका अर्थ समझ आता है. जितने भी कर्तव्यके उपदेश हैं वे इसी प्रकार दिये जाते हैं कि पहले हम उन्हें सुनते हैं फिर करते हैं और करते-करते उनका अर्थ बादमें पता चलता है. इसी प्रकार वेदके कर्मोंको पहले गुरुसे सुना जाता है जैसे ''**सत्यान् न प्रमदितव्यम्, धर्मान् न प्रमदितव्यम्, कुशलान् न प्रमदितव्यम्, भूत्यै न प्रमदितव्यम्, स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्**'' (तैत्ति.उप.१।११।१) यह वचन गुरु बोलता है. जब हम यह गुरुसे सीखते हैं तब हमें इसका अर्थ पता ही नहीं होता. केवल यह बोलना आ जाता है. बादमें जब इसका अर्थ समझाया जाता है तब समझमें आता है कि यह नहीं करना, वह नहीं करना. इस प्रकार सुननेके बाद ही जो पता चलता हो, अपने आप न पता चलता हो, वह 'अनुश्रव' है. बहुतसी

वस्तुओंका हमें देखने भरसे ज्ञान हो जाता है. कई वस्तुओंका ज्ञान हमें देखनेसे नहीं होता, सुननेसे होता है. जिसका ज्ञान सुननेसे होता हो वह 'अनुश्रव' कहलाता है. और जो बात अनुश्रवसे समझ आती हो वह 'आनुश्रविक' कहलाती है. इस प्रकार जो आनुश्रविक कर्म हैं वह **गुरोः उच्चारणानन्तरं श्रूयते इति अनुश्रवो वेदः, तेन प्रोक्तानि कर्माणि आनुश्रविकाणि; तान्येव कर्माणि येषाम्. लोके दर्शनादिमात्रम्.** इसका उदाहरण यदि समझना हो तो जैसे आर्मीमें हर सैनिक अपने कमांडरके आदेशपर ही चलता-फिरता है. उसके जो भी कर्म होते हैं वह आनुश्रविक होते हैं. शुरुआतकी ट्रेनिंगमें वह काम उन्हें दंडके भयसे कराया जाता है कि इस प्रकार नहीं चलोगे तो और सख्त कार्यवाही होगी. धीरे-धीरे वह उनकी आदतमें आ जाता है और बोलते ही अपने आप वह कर्म करने लगते हैं. इसी प्रकार वेदमें भी कर्मोंकी कर्तव्यताका उपदेश नरकका भय दे कर सिखाया जाता है. बादमें अर्थ समझ जानेपर वह अपनी आदतमें आ जाता है.

**कार्याणितु वैदिकान्येव तेषाम्. दैवाद् येषाम् एतादृशानि इन्द्रियाणि भवन्ति, तेषां भक्तिः भवति इति उक्तम्.** दैवी इन्द्रियोंसे ही आनुश्रविक कर्म किये जा सकते हैं. और जिनकी दैविक इन्द्रिय क्रियाशील होती हैं, वे ही भक्ति कर सकते हैं. पर जिनकी आसुरी इन्द्रिय क्रियाशील होती हैं, वे भगवान्के दर्शनके समय भी या तो लयके मूड्में होते हैं अथवा विक्षेपके मूड्में होते हैं.

आप इस बातको अच्छी तरह समझ सकते हो कि आज नब्बे प्रतिशत पुष्टिमार्गीयोंको मनोरथकी सजावट हो तभी ठाकुरजीके दर्शन अच्छे लगते हैं. अपने घरके ठाकुरजीकी सजावट इतनी अच्छी नहीं होती इसलिए वह अच्छे नहीं लगते. क्योंकि सजावटके कारण इन्द्रियोंमें एक प्रकारका मीठा विक्षेप आता है और इसीसे अपने ठाकुरजीमें इतना भक्तिभाव नहीं जाग्रत होता है जितना हवेलीके

सजावटवाले ठाकुरजीमें होता है. ऐसा इसलिए होता है क्योंकि अपना दर्शन करनेका भाव विक्षेपात्मक हो गया है. दैवात्मक नहीं रहा है, आसुरी हो गया है. नहीं तो ठाकुरजीमें भेद ही क्या है? ठाकोरजी सजावटमें बिराजते हों अथवा सादा बिराजते हों. यदि ठाकुरजीमें अपना भक्तिभाव हो तो ठाकुरजी अच्छे लगने चाहिये कि सजावट! दैवी इन्द्रियोंको तो ठाकुरजी ही अच्छे लगेंगे पर आसुरीको ठाकुरजीके इर्द-गिर्दकी सजावट अच्छी लगेगी. जहां मनोरथोंकी सजावट हो वहां तुरंत हमें विक्षेप होता है. इसी कारण हमारा वहां आकर्षण अधिक रहता है. अपनी इन्द्रियाँ वहां संलग्न हो जाती हैं.

**प्रश्न :** आपने कहा कर्तव्यदृष्टिसे जो इन्द्रिय कार्यमें संलग्न हों, वह दैवी होती हैं. पर भयसे भी तो कर्तव्यमें संलग्न होती हैं. उस स्थितिमें क्या होता है?

**उत्तर :** भयकी स्थितिमें तो इन्द्रियोंमें विक्षेप ही होगा. जब-तक कर्तव्यदृष्टि स्वतः नहीं जाग्रत हो, वह आसुरी ही होगी. आपको एक उदाहरण देता हूं. गोवामें एक सेंट् ज़ेवियर्के कालमें ही क्रिश्चनोंका संत हुआ है. वह सेंट् ज़ेवियर्का मित्र भी था. उसने अपने भगवान्को (होली फादर्) एक बहुत सुंदर बात कही है. वह कहता है कि "यदि स्वर्ग न भी हो तो भी मैं तुझे ही चाहता. और यदि नरक नहीं भी है तो भी मैं तुझ हीसे डरता." स्वर्ग मिलनेकी आसमें भगवान्को चाहना विक्षेप है. पर वह कह रहा है कि यदि स्वर्ग न भी हो तो भी मैं तुझे ही चाहता. नरकसे हमें बहुत भय लगता है. पर वह कह रहा है कि "नरक न भी हो तो भी मैं तुझ हीसे डरता." इसका अर्थ साफ है कि यह बात दैवी इन्द्रियोंसे कही गयी है. अल्लाहको सभी मुसलमान चाहते हैं पर वह इसलिए कि यहां तो चारकी ही छूट है पर जन्नतमें बहत्तर हूर मिलेंगी. यदि ऐसा हो तो अल्लाहको कौन नहीं चाहेगा! यहां शराब पीनी पाप है पर जन्नतमें शराब फ्री है. यह अल्लाहकी

जो चाहना है वह तो आसुरी ही है. इन्द्रियोंकी आसुरी अवस्थामें यह ओवर् ॲक्टिव् या ओवर पॅसिव् हो जाती हैं. यह दोनों ही अवस्था भक्तिके लिए लाभकारी नहीं हैं. इन्द्रियाँ स्वस्थ तभी कही जायेंगी जब वे इन दोनों अवस्थाओंसे बाहर हो. आसुरी अवस्थामें भक्ति तो क्या, स्नेह भी ठीकसे नहीं हो सकता. किसी भी संबंधको अच्छी तरह निभानेके लिए संतुलित होना बहुत आवश्यक है. ओवर् ॲक्टिव् अथवा ओवर् पॅसिव् होनेसे कोई भी संबंध अपना स्वस्थ नहीं रह जाता. बालकके प्रति भी जब हम ओवर् प्रोटेक्टिव् हो जाते हैं तो वह बिगड़ जाता है. प्रोटेक्ट् ही न करें तो भी बालक बिगड़ जाता है. बालकको एक संतुलित प्रोटेक्शन् चाहिये होता है. इन्द्रियोंके साथ भी ऐसा ही है.

**किञ्च तान्यपि कर्मयोगज्ञानादिबहुरूपे वैदिके कर्मणि प्रवर्तमानानि पूर्ववासनया अभ्यासाद् भवन्ति.** अब यह दैवी इन्द्रिय वेदके कर्मोंमें, ज्ञानमें, योगमें किसमें प्रवृत्त होगी, यह इस बातपर निर्भर करेगा कि उन्हें किस प्रकारकी आदत डाली गयी है. जिसको जैसी आदत होगी वह उसी प्रकारके कर्म ज्ञान अथवा योग में प्रवृत्त होगी. अपने परिवारमें भी हम देख सकते हैं कि अपना कोई छोटा है, उसे ठाकुरजीमें श्रद्धा है पर सेवा उसे अच्छी नहीं लगती. बहुतसे ऐसे भी होते हैं कि उन्हें सेवा करनेका एक उत्साह रहता है. यह सब अपनी आदतपर निर्भर करता है. घरकी लड़की भी यदि उसने अपने घरमें काम किया है तभी वह सुसरालमें काम कर पायेगी, नहीं तो नहीं. दैवीमें भी आदतका रोल् तो होता ही है. जितने भी मुसलमान होते हैं, उनकी यह आदत होती है कि जब भी अपने उस्तादका नाम लेते हैं तो अपने कानपर हाथ रखते हैं. मूलमें यह अपने भारतकी पद्धति है, अरबकी नहीं है. हम भी जब गुरुके पास जाते हैं तो दोनों हाथोंसे अपने कान पकड़ कर बोलते हैं **''चतुःसागरपर्यन्तं गो-ब्राह्मणेभ्यः शुभं भवतु**

**आङ्गीरसबार्हस्पत्य-भारद्वाजेति त्रिप्रवरान्वित-भारद्वाजगोत्रोत्पन्न- कृष्णयजुर्वेदान्तर्गत- तैत्तरीयशाखाध्यायी श्याममनोहरदेवशर्माहं भो गुरो! अभिवादये''** यह अपने यहांका संस्कार था गुरुके पास जानेका. अब क्योंकि सारे हिन्दु थे जो मुसलमान हो गये. इसलिए आज भी वे जब भी अपने उस्तादका नाम लेते हैं तो कान पकड़ते हैं. इन मुसलमानोंसे सीखे हुए जो हिन्दु भी हैं वे भी जब अपने गुरुका नाम लेते हैं तो कान पकड़ते हैं. यह सब आदतके कारण ही तो है. इस प्रकार आदतका भी बहुत बड़ा रोल् है.

**तेषामपि यदि फलावस्था भवति, तदा सत्त्वएव शुद्धसत्त्वरूपे भगवत्स्वरूपे प्रवर्तमानानि स्वभावतो भवन्ति.** उसमें भी जब वह दैवी वृत्ति फलावस्थापर जब पहुंचती है मानें पूर्ण विकसित होती है तब उसे सत्त्व-मूर्ति भगवान्में स्नेह जाग्रत होता है. जब इन्द्रिय लय और विक्षेप की स्थितिमें हैं तो स्नेह जागेगा कैसे! क्योंकि लय-विक्षेपके कारण भगवान्को चाहनेका अवकाश ही उन्हें नहीं होता है. आपने कई छोटे मंदिरोंमें देखा ही होगा कि जहां जूते खोलनेकी जगह होती है वहां सब दर्शनार्थियोंका ध्यान आधा जूतेमें और आधा भगवान्में होता है. ध्यान सत्त्व-मूर्तिमें नहीं लगता है. **फलावस्था भवति तदा सत्त्वएव शुद्धसत्त्वरूपे भगवत्स्वरूपे प्रवर्तमानानि स्वभावतो भवन्ति.** शुद्ध-सत्त्व भगवत्स्वरूपमें ध्यान लगने लगता है. **सत्त्वे इति साङ्ख्यमतानुसारेण उक्तम्. वस्तुतस्तु ''गुणातीते भगवति स्वाभाविकी वृत्तिः'' इति भगवच्छास्त्रम्.** यहां सत्त्व-मूर्ति जो कपिलदेवजी कह रहे हैं, वह सांख्यमतके अनुसार कह रहे हैं.

पर वस्तुतः तो भक्तिमें भगवान्की सत्त्व नहीं पर निर्गुण-मूर्तिमें ही भाव जाग्रत करना चाहिये. निर्गुण मूर्ति और सात्त्विक मूर्तिमें अंतर समझो. एक बात लिख लो **''सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो लोभएवच. प्रमादमोहौ तमसो भवतो अज्ञानमेव च.''** (भग.गीता १४।१७)

जब कोई वस्तु सत्त्व होती है तो उसे समझनेका अवसर हमें मिलता है. जब वह राजस हो तो उसमें हमें लोभ बढ़ता है. अब वह वृत्ति हो अथवा वस्तु हो, किसी भी राजस वस्तुको तुम चाहोगे तो लोभ बढ़ेगा. किसी भी तामस वस्तुको चाहोगे तो प्रमाद मोह और अज्ञान बढ़ेगा. यह सिद्धांत है. सांख्य कहता है कि भगवान्‌का ऐसा कोई स्वरूप जो तुम्हें ज्ञानकी प्रेरणा देता हो, ऐसे स्वरूपका तुम भजन करो. ऐसे स्वरूपका भजन मत करो कि जो तुममें लोभ जाग्रत करता हो. अब एक बात ध्यानसे समझो कि सिद्धि-विनायक अपना लोभ बढ़ानेके लिए है. शिरडीके सांईबाबा अपना लोभ बढ़ानेके लिए है. श्रीनाथजीकी मानता मानना भी लोभ बढ़ानेके लिए है. तिरुपति बालाजी लोभ बढ़ानेके लिए है. भगवान्‌के कई ऐसे रूप हैं जो लोभ बढ़ानेके ही लिए हैं. भगवान्‌के कई ऐसे रूप हैं जो मोह और अज्ञान बढ़ानेके लिए हैं. भुलेश्वरमें पंचमुखी हनुमानका मुख बहुत बड़ा है. मेरा एक सहयोगी वहां बहुत जाता था. परीक्षाके दिनोंमें पूरा मिठाईका डिब्बा ही उनके मुंहमें डाल देता था. परीक्षामें पास होनेके लोभके कारण. यह हनुमानजीकी भक्ति नहीं है, उनसे अपना लोभ सिद्ध करना है. इसी प्रकार तामसरूपसे अज्ञान मोह और प्रमाद होता है. सत्त्व-मूर्तिका यदि तुम भजन करोगे तो तुममें ज्ञान होगा. पर महाप्रभुजी कह रहे हैं कि ज्ञानसे भी अधिक भक्ति बढ़नेकी बात ऐसी है कि वह तो भगवान्‌के निर्गुण स्वरूपके भजनसे ही होगी. भक्ति एक बार हो गयी तो उसे परहेज नहीं होती कि स्वरूप कैसा है.

**प्रश्न :** तामस मूर्तिका उदाहरण क्या होगा.

**उत्तर :** कालीकी मूर्ति सत्त्व नहीं हो सकती क्योंकि एक हाथमें मुंड काट कर, एक हाथमें उसे रख कर खून पीती हुयी वह मूर्ति है. यह तामस मूर्तिका स्वरूप है. सरस्वती सत्त्वमूर्ति है. आप ॲलिफन्टा जायेंगे तो एक ही शिवजीमें तीनों रूप दिखायी देते हैं. सामनेवाला

सात्त्विक मुख है. एक तरफ तामस और एक तरफ राजस मुख है. तामस मुखपर क्रोधका भाव है. राजसपर प्रेमका भाव है और सात्त्विकपर समाधिस्थ भाव है.

महाप्रभुजी कहते हैं कि ज्ञानके लिए सात्त्विक-मूर्ति अच्छी है पर भक्तिके लिए तो निर्गुण मूर्ति ही सबसे अच्छी है. प्रश्न यह है कि ज्ञानके कारण भक्ति-वैराग्य हो रहा है कि भक्तिके कारण ज्ञान-वैराग्य हो रहा है? उदाहरणके लिए, आपको कोई अच्छा नहीं लगता इस कारण आपको भगवान् अच्छा लग रहा है और भगवान् अच्छा लग रहा है इसलिए आपको और कोई अच्छा नहीं लग रहा. इन दोनों बातोंमें भेद तो है ही. आपको अपना घर पसंद है इसलिए दूसरेका घर अच्छा नहीं लगता और दूसरेका घर पसंद नहीं है इसलिए मजबूरीमें आपको अपने घर रहना पड़ रहा है. घर तो एक ही है पर बात बदल गयी.

**प्रश्न :** सरस्वती देवी ज्ञानकी देवी हैं. हम उनसे ज्ञानकी प्रार्थना करें तो यह क्या ठीक है?

**उत्तर :** ज्ञान चाहिये तो पूजन किया जा सकता है पर वह भक्ति नहीं होगी. इसी प्रकार धन चाहिये तो लक्ष्मीका पूजन करना, यह पूजन है पर भक्ति नहीं है. परीक्षामें पास होनेके लिए हनुमानजीको पेड़ेका भोग लगाना, यह हनुमानजीकी भक्ति नहीं है, यह तो तुम्हारी इच्छा है. इस प्रकार भक्ति और पूजन में भेद है.

हमने यह देखा कि महाप्रभुजी सत्त्वमूर्तिके बजाय भक्तिकी वृद्धिके लिए भगवान्‌की निर्गुणमूर्तिका भजन करनेके लिए कह रहे हैं. सांख्यके अनुसार पुरुष अमूर्त है और जो मूर्ति है वह प्रकृतिके कारण आ रही है. भक्तिके साथ एक समस्या यह है कि अमूर्तका हमें ज्ञान हो सकता है पर उसमें भक्ति नहीं हो सकती. आप अमूर्तको

जान तो सकते हो पर उसका आनंद नहीं ले सकते. भक्ति तो उसका आनंद लेनेकी कथा है, ऐसी एक धारणा है. यही समस्या थियोलॉजीके साथ है, साइकॉलॉजीके साथ है, ॲस्थेटिक्के साथ है, संगीत-शास्त्रके साथ है, सभी जगह है. हम निराकारको जान तो सकते हैं पर उसका आनंद नहीं ले सकते. इसके विरोधमें यूरोपमें पूरा एक ॲब्सट्रेक्ट् आर्टका युग आया. उस कलाके माध्यमसे यही कहते थे कि निराकारका आनंद भी लिया जा सकता है. आज भी वह कला उसी प्रकार प्रस्तुत की जाती है. संगीत-शास्त्रमें भी ऐसा ही है. कोई भी सुर है उसे या तो लयसे अथवा शब्दसे आकार मिलता है. केवल स्वर ही बजते हों तो वह निराकार जैसे लगते हैं. पर वे ही स्वर यदि लयमें चलें तो वे एक संगीतमय आकार ले लेते हैं.

अपने शास्त्रीयसंगीतमें इसके बारेमें दो मत हैं. और लोग उसको मानें कि नहीं पर हमारे यहां इसका बहुत विचार किया गया है. वह यह है कि संगीतमें एक लय होती है और एक ताल होती है. किसी भी बीट्का एक निश्चित अंतरालपर चलना 'लय' कहलाता है. जैसे हृदयकी धड़कन एक लयपर चल रही है. जब इसी लयमें किसी स्थानपर जोर दिया जाता है तो वह ताल बनती है. इसी कारण कई लोगोंको ऐसी भ्रमणा हो जाती है कि जहां ताल नहीं है वहां संगीत निराकार है. पर यदि लय है तो संगीत निराकार नहीं हो सकता. अच्छे कलाकार दो स्वरोंके बीच इतना अंतराल दे देते हैं कि एक साधारण आदमी उसे ग्रहण नहीं कर सकता और वह हमें निराकार लगने लगता है, पर वह होता नहीं है. इस प्रकार निराकारका तो हम आनंद ले ही नहीं सकते हैं. यह एक सिद्धांत है कि आप निराकारको जान तो सकते हो पर उसका आनंद नहीं ले सकते. भक्ति तो आनंद लेनेका ही दूसरा नाम है. हम जैसे भक्तिको पारिभाषित करते हैं वह केवल आनंद लेनेका

नाम नहीं है अपितु आनंद जिसकी पृष्ठभूमिमें माहात्म्यज्ञान रहा हुआ है. न तो यह पूरी तरह ज्ञान है और न ही केवल आनंद है. हमने भक्तिकी कुछ इस प्रकार परिभाषा दी है; भक्ति, भगवान्‌के माहात्म्यके स्वरूपको जान कर उसका आनंद लेनेका नाम है.

उस्ताद अमीरखां साहबके बारेमें बहुत प्रचलित मजाक है कि वह इतनी धीमी लयमें गा सकते थे कि तबला वादक एक 'धा' लगानेके बाद दूसरे 'धा' के बीच आरामसे चाय पी सकता था. पर वह इतनी धीमी लयमें गा पाते थे. यह श्रोताओंको समझमें नहीं आ पाता था. वह खयाल गायकीके स्तंभ थे. आजके जितने भी कलाकार हैं, वे उन्हींकी नकल करते हैं. उनकी गायकी किसी-किसीको ही समझ आ पाती थी. हम यह नहीं कह सकते कि वह लयमें नहीं गाते थे. यह बात हमें घड़ीको देख कर समझ आ सकती है कि सॅकन्ड्का कांटा हमें आंखसे चलता हुआ दीखता है. मिनिट्का कांटा भी आंख लगा कर देखें तो चलता हुआ दीख सकता है पर घंटेका कांटा चलता हुआ नहीं दीखता. इसका अर्थ यह नहीं है कि वह चल नहीं रहा. यदि तिथिका कांटा होता तो वह तो योगकी समाधी लगानेपर ही उसकी लय समझ आती. चाहे वह धीमी हो अथवा तेज, एक स्थानपर भार दे कर दी गयी हो अथवा बिना भार दिये, वह एब्सट्रॅक्ट् कला हो अथवा फिगरेटिव् कला हो, प्रत्येकमें कोई-न-कोई आकार तो होता ही है. यहां तक कि एब्सट्रॅक्ट् कलामें भी कुछ-न-कुछ तो आकार होता ही है. बिल्कुल निराकारका तो कोई आनंद ले ही नहीं सकता. यह सौंदर्य शास्त्रमें रही हुयी समस्या है. यह नाटक कविता कहानी चित्रकारी सभीके लिए सत्य है. निराकारका कभी भी आनंद नहीं लिया जा सकता, उसे जाना जा सकता है.

इसी कारण यह प्रश्न आगे आया कि सांख्यके अनुसार पुरुष

तो निराकार है और जो भी आकार ले रहा है, वह तो प्रकृति है. आत्मा निराकार है, यह उनकी धारणा है. पर वह यह बात भूल जाते हैं कि कोई तो अमीरखां साहब हो सकता है. यह भी तो हो सकता है कि उस पुरुषका आकार इतना धीमा हो गया हो कि वह आपको समझमें न आ पा रहा हो. कुछ-न-कुछ तो उसका आकार बन ही रहा है. जैसे हम दूधमें दही जमानेके लिए जामन डालते हैं तो वह आकार लेनेमें कितना अधिक समय लगाता है. कुछ-न-कुछ तो वह आकार ले ही रहा है. क्या हम उसको देख सकते हैं? नहीं, तो क्या हम कह सकते हैं कि वह आकार नहीं ले रहा, नहीं. हम जब पूरी तलते हैं तो वह तेज गतिसे आकार लेती है तो हमको समझ आता है. इससे हम कह सकते हैं कि आकार तो पुरुष अथवा चेतना का भी होगा ही. अब भक्तिकी आवश्यकता यह है कि उसे आकार तो चाहिये ही आनंद लेनेके लिए. ज्ञानकी आवश्कता आकारकी नहीं है. उदाहरणके लिए 'शून्य' आकाररहित होना चाहिये. और जितने भी अंक हैं वे आकार लिए हुए हैं. जब कोई भी अंक उपस्थित नहीं है तो उसका अर्थ है, शून्य. इससे लोगोंमें यह भ्रान्त धारणा बन गयी कि शून्य पुरुषकी तरह आकाररहित है. पर यह बात भी तो सत्य है कि पूर्णरूपसे शून्य होना संभव ही नहीं है. जैसे हम कहते हैं कि 'शून्य तापमान' है. पर क्या उसके नीचे नॅगेटिव् तापमान नहीं होता? हमने केवल -१ और +१ तापमानके बीचमें एक शून्यकी कल्पना की है. तथ्य तो यह है कि शून्य कुछ है ही नहीं. Absolute Vacuum is an impossible phenomenon. Relative Vacuum is possible. उदाहरणके लिए हम यहां बैठे हैं तो क्या दूसरे कमरोंमें वॅक्यूम् है. नहीं, क्योंकि वहां हवा धूलके कण तो हैं ही. इसी प्रकार पूर्णरूपसे निराकार तो संभव है ही नहीं. यह तो प्रक्रिया इतनी धीमी है कि हमें आकार दीखना बंद हो जाता है. ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार शून्य है. शून्यको यदि

किसी संख्याके पीछे रखें तो उसका एक पॉज़िटिव् रोल् है. आगे रखें तो नॅगेटिव् रोल् है. पर वैचारिक दृष्टिसे हम यह सोच सकते हैं कि पॉज़िटिव् और नॅगेटिव् के बीच कोई तो ऐसा पॉइन्ट् होगा जो शून्य हो. यह ज्ञानका विषय है. लेकिन यह सिद्ध करना जितना कठिन है, इसका अनुभव करना भी उतना ही कठिन है.

इससे एक बात समझो कि सांख्य जब भी मूर्तकी बात करता है तो पुरुषके संदर्भमें तो कर नहीं सकता. वह इस बातको प्रकृतिकी ओर ले जाता है. पर पदार्थका यदि कोई अपना आकार हो तो वह अपनी चेतनामें कैसे आकार ले सकता है? जैसे यह पैन है, इसका चित्र यदि अपने मस्तिष्कमें आकार नहीं ले तो क्या आप इसे पहचान पायेंगे? नहीं. इस कारण प्रश्न खड़ा होता है कि क्या निराकार भगवान् हमारी भक्तिको प्रतिक्रिया दे सकता है? यदि वह सर्वशक्तिशाली भी हो, तो हमारे लिए यह कठिन हो जायेगा कि हम उस आकाररहित भगवान्को भक्तिके रूपमें किसी भी प्रकारकी प्रतिक्रिया दे पायें. इस कारण जब भी निराकारकी भक्तिकी बात आती है तो हमारी भक्तिको एक ठेस पहुंचती है. जो ऐसा करते हैं उनकी भक्ति कैसा विकृत रूप ले लेती है इसका एक उदाहरण आपको देता हूं.

पहले मैं हर वर्ष गुसांईजीके प्राकट्यस्थल चरणाट उनका उत्सव मनाने जाता था. मैं वह उत्सव अपने तरीकेसे मनाता था. वहां बाजूमें एक पाठशाला थी. वे लोग मेरे पास आये और बोले कि "आप यहां हर साल आते हो तो एक बार हमारे यहां भी प्रवचनके लिए आओ." उन्होंने मुझे बुलाया और शांकरमतके एक विद्वानको भी बुलाया. मुझे तो इसमें कोई आपत्ति नहीं थी क्योंकि मैं तो सभी प्रकारके विचारोंके प्रति अपने आपको खुला रखता हूं. पर मैं जब भी बात करूंगा तो महाप्रभुजीके मतकी ही तो करूंगा.

यह बात उस शांकरको बुरी लग गयी. उसने एक इतनी विलक्षण बात कही कि मैं उसे जीवन भर भूल नहीं सकता. वह बोले ''यह जो गोस्वामीजीने कहा कि भक्ति करो, यह सवाल भक्तिका नहीं है. सवाल ध्यान लगानेका है. ध्यानरहित भक्तिका कोई अर्थ नहीं है. ध्यान ऐसा लगना चाहिये कि भगवान्‌के चरणमें ऐसा ध्यानका तीर लगे कि वह घायल हो जाये, खून निकलने लग जाये, खड़े न रहने पायें.'' मुझे तो मितली आने लगी कि यह क्या बोल रहे हैं! मैंने मनमें सोचा कि यह भक्तिकी बात कर रहे हैं कि शिकारकी. ध्यानकी बात तक तो ठीक है क्योंकि वे निराकार ब्रह्ममें विश्वास करते हैं. वे इस प्रकारकी भाषा बोल सकते हैं पर कोई भी भक्त ऐसी भाषाके बारेमें सोच भी नहीं सकता. ज्ञानी चाहे भक्तिकी बात करे पर वह इसी प्रकारकी करेगा. पर समझ लो कि यह भक्ति नहीं है.

**प्रश्न :** पर वेदान्तमें तो निराकार ब्रह्मके बारेमें ही बताया है.

**उत्तर :** मैं आपको वेदान्त ही तो पढ़ा रहा हूं. वेदान्तकी कई शाखाएं हैं. एक शाखा ब्रह्मको निराकार मानती है, दूसरी साकार मानती है, तीसरी मानवाकार मानती है. ऐसी कई शाखाएं हैं. जब पोप्‌ने माइकल् ॲन्जेलोसे कहा कि ''भगवान्‌ने मानवकी उत्पत्ति किस प्रकार की उसका चित्र बनाओ.'' माइकल् ॲन्जेलोकी समस्या यह थी कि ब्रह्म निराकार है, मानव साकार है, उसकी रचना किस प्रकारकी होगी. पर बाइबल्‌में एक वाक्य आता है कि ''भगवान्‌ने मानवकी रचना अपने रूप जैसी ही की.'' वह संशयमें आ गया कि क्या भगवान्‌का चित्र मानवके आकारका बनाना चाहिये अथवा किसी और प्रकारका? उस समय पोपका वर्चस्व इतना था कि उसकी आज्ञाका उल्लंघन किसी भी प्रकारसे नहीं किया जा सकता था. बहुत बड़ी सजा थी उसकी. वह इतना परेशान हो गया कि डर कर पहाड़ोंमें जा कर छुप गया. वहां उसने एक द्रश्य देखा

कि एक बड़े बादलमेंसे एक छोटा बादल अलग हो रहा है. वहीं उसको सूझा कि उसने भगवान्‌को एक दाढ़ीवाला बूढ़ा बड़े आकारका बनाया और मानवको उसने छोटे आकारका बनाया. यही बात मैं आपको समझाना चाह रहा हूं कि आपको यदि भक्त होना है तो आपको कोई न कोई आकार तो चाहिये ही. आप भक्तिके लिए किसी निराकार भगवान्‌की कल्पना भी नहीं कर सकते. यहां तक कि क्रिश्चयन् भक्तिमें भी वह आकार तो मानते ही है. केवल इसी कारण आज-तक मुसलमान उनको गाली दे रहे हैं. उनके यहां भगवान्‌का कोई भी रूप विचारना दंडनीय अपराध है.

बहुत बार हमें लगता है कि प्रयोगसिद्ध अथवा अनुभव सिद्ध आकार ही आकार है. यह हमारे मस्तिष्कके बारेमें सही धारणा नहीं है. हमारा मस्तिष्क; जो कभी अनुभवमें न आयी हो, ऐसी आकृति भी बना सकता है. उदाहरणके लिए आप कोई भी फिक्शन्‌का उपन्यास पढ़ें तो उसके हीरोका आपके मस्तिष्कमें एक चित्र तो बनता ही है. आप इससे इन्कार तो नहीं कर सकते. आपको उसके रूपका कोई अनुभव नहीं है फिर भी आपका दिमाग उसकी छबि तो बनाता ही है. और अधिकतर उपन्यास पढ़नेके शौकीन लोग उस चित्रसे इतने प्रभावित हो जाते हैं कि जो बाहरी हकीकत है उसे वे लोग स्वीकार ही नहीं करते हैं.

यही तो मीराके साथ हुआ था. मीरा जब पांच-छह वर्षकी थी तब उसके घरके सामने जब किसीकी बारात जा रही थी तो उसने अपने पितासे उसके बारेमें पूछा. उसके पिताने कहा कि ''किसी कन्याको ब्याहनेके लिए उसका वर आया है.'' मीराने जिद पकड़ ली कि उसका वर कब आयेगा. उसके पिताने बाल-हठ समझ कर उसे एक ठाकुरजीकी मूर्ति पधरा दी और कहा ''यह तेरा वर है.'' वह मूर्ति तो आज भी वहां बिराज रही है. मैं वहां

जा कर आया हूं. मीरा अपने ठाकुरजीसे इतनी प्रभावित थी कि वह अपने सांसारिक पतिको पति मानती ही नहीं थी. इस प्रकार हम समझ सकते हैं कि कुछ मानसिक छबि जैसी कोई वस्तु है. यह आवश्यक नहीं है कि हमेशा अनुभव की हुयी वस्तुकी छबि आपपर प्रभाव डाले. कई बार किसी वस्तुकी मानसिक छबि भी अपने ऊपर अत्यधिक प्रभाव डालती है. शॅक्सपियरके सभी नाटकके चरित्र ऐतिहासिक हों अथवा नहीं पर आप यदि वह पढ़ें तो आपके मस्तिष्कमें उनकी एक छबि उभरेगी, उभरेगी और उभरेगी ही. अब वह अनुभव की हुयी छबि तो है नहीं. वह तो मानसिक छबि है. एक बार आपमें उस चरित्रके प्रति यदि जुनून चढ़ गया तो कोई और व्यक्ति जो उस चरित्रके साथ मेल नहीं खाता हो, वह आपको जचेगा ही नहीं. इस तरह यदि किसीसे आपको प्रेम है तो उसका मानसिक चित्र आपके मस्तिष्कमें बनता ही है.

कुरानमें भी जिस प्रकारका अल्लाहका वर्णन हुआ है, उसकी कोई छबि उनके मस्तिष्कमें बनती है. इसीलिए उन्हें रोना आता है. दरगाह किसी फकीरसे संबंधित होती है. कई मुसलमान, अल्लाहसे भी बड़े भक्त फकीरोंके होते हैं. जबकि कुरान साफ-साफ कहती है कि अल्लाहके सिवाय और किसीको मत चाहो. पर यह मनुष्यकी कमजोरी है कि वह चाह कर भी उस निराकारको चाह नहीं सकता. इसीलिए दरगाहें बहुत प्रचलित हो जाती हैं. क्योंकि फकीरके रूपमें एक मनुष्यकी छबि हमारे मस्तिष्कमें बनती है. आपने सुना होगा *छाप तिलक तज दीनी तोसे नैना मिलायके* यह अल्लाहके लिए नहीं, फकीरके लिए कहा गया है. यह मनुष्यकी कमजोरी है. इससे यह सिद्ध होता है कि निराकारका आनंद नहीं लिया जा सकता. यदि आपको किसीका आनंद लेना है तो उसका कोई आकार होना ही चाहिये. निराकारका केवल ज्ञान हो सकता है. हम जिस आनंदकी बात करते हैं वह भक्तिमय आनंद है. यह केवल प्रेम तक ही

सीमित नहीं है, यह केवल वात्सल्य तक ही सीमित नहीं है. अपितु ज्ञानात्मक प्रेम है. ज्ञानात्मक स्नेहका ही दूसरा नाम भक्ति है. यह हमारी भक्तिकी परिभाषा है. **''माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः सर्वतोऽधिकः स्नेहः''** ( त.दी.नि.१।४२ )

जिस सुरमें ताल शब्द अथवा लय न हो, उस सुरका आप आनंद ले पाओगे? नहीं ले पाओगे क्योंकि आप यह आशा रखते हो कि जो भी सुर गाया जा रहा है उसमें शब्द लय अथवा ताल होनी चाहिये, जो उसे आकार प्रदान करे. सुरका सौंदर्य उसको आकार देनेके बाद ही प्रकट होता है. आप यहां भी ध्यानसे सुनो तो एयर्-कंडिशन्की आवाज़ आ रही है. यह एक सुर है, पर क्या आप इसका आनंद ले पा रहे हैं? नहीं ले पा रहे क्योंकि इसमें न शब्द है, न ताल है और न ही लय है. इसी सुरमें यदि आप इन तीनोंमेंसे किसी एकको डाल कर इसे आकार दे दें तो यही आपको कर्ण-प्रिय लगेगा. यह अपने हृदयकी लाचारी है कि जिसका आकार नहीं है उसे हम प्रेम कर ही नहीं सकते. भक्ति और ध्यान में यही भेद है. भक्तिमें प्रेम-भावना चाहिये और ध्यानमें एकाग्रचित्त चाहिये. पहला नरम है तो दूसरा बहुत कठोर. यदि हम किसीको एकाग्रचित्त हो कर निरंतर घूर रहे हैं तो वह नर्वस हो जाता है क्योंकि यह एक घात अथवा हमला करनेकी मुद्रा है. उसमें बहुत कठोरता है. जब कि थोड़ी-थोड़ी देरमें उस ओर देखें तो वह प्रेमकी मुद्रा होती है. दोनोंमें बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक अंतर है. यह जो ध्यान केन्द्रित करनेकी प्रक्रिया है वह ज्ञानके लिए तो आवश्यक है पर भक्तिके लिए बहुत उपयोगी नहीं है. आपने देखा होगा मंदिरोंमें ठाकुरजीके दर्शन लोग दूरबीन लगा कर करते हैं. कोई दूरबीनसे देखे तो क्या हमें अच्छा लगेगा? होता क्या है कि अनजाने ही लोग ज्ञान और भक्ति में भेल-सेल कर देते हैं. वह न ज्ञान रह जाता है और न ही भक्ति.

इसीलिए यहां महाप्रभुजी यह समझाना चाह रहे हैं कि सत्त्व-मूर्ति यह सांख्यकी परिभाषा है. क्योंकि वह पुरुषको निराकार मानते है और निराकारकी भक्ति की नहीं जा सकती. इस कारण वह कहते है कि आप भगवान्‌की सात्त्विक मूर्तिकी भक्ति कर सकते हो. यह उनके यहांकी सीमा है. महाप्रभुजी कह रहे हैं कि वेदान्त इस प्रकारकी दरिद्रतासे पीड़ित नहीं है. क्योंकि वेदान्तमें पुरुषके दोनों रूप कहे गये हैं. आकारसहित और निराकार. यही बात मैंने आपको इतना विस्तार करके समझानेकी कोशिश की. इसमें एक बात जो रह गयी वह यह है कि अपनी मानसिक छबिके कारण भक्ति हो रही है अथवा भक्तिके कारण मानसिक छबि बन रही है?

इस बारेमें भागवतका सिद्धांत यह है कि **''त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोजः आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ! पुंसां, यद्-यद्धिया त उरुगाय! विभावयन्ति तत्-तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय''** (भाग.पुरा.३।९।११) यह अपने भागवतका अंतरतम सिद्धांत है. 'भाव' मानें अपने हृदयकी प्रेमात्मक अनुभूति. किसी भी वस्तुकी ओर अपने आकर्षणकी अनुभूतिको 'भाव' कहा जाता है. जिसके प्रति आप भावके साथ जुड़ रहे हैं; तो आपको आपका हृदय कमलकी तरह दिखायी देगा. लगेगा कि जिसके प्रति आपके हृदयमें भाव हैं, आपका हृदयकमल उसके रहनेके लिए एक उपयुक्त स्थान है. सबसे पहले यह अनुभूति आपको होगी. भगवान्‌को कह रहे हैं कि इस हृदय रूपी कमलमें तू श्रुतिपथसे आता है. श्रुतियोंके द्वारा मैंने जो तेरी बात सुनी उससे तेरी एक छबि मेरे मस्तिष्कमें बनी और वह मेरे इस हृदयमें रह रही है. उसके आगे कहते हैं कि जो-जो भी मेरे मनमें तेरी छबि बनी है उन सभीका जब मैं अपने मनमें विचार करता हुं कि तू ऐसा है, तू ऐसा है, तू उन्हीं सब रूपोंको धारण करके मुझे और अपनी भक्तिके लिए प्रोत्साहित करता है. इससे हम समझ सकते हैं कि छबिसे भाव नहीं बनते पर भावसे मानसिक छबि बनती है जो

भक्तिकी आवश्यकता है. इसी कारण अपने यहां ठाकुरजीके स्वरूपको भावात्मक कहा गया है. 'भावात्मक'का अर्थ यही है कि जो कुछ भी हमने अपने ठाकुरजीके बारेमें सुना, उस सुननेसे अपने हृदयकमलमें एक भावात्मक छबि बनती है कि वह ऐसा होना चाहिये. जब भक्तको यह लगता है कि वह ऐसा होना चाहिये तो प्रभु उस भक्तको उसी रूपमें दर्शन देते हैं. इसी कारण भगवान्‌के स्वरूपको 'भावात्मक' कहा गया है.

गीतामें जो कहा है कि ''**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजामि अहम्**'' (भग.गीता ४।११) वह प्रपत्तिके अर्थमें कहा है. इन दोनों बातोंमें भेद है. गीतामें कहा है कि जो मेरे पास जिस प्रकारसे आना चाहता है मैं उसे उसी प्रकार मिलता हूं. यह तो बहुत शुष्क वाक्य है. यह एक बहुत मोटे तौरपर कही गयी बात है. पर भागवत उसका सूक्ष्म रस निकाल कर अपनी बात कह रहा है. प्रपत्ति अथवा शरणागति में इतनी भावनाएं नहीं होतीं. शरणागतिमें अपनी एक लाचारी प्रकट होती है. शरणागतिमें स्नेह आगे जा कर हो सकता है. पहलेमें तो अपनी सुरक्षापर भार है.

पर भक्तिकी शुरुआत ही प्रेमसे होती है. यहां अपनी सुरक्षाकी प्राथमिकता होती ही नहीं है. आप इसमें अपने हृदयसे लाचार हो जाते हो क्योंकि वह रूप आपके हृदयमें बस चुका है और आप निरंतर उस मानसिक छबिके बारेमें ही विचार करते रहते हैं. इस रूपमें अपने प्रभुका स्वरूप 'भावात्मक' कहा गया है. इस कारण ही महाप्रभुजी हमेशा यही आग्रह रखते थे कि यदि कोई भी, जो उनसे ब्रह्मसंबंध लेता था और कहता था कि ''अब मेरा क्या कर्तव्य है.'' तो वह उससे यही कहते थे ''दुकानमें जा और ठाकुरजीका जो स्वरूप तुझे अच्छा लगता हो, उसे पधरा कर ला, उसे मैं पुष्ट कर दूंगा.'' क्योंकि जो तुम्हें अच्छा लगता है, वह तुम्हारे

भावको प्रतिक्रिया दे रहा है. क्योंकि जाने-अनजाने आपके हृदयमें यह बात जँच गयी है और आपके मस्तिष्कमें वह छबि बैठ गयी है कि मुझे इस भगवान्‌की सेवा करनी है. आपके हृदयमें वह छबि जँच गयी है पर आप उसकी सेवा नहीं करना पसंद कर रहे हो तो फिर तो आप दोहरे व्यक्तित्वके व्यक्ति हो. क्योंकि आपको पसंद कोई और है और आप भजन किसी औरका कर रहे हो. आपको उसीका भजन करना चाहिये जो भगवत्स्वरूप आपको अच्छा लगता है.

आजके पुष्टिमार्गकी यह दुःखद बात समझो कि वैष्णव सेवा करते हैं एक ठाकुरजीकी और भजते हैं हवेलीके ठाकुरजीको. दोनों ठाकुरजी संशयमें रहते हैं कि यह चाह किसे रहा है. यह सबसे बड़ा विध्वंसकारी उत्पात हवेलियोंने पुष्टिमार्गके साथ किया है. थोडे-बहुत संस्कार और रीति ने आज पुष्टिमार्गको बचा रखा है. पर हवेलियोंने अपनी भक्तिके गर्भमें जा कर चोट की है. वैष्णवोंके मनमें एक दुविधा खड़ी कर दी कि रहो एकके साथ और चाहो दूसरेको. जिसके साथ रहते हो उसे चाहो मत और जिसे चाहते हो उसके साथ रह नहीं सकते. अपनी भक्तिका जो मूल विचार था, उसीको इन्होंने चोट पहुंचायी है. यह एक प्रकारकी सैद्धांतिक त्रुटि है इस मॉडर्न् पुष्टि-भक्तिकी व्यवस्थामें. पहले कैसा था? रामदासजीकी वार्तामें आता है कि उनके ठाकुरजीको किसी मुगलने लूट लिया. वह उस मुगलके पीछे-पीछे छह सात दिन तक भूखे-प्यासे चलते ही रहे. उस मुगलकी पत्नीने उससे कहा कि ''यह मर जायेगा. इसके ठाकुरजी इसे वापस कर दो.'' इस प्रकार वह अपने ठाकुरजीको छुड़ा कर ले आये. यह क्या था? यह अपने ठाकुरजीके प्रति चाहना है जो आज नहीं रही है.

सूरतके जसोदा बेटीजी थे. वहाँ मंदिर पहले लकड़ीका था.

उसमें एक बार आग लग गयी. तेज धधकती आगमें बेटीजी अंदर जा कर ठाकुरजीको पधरा कर ले आये और खुद जलनेके कारण लीला कर गये. वह भी सोच सकते थे कि एक ठाकुरजी जल जायेंगे तो दूसरे आ जायेंगे. हमारे काकाजीने कोल्हापुरमें मंदिर खोला. मैंने उस समय भी कहा था कि ''काकाजी, भगवत्कृपासे यहां सभी वैष्णव घरमें सेवा कर रहे हैं. इस हवेलीसे कोई अधिक लाभ नहीं होगा.'' पर काकाजी बोले ''नहीं, फिर भी एक हवेली खोलनी उचित है.'' थोड़े दिन बाद वहां कुछ झगड़ा हुआ तो काकाजीने कहा ''यहाँ झगड़ा हो रहा है तो मैं अपने ठाकुरजीको वापस ले जाऊंगा.'' जिन वैष्णवोंने यह टेक ली थी कि इन ठाकुरजीके दर्शन किये बिना प्रसाद ग्रहण नहीं करेंगे, वह बोले ''ले जाने दो ठाकुरजी. हम दूसरे पधरा लेंगे.'' अब बताओ, वह मानसिक छबिके प्रति भावकी बात कहां गयी? आया मुद्दा समझमें! कहां गयी वह रामदासवाली बात. वह मुगल तो उनका गला भी काट सकता था. बिना किसी डरके वह उसके पीछे-पीछे जाते रहे, जब-तक उसने उनके ठाकुरजी वापस नहीं किये.

अपने परदादाजीकी बात तुम्हें बताता हुं. मेरे परदादाजीने मेरे दादाजीको अपने ठाकुरजीके सामने ब्रह्मसंबंध दिया था. मेरे परदादाजीके एक भाई जंगरवा स्वभावके थे. उन्होंने जितने भी भाई थे, सभीको घरसे बाहर कर दिया. मेरे परदादाजी अपने उन भाईसे इतना डरते थे कि वे जा कर चेन्नई बस गये. पर उनके मनमें एक बात थी कि वे अपनी लड़कीका ब्रह्मसम्बन्ध उन ठाकुरजीके सामने ही देना चाहते थे. जब वह पुत्री बड़ी हो गयी तब वे उसे ले कर जोधपुर हाथमें नंगी तलवार ले कर गये कि या तो उसे अपने ठाकुरजीके सामने ब्रह्मसंबंध दूंगा अथवा मरूंगा. पहले मंदिरमें पता लगवाया कि उनके बड़े भाई ठाकुरजीकी मंगलाके बाद ही जागते हैं. बस, तलवार ले कर मुखियाजीकी गरदनपर रखी और बोले

कि हल्ला मत करना. और अपनी लड़कीको ब्रह्मसंबंध दे कर चले गये. उनके जानेके बाद शोर मचा पर तब-तक तो वे निकल गये थे. वह इतना खतरा लेनेको भी तैयार थे क्योंकि उनके मस्तिष्कमें वह ठाकुरजीकी छबि भरी हुयी थी. उसपर वे कोई भी समझौता करनेको राज़ी नहीं थे. यह जो भाव है वह भावित स्वरूपका है. क्योंकि वह छबि आपने अपने हृदयमें बसायी है और उसका आप आनंद ले रहे हो. आप बाहरी स्वरूपका आनंद तभी ले सकते हो जब वह आपकी मानसिक छबिके साथ मेल खाता हो. इसीलिए महाप्रभुजी यह कहते थे कि बाजारसे अपनी पसंदका स्वरूप ले आ. मैं उसे ही पुष्ट करके तुझे सेवामें पधरा दूंगा. इसी कारण वैष्णवोंमें ऐसा भाव जागता था. इसलिए सांख्यकी तरह हम यह नहीं मानते हैं कि भगवत्स्वरूप प्रकृतिसे बने हैं.

यह जो अपनी मानसिक छबि है, यह किसी प्राकृतिक वस्तुसे नहीं बनी है. क्योंकि यह मानसिक छबि है, इस कारण उसका आनंद अपने हृदयमें लिया जा सकता है. वह कभी भी तोड़ी नहीं जा सकती. प्राकृतिक छबिको तोड़ा जा सकता है पर इस मानसिक छबिको तोड़ा नहीं जा सकता क्योंकि यह हमारे हृदयमें अच्छी तरह घर कर गयी है. वह तब-तक रहती है जब-तक आप जीते हो. शायद उसके बाद भी. यह अपना सिद्धांत है. इस अर्थमें हम अपने स्वरूपको 'भावात्मक' कहते हैं.

इसीलिए महाप्रभुजी कह रहे हैं कि यह तो सांख्यका सिद्धांत है कि सत्त्वमूर्तिको भजो मानें प्राकृतिक रूपको भजो. वेदान्तका सिद्धांत तो निर्गुणको भजनेका है. जो तीनों गुणोंसे ऊपर है, वह निर्गुण है. पर वह तीन गुणोंसे ऊपर है, उसका अर्थ यह मत समझ लेना कि वह गुणरहित है, निराकार है. आपको एक उदाहरण देता हूं. आपको ठीकसे समझ आ जायेगा. मार्कसिस्ट् फिलॉसॉफी मूलमें

हॅगल्से निकली है, मानें पूरे तौरपर भौतिकवाद है. भौतिक न हो ऐसी किसी बातपर वह विश्वास नहीं करते. उनके लिए वही सत्य है जो इन्द्रियोंसे महसूस किया जा सकता है. वो कहते है कि आपका मन भी भौतिक पदार्थोंका ही बना है. इस विचारधारसे असहमत एक प्रसिद्ध फिलॉसॉफर् हुए बट्रेन्ड् रसेल्. वे एक फिलॉसॉफीकी कॉन्फरन्स्में रशिया गये. उनका सिद्धांत तटस्थ अद्वैतवादका था. उनका कहना था कि आदि तत्त्व न तो पदार्थ (matter) है और न ही बुद्धि (mind) है. वे इस बातमें मानते थे. वहां बैठे सभी लोग कहते थे कि पदार्थ ही सब कुछ है. बुद्धि अथवा मन जैसी कोई वस्तु नहीं है क्योंकि हम उसे अपनी इन्द्रियोंसे महसूस नहीं कर सकते. बट्रेन्ड् रसॅल्ने वहां जा कर एक बहुत ही जोरदार भाषण दिया. उसने कहा "मेरी समझसे आप सभी लोगोंके पास जो बुद्धि है, जो कि आप कहते हो कि बुद्धि जैसी कोई चीज नहीं होती क्योंकि वह पदार्थसे नहीं बनी है. आप यह मान सकते हो पर मेरी विनम्रता यह कहनेमें संकोच कर रही है कि आप बुद्धिहीन हो. मेरे हिसाबसे आपके मस्तिष्कमें बुद्धि है जो किसी पदार्थसे नहीं बनी है."

यह एक बेहतरीन तर्क था जो हमें यह समझनेमें मदद करता है कि जो छबि अपने मस्तिष्कमें बन रही है, वह किसी पदार्थसे नहीं बन रही. वह निर्गुण है. ऐसा क्यों है? क्योंकि कोई भी भौतिक वस्तु, समय और स्थान की सीमासे बंधी होती है. और मानसिक छबि कभी भी इन परिधियोंमें सीमित नहीं होती. जैसे यह मेज है. यह इस समय और इस स्थान की सीमामें बंधी है. क्योंकि यह इस समय यहां है इसलिए और कहीं नहीं हो सकती. इसकी एक छबि हमारे मस्तिष्कमें बनी है. पर वह यदि इस आकारकी हो तो कैसे हमारे छोटेसे मस्तिष्कमें आयेगी. इसकी छबि जो हमारे मस्तिष्कमें है वह तो अणुसे भी छोटे आकारकी

होगी. फिर भी आपका मस्तिष्क इस मेजकी छबि संभाल कर रखता है. वह तो हाथीकी पहाड़की छबि भी अपनेमें रख सकता है. पर यह सब छबियाँ इतना स्थान नहीं लेती हैं जितना कि रियल् पदार्थ लेता है. इसलिए यह छबि समय और स्थान की परिधिमें नहीं बंधी रहती है. और वह रियल् पदार्थकी तरह व्यवहार भी नहीं करती. पदार्थकी समय और स्थान के साथ समस्या है वह मानसिक छबिके साथ नहीं है. इस अर्थमें यह निर्गुण है और गुणातीत है.

**वस्तुतस्तु ''गुणातीते भगवति स्वाभाविकी वृत्तिः'' इति भगवच्छास्त्रम्.** महाप्रभुजी कह रहे हैं कि भक्तिकी आवश्यकता पूर्ण करनेके लिए भगवान्की सत्त्वमूर्ति नहीं अपितु गुणातीत जो मूर्ति है, उसमें स्वाभाविकी वृत्ति होनी चाहिये. क्योंकि **''मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्''** (भाग.पुरा.११।२५।२४) भगवान् कह रहे हैं कि जिनकी मेरेमें निष्ठा है वह निर्गुण हो जाता है. वह भौतिक गुणोंकी सीमामें बंधा नहीं रह जाता. **''हरिः हि निर्गुणः साक्षाद्'' (भाग.पुरा.१०।८५।५) इत्यादिवाक्यैः सर्वा भगवतः सामग्री निर्गुणा.** और आश्वस्त हो जाओ कि प्रभु जो भौतिक पदार्थोंसे नहीं बना है बल्कि आपके मनमें जिसकी छबि बसी है मानें भावात्मक प्रभु, उनको अपनी भक्तिका विषय बना रहे हो तब उनसे संबंधित प्रत्येक वस्तु भावात्मक है. पुष्टिमार्गियोंको इस बातकी अच्छी तरहसे समझ न होनेके कारण अपने-अपने अर्थ लगा कर बात कहीं और ही ले जाते हैं.

हमारे यहां यही कहा जाता है कि ठाकुरजीकी सेवामें जो वस्तु काम आ रही है, वह द्रव्यात्मक न हो कर भावात्मक है. यह बात इस अर्थमें कही गयी है कि ठाकुरजी स्वयं ही जब भावात्मक हैं तो उनकी आप जो सेवा कर रहे हो वह भी भावात्मक ही है. कैसे? क्योंकि आप ठाकुरजीमें ऐसा भाव रख रहे हो कि यह पत्थर अथवा धातु की मूर्ति नहीं है अपितु यह मेरे व्रजका

कृष्ण ही है. और आप जो सेवा कर रहे हो वह पूजा अथवा अर्चना नहीं कर रहे हो, पर आप यह सोच रहे हो कि मैं किसी टाइम्-मशीन्में बैठ कर व्रजमें आ गया हूं. क्या आप भौतिक रूपसे उस कालके व्रजमें हो सकते हो? नहीं. पर भावात्मक रूपसे आप हो सकते हो. इसलिए जो भी वस्तु आप सेवामें उपयोगमें ला रहे हो, वह सब व्रजकी वस्तु होगी. व्रजकी वस्तु आज आपके पास कहांसे आयेगी? जो वस्तु आप उपयोगमें ला रहे हो, वह केवल आलंबन-विभाव है. आपकी भावना तो व्रजकी ही है. जैसे आज जो यमुनाजी बह रही हैं, वह तो दिल्लीकी गटर् है, पर अपनी भावात्मक यमुनाजी अपने हृदयमें आज भी वैसी ही हैं, जैसी उस कालमें थी. वह मानसिक छबि बनी हुयी है जो अपने हृदयमें बस गयी है. अपन् जिस सिंहासनपर ठाकुरजीको बिराजमान करते हैं, उसके दोनों ओर दो तकिये लगाते हैं और भावना यह करते हैं कि यह यशोदाजीके दो हाथ हैं और ठाकुरजी यशोदाजीकी गोदमें बिराज रहे हैं. अब तकिये पदार्थके रूपमें हाथ कैसे हो सकते हैं? नहीं हो सकते, पर भावात्मक रूपसे हो सकते हैं. ठाकुरजीके सामने हम जो खिलौने सजा रहे हैं वे उन पशु-पक्षियोंके हैं जो उस समय व्रजमें होते थे. हम ऐसी भावना करते हैं कि उस समय जिन पशु-पक्षियोंके बीच ठाकुरजी रहते थे, आज मेरे घरमें उन्हींके बीच ठाकुरजी खेल रहे हैं. यह पदार्थके रूपमें नहीं हैं, पर आपका भाव ऐसा है. इसीलिए महाप्रभुजी कह रहे हैं कि **सर्वा भगवतः सामग्री निर्गुणा**. आप झारीजी सोनेकी चांदीकी पीतलकी मिट्टीकी जिसकी भी पधराते हो, वह किसी कारण टूट सकती है. पर आपके भावकी जो झारी है वह तभी टूटेगी जब आपका भाव खंडित होगा. नहीं तो यह टूट नहीं सकती. जहां-तक आपका भाव यह है कि मैं यमुनाजलकी झारीजी ठाकुरजीको धर रहा हूं, वहां तक यह झारी टूट नहीं सकती. इसीलिए हम झारीजीमें यमुनाजीका भाव करते हैं. भाव भी ऐसा कि उन्हें लाल ओढ़नी भी उढ़ा देते हैं. इस प्रकार

सेवामें उपयोगमें आती सारी सामग्री निर्गुण हैं. सेवा लेनेवाला निर्गुण है, सेवाकर्ता निर्गुण है और सेवाकी कथा भी निर्गुण है. अवतार कालमें यह भौतिक थी. पर जब तुम उसका भाव कर रहे हो तो वे सारे पदार्थ हमें उपलब्ध नहीं हैं, **''आस्से श्रुतेक्षितपथो''** व्रजकी लीला गा-गा कर आपके मनमें यह भाव स्थापित हुआ है और गायी हुयी, सुनी हुयी लीलाओंसे जो आपके मनमें छबि बनी, उस छबिके साथ आप खेल रहे हो. इस अर्थमें अपने यहां सेवा भावात्मक है.

भक्तिकी आवश्यकता क्या है, यह समझो. सांख्यके लिए सत्त्वमूर्ति ठीक है. क्योंकि सांख्यके अनुसार पुरुष निराकार है और आपके पास वह सुविधा उपलब्ध ही नहीं है. हमारे लिए भगवान् निराकार नहीं है और किसी आकार तक सीमित भी नहीं है. हम इसे भगवान्का 'विरुद्धधर्माश्रयी' स्वरूप कहते हैं. इसके लिए पाश्चात्य फिलॉसॉफीमें एक शब्द है Coincidentia oppositorum जो दो बातें आपसमें विरोधी हों, उनका संयोग. मानें कोई भौतिक पदार्थ है वह मानसिक भी हो सकता है. कोई मानसिक छबि है वह भौतिक भी हो सकती है. जो निराकार है वह साकार भी हो सकता है. दो विरोधी गुण जहां मिल जाते हों, उसे पाश्चात्य फिलॉसोफीमें 'Coincidentia oppositorum' कहते हैं. यह अपने 'विरुद्धधर्माश्रय' शब्दका सीधा-सीधा अनुवाद है. **सत्त्व'एव'कारो राजस-तामस-व्युदासार्थः**. यहां सत्त्वमें जो **एव**कार लगाया है इसका अर्थ है कि जब सत्त्वमूर्तिमें ही राजस-तामस गुण नहीं होते तो निर्गुणमें किस प्रकार हो सकते हैं! **एकमनसः इति, एकमेव मनो यस्य. मनोऽपि द्विविधं, दैवासुरविभेदेन.** जिस प्रकार इन्द्रिय दो प्रकारकी होती हैं, उसी प्रकार मनके भी दो विभाग दैव और असुर होते हैं. **तत्र आसुरं सङ्कल्प-विकल्पात्मकं नानाभावापन्नं गुणैः च क्षोभम् एति.** मनका असुर पक्ष निरंतर संकल्प-विकल्पात्मक होता है. मनका

इस प्रकारका होना अपनी सुरक्षाके लिए दिया गया वरदान जैसा है. मन यदि संकल्प-विकल्पात्मक न हो तो हम जी ही नहीं सकेंगे. सोचो कि आप रोड्के ऊपर चल रहे हो और आपका ध्यान कहीं और लगा है. अब पीछेसे यदि कोई गाड़ी आये तो इसका पता आपको किस प्रकार चलेगा? ध्यान कहीं और होनेपर भी पीछेसे गाड़ी आ रही है, इसकी अवेयरनेस् कौन जगाता है? संकल्प-विकल्पात्मक मन जगाता है. मनको बनाया ही एक साथ कई क्रिया करनेके लिए है. मनके साथ यही समस्या है कि उसको किसी काम करनेसे मना करनेका अर्थ ऐसा ही है जैसे किसी छोटे बालकको एक जगह बैठनेके लिए कहना. बालक हो तो वह एक स्थानपर बैठ नहीं सकता और एक स्थानपर बैठ जाये वह बालक रह नहीं जाता. मन बना ही एक साथ कई क्रिया करनेके लिए है. पर इसी कारण इसको इस दृष्टिसे 'आसुरी' कहा गया है. आपने देखा होगा कि लोग टी.वी. देख रहे होते हैं, साथमें भोजन भी कर रहे होते हैं, साथमें मोबाइल्पर बात भी कर रहे होते हैं. मन बना ही ऐसा है. पर कोई अच्छा काम करना हो जैसे परीक्षाके उत्तर लिखने हैं तो मन एक स्थानपर रहे बिना तो लिखा नहीं जा सकता. इसलिए जब भी आपको किसी कामके लिए एकाग्रचित्त होना है तो मनकी भटकनेकी वृत्ति आपको बाधा पहुंचाती है. **सङ्कल्प-विकल्पात्मकं नानाभावापन्नं गुणैः च क्षोभम् एति**. इस तरह मनमें निरंतर संकल्प-विकल्पके नाना भाव चलते रहते हैं. और किसी भी प्रकारके गुणके द्वारा हुए क्षोभसे पीड़ित हो जाता है. मन सदा विचलित होनेके लिए तैयार ही रहता है. मनका विचलित न होना एक अपवाद है. कुछ भी हो जाये तो सबसे पहले मन विचलित हो जाता है. **दैवन्तु एकस्वभावापन्नं मननात्मकमेव**. दैव मन विचलित नहीं होता है. वह एकस्वभावात्मक होता है. **इन्द्रियाणितु उभयविधान्येव भवन्तु नाम कार्यमेव आसुराणां बाध्यते. मनसातु द्वितीयेन न भाव्यमेव**. और इन्द्रियोंका विचलित होनेका आसुरभाव मनके आसुरभावसे ऊंचा नहीं है. मनका विचलित

होनेका आसुरभाव इन्द्रियोंके आसुरभावको रद्द कर सकता है. इन्द्रिय कभी भी मनके भावोंको उलट नहीं सकती.

सत्तरके दशकमें सांताक्रूज़ हवाई अड्डेसे एक हवाई जहाज उड़ा और उसमें आग लग गयी. पायलट्ने हवाई जहाजको समुद्रमें उतार दिया. हवाई जहाजमें बहुत तेज आग लगी थी. ऐसे समयमें बिना विचलित हुए एकाग्र मनसे यह निर्णय लेना कि हवाई जहाजको पानीमें उतारना ही ठीक होगा, यह एक दैवी मनका लक्षण है. जब भी मन दैवी भावमें होता है तो स्थिर होता है और जब भी आसुरी भावमें होता है तो विचलित होता है. मनका स्थिर होना इन्द्रियोंको भी नियंत्रित कर सकता है. आपका भाव कितना भी सात्त्विक हो पर मन यदि आपका विचलित है तो भाव स्थिर नहीं रहेगा. आवश्यकता भाव और मन के समन्वित होनेकी है. इसीलिए महाप्रभुजी कहते हैं कि मनकी दैवभावापन्नताकी आवश्यकता है. **सत्त्वएव एकमनसो** कह रहे हैं. भक्तिके लिए केवल भावका ही रोल् नहीं है, मनका भी है. एक वार्तामें आता है कि माता-पिताने अपने पुत्रसे कहा कि वह किसी कामका नहीं है. अपने आपको सिद्ध करनेके लिए उसने निश्चय किया कि वह पैसा कमायेगा. अचानक उसकी महाप्रभुजीसे मुलाकात हुयी और उनसे प्रभावित हो कर उसने उनसे ब्रह्मसंबंधकी इच्छा जाहिर की. उसी वार्तामें आता है कि महाप्रभुजीने उससे कहा कि ''तेरी पैसे कमानेकी इच्छा है, तू पहले वह कमा ले. क्योंकि विचलित मनसे भक्ति निभेगी नहीं. जब तेरा मन स्थिर हो तब तू आना. तब मैं तुझे दीक्षा दूंगा.'' हम क्या करते हैं कि कर्तव्यबोधसे सेवा तो पधरा लेते हैं एक-दूसरेको देख कर. पर अपनी प्राथमिक आवश्यकता स्थिर मनकी है. मन स्थिर न हो तो जो हमारा उद्देश्य है वह पूरा नहीं होता. इसीलिए महाप्रभुजी कहते हैं कि विक्षेप हो तो सेवा छोड़ दो क्योंकि ऐसी सेवासे कोई लाभ नहीं होता. महाप्रभुजी कहते हैं ''**स्वतःप्रवृत्तिरहितानि**

**इन्द्रियाणि बलाद् भगवति योज्यमानानि विक्षेपं जनयन्ति विग्रहकर्षितानि''** (त.दी.नि.प्र.२।२४७) आपका मन यदि स्वत: ही उस ओर आकृष्ट न हो और आप किसी कर्तव्यवश अथवा किसी और कारणसे इन्द्रियोंपर जबरदस्ती करोगे तो स्थिति बिल्कुल ऐसी होगी जैसी आप घोड़ेपर सवार होते हो तो घोड़ेकी लगाम अधिक खींचनेके कारण घोड़ा आपको आगेके पैर ऊंचे करके नीचे पटक देता है. ठीक उसी प्रकार आपकी इन्द्रियाँ घोड़ेके जैसी हैं. उनकी लगाम आप अधिक खींचोगे तो आपको पटक देंगी. उनको त्रास न हो इस प्रकार आपको उन्हें संभालना चाहिये.

एक बहुत सुंदर फिल्म आयी थी. नाम तो मुझे याद नहीं है. उसमें नॉर्थ यूरोपकी एक नन् है. उसके गांवमें नॅपोलियन्की सेना अॅटॅक् करने आयी है. नन्को नॅपोलियन्का कमांडर् अच्छा लगने लगता है. वह इतनी अधिक इस बातसे विचलित हो जाती है कि वह ननहुड् छोड़नेके लिए भी तैयार हो जाती है. इस कारण वह मदर् मेरीसे प्रार्थना करती है कि ''अब मुझसे अपने ऊपर नियंत्रण नहीं होता और मैं इस कमांडर्के साथ भाग रही हूं. तू मुझे माफ करना.'' मदर् मेरी उसकी प्रार्थना सुन लेती है और वह उसका रूप धरके रोजानाकी प्रार्थनामें सम्मिलित होती रहती है. चार-पांच वर्ष बाद वह नन् वापस आती है और अपनी सीनियर् नन्से कहती है कि ''मुझे माफ कर दो मैं बहक गयी थी. पर अब मैं वापस आ गयी हूं.'' सीनियर् नन् उससे कहती है ''तू गयी ही कहां थी!'' तब यह पता चलता है कि मदर् मेरी उसकी एवजमें वहां हाजिर रहती थी. इससे एक बात समझमें आती है कि प्रार्थनामें सम्मिलित होना, यह उस नन्का स्थिरभाव था पर मन विचलित होनेके कारण वह उस कमांडर्के साथ भाग गयी.

इसीलिए महाप्रभुजी कह रहे हैं **आसुराणां बाध्यते. मनसातु**

**द्वितीयेन न भाव्यमेव तथा सति इन्द्रियाणां पूर्वोक्ता वृत्तिः न स्यात्. अतः एकम् एकस्वभावापन्नं मनो यस्य, तस्यैव भक्तिः.** इसलिए जिसका मन एकस्वभाव, एकभाव पूर्णरूपसे ग्रहण कर लेता है, वह व्यक्ति ही भक्ति कर सकता है. क्रिया तो कोई भी कर सकता है क्योंकि मन अपने भीतर अनेक क्रिया एक साथ करनेके लिए बना ही है. हमें ख्याल ही नहीं रहता कि हम एक साथ कितनी क्रियाएं कर रहे होते हैं. जिस समय हम देख रहे होते हैं, उस समय सुन भी रहे होते हैं और इन दोनोंके साथ कुछ और विचार भी कर रहे होते हैं. **अन्येषान्तु यथाकथञ्चित् क्रियमाणा भगवति खण्डशो वृत्तिः अक्षयत्वाद् बहुभिः जन्मभिः पुष्टिंगता** जिसका मन अभी एकस्वभावापन्न नहीं हुआ है ऐसे लोग खण्डशः भक्ति करेंगे तो उनका उस नन् जैसा ही हाल होगा. और खंड नहीं होगा तो एकस्वभावापन्न हो कर लग जायेगा. यह सब आयेगा भक्तिका एक हिस्सा बन कर ही. यह बात भूलना मत. यह सब कुछ भक्तिके लिए नहीं कहा जा रहा है परन्तु भक्तिका स्वरूप समझानेके लिए कहा जा रहा है. **अन्तिमजन्मनि भक्तिरूपं वृत्तिं जनयिष्यतीति न कापि अनुपपत्तिः. वृत्तिः तन्निष्ठता, नतु ग्रहणमात्रम्.** 'वृत्ति'का अर्थ है किसीका कहीं मौजूद होना. इसीसे 'वर्तमान' शब्द बना है. 'वर्तमान' मानें अभी होना. 'वृत्ति' मानें 'अभी है'. पर जब हम 'वर्तमान' कहते हैं तो यह अभीके मानें प्रेज़ेंट् टेंस्के अर्थमें आता है पर जब 'वृत्ति' कहते हैं तो भूत भविष्य वर्तमान सभीके एक जनरल् प्रयोगमें आता है. इसलिए मनकी वृत्ति मानें मनका कहीं होना. अब ध्यान रहे कि यह 'होना' शब्द है 'जाना' नहीं है. जानेकी तो मनमें अद्भुत शक्ति है. बंदरकी तरह एक डालपर बैठ नहीं सकता. इस डालसे उस डालपर, उस डालसे किसी और डालपर, निरंतर कहीं चलता रहता है. इसीलिए कह रहे हैं कि मनके जानेका नाम भक्ति नहीं है, मनके होनेका नाम 'भक्ति' है. दोनों बातोंमें बहुत अंतर है. जानेको तो मन कहीं भी जा सकता है. क्योंकि मनको कोई भी

दिशा रोक नहीं सकती. कोई ताला ऐसा नहीं है कि जिसको मनके दरवाजेके ऊपर लगाया जा सके. तुम यहां बैठे-बैठे भी अमेरिकाका ध्यान आनंदसे कर सकते हो. मनके साथ कोई भी समस्या नहीं है. मोबाइलको अमेरिका मिलानेमें समय लग सकता है पर मनको कोई समय नहीं लगता. इसीलिए कह रहे हैं कि **वृत्तिः तन्निष्ठता, नतु ग्रहणमात्रम्** मानें उसमें व्यवस्थित हो जाना, केवल ग्रहण करना ही नहीं. **सापि वृत्तिः औत्पत्तिकी; यथा प्रह्लादस्य, अन्येषां वा भक्तानाम्.** इसके अलावा यह वृत्ति औत्पत्तिकी होनी चाहिये जैसी प्रह्लादकी थी. प्रह्लादको जलाने गये तो भी उनकी भक्ति खंडित नहीं हुयी, पहाड़से फैंका गया तो उनकी भक्ति खंडित नहीं हुयी, मारने गये तो भक्ति खंडित नहीं हुयी क्योंकि उन्हें भगवान्में अभाव आता ही नहीं है, इसीलिए उन्हें निष्ठ कहा है.

मेरे पास एक भाई आ कर बोले कि ''महाराज, ठाकुरजी पधरा दो.'' मैंने पधरा दिये. थोड़े दिन बाद उन दो भाईयोंमें झगड़ा हुआ, उसमें कोर्ट-बाजी भी चली और इस कारण उनका बिज़नेस् भी ठप्प हो गया. मुझसे आ कर बोले ''महाराज, ये ठाकुरजी हमें माफिक नहीं आये.'' मैंने पूछा ''क्या हो गया?'' बोले ''जबसे आये हैं तबसे कुछ न कुछ घरमें खराब ही हो रहा है.'' मैंने पूछा ''क्या ठाकुरजीके अलावा इस दरमियान और कोई आपके घर नहीं आया?'' बोले ''नहीं, ऐसा तो नहीं है. नई बहु आयी है. दो लड़के भी परिवारमें हुए हैं.'' मैंने कहा ''तो तुम अकेले ठाकुरजीको ही दोष क्यों दे रहे हो. यह उनके कारण भी तो हो सकता है.'' इससे हम समझ सकते हैं कि हम ठाकुरजीको इसलिए पधराते हैं कि अब घरमें कोई तकलीफ नहीं आनी चाहिये. पर तकलीफ आये और कोई अगर डगमगा जाता हो तो बात एकदम साफ है कि वह व्यक्ति भक्तिके लायक तो नहीं है. सुखके लिए तो ऐसा सोचा जा सकता है कि किसी कामसे यदि हमारी तकलीफ

बढ़ती हो तो हमें वह काम नहीं करना चाहिये. गालिब इसे बहुत अच्छे प्रकारसे कहता है. *''मौज़-ए-खूं सरसे गुज़र ही क्यूं न जाए, आस्तान-ए-यारसे उठ जाएँ क्या?''* मैं अपनी महबूबाकी दहलीज़पर बैठ गया हुं. अब जो होना है हो. दंगा हो, मारकाट हो, कुछ भी हो पर मैं अब यहांसे उठनेवाला नहीं हूं. यह है भक्तिकी वृत्ति. जो ऐसी तकलीफके कारण उठ जाता है, उसका व्यवहारका लेवल् ठीक हो सकता है पर भक्तिकी बात तो जाने दो, वह व्यक्ति प्रेमके लिए भी ठीक नहीं है.

एक डेढ साल पहलेकी बात है, मेरा एक मुस्लिम दोस्त असलम था जो बहुत ही अच्छा गायक था. उसके दोनों पैर खड़े रहनेमें असमर्थ हो गये, उसकी बीबी मर गयी, दो जवान बेटे भी ॲक्सीडॅन्ट्में मर गये. फॅमिलीमें कोई भी उसे सपोर्ट देनेके लिए नहीं था. उसे टॉयलेट् भी जाना होता तो ऊपर एक रस्सी बांध रखी थी, उसे पकड़ कर जाता था. सुबह मैं जब भी उसे फोन करता तो वह गा रहा होता था. मैं उससे पूछता ''तुम सुबह गाते हो, कौन तुम्हें प्रोग्राम् देनेके लिए बुलायेगा?'' वह कहता ''महाराज, कोई बुलाये या न बुलाये, पर मुझसे गाये बिना रहा नहीं जाता. सुबह उठ कर मैं रोज रियाज़ करता हुं. यह तो अब जीवनके साथ ही जायेगा.'' जब वह मरा तो उससे चार दिन पहले तक वह गाता रहा. यह है प्रेमकी पराकाष्ठा! उसका कोई प्रोग्राम् भी नहीं रखता था. वह कहता था कि इन लोगोंका दुर्भाग्य है कि अच्छी गायकी लोग नहीं सुन पा रहे हैं. मैंने उसका एक प्रोग्राम् यहां एक कॉलेज्में रखवाया था. बहुत ही अच्छा गायक था. उसे चिंता नहीं थी कि लोग उसे सराह रहे हैं कि नहीं, उसका खर्चा किस प्रकार चलेगा, यह उसका संगीतके प्रति प्रेम है. इसी प्रकार यदि ठाकुरजीके प्रति आपमें भक्ति है तो आप उनको किस प्रकार शृंगार रहे हो, किस प्रकार उन्हें भोग धर रहे

हो, किसीको दर्शन करवानेकी आपको क्यों कामना होनी चाहिये. यदि हो रही है तो यह बात तो तय है कि आपको ठाकुरजीसे प्रेम नहीं है, आपको अपनी प्रसिद्धिसे प्रेम है. यदि आपको ठाकुरजीसे प्रेम है तो फिर आपको दूसरेकी चिंता क्यों होनी चाहिये कि वह सराह रहा है कि नहीं. वह गाता था अपने लिये. ऐसे चार-पांच साल उसने निकाले. यही हाल प्रह्लादका था. उसे कभी भी अपने परिवारसे प्रोत्साहन नहीं मिला. सभी उसकी भर्त्सना करते थे कि यह माँ बाप संस्कृति समाज सभीका विरोधी है. उसे कोई चिंता नहीं थी एकदम गालिबके शेरकी तरह. ऐसे और भी कई भक्त हुए हैं.

**एतावद् दूरे न अस्मिन् जन्मनि साधनसाध्यता, किन्तु पूर्वजन्मवशादेव एवंभूतो भवति. अग्रे विशेषं वक्तुं शब्दम् आह. जन्मान्तरेण व्यवधानात् पूर्वजन्मवृत्तिः 'यत्'शब्देन परामृश्यते. फलरूपे जन्मनि सा अनिमित्ता भवति,** कहते हैं कि यदि तुमने इतना फासला तय कर लिया तो, कई लोग ऐसा सोचते हैं कि इतना कोई कर पा रहा है तो यह सब उसके पूर्वजन्मोंमें किये हुए पुण्य हैं जिसके कारण वह कर पा रहा है. महाप्रभुजी कहते हैं कि हो सकता है कि आपके पूर्वजन्मोंके कर्मोंके फलस्वरूप यह हो पा रहा हो. पर जिस जन्ममें आपकी भक्तिने यह मुकाम हासिल किया है, उस समय आपको इसका कारण समझ नहीं आता कि ऐसा क्यों हो रहा है. जैसे मैं यदि मेरे मित्र गायकको पूछता कि इस गायकीसे तुम्हें कुछ हासिल तो नहीं हो रहा. फिर तुम क्यों गाते हो? उसके पास इस बातका कोई उत्तर नहीं था. वह तो गानेके लिए गाता था. उसे गानेसे सच्चा प्रेम था. हो सकता है कि प्रारंभिक अवस्थामें कोई कारण रहा हो. पर आप जब इस अवस्थामें पहुंच जाते हो तो आपके पास उसे करनेका कोई कारण नहीं रह जाता. मुझसे भी किसीने पूछा था कि ''सेवा क्यों करनी चाहिये.'' मैंने उत्तर

दिया ''समय बर्बाद करनेके लिए. आपको और कुछ पूछना है?''

महाप्रभुजी और चैतन्य संप्रदाय अथवा मीराकी भक्तिके दृष्टिकोणके मूलभेदको समझना हो तो आप एक दोहा लिख लो *''भक्ति भाव भादों नदी, आवत ही गहराय, गहराईको सराहिये जब जेठ मास ठहराय.''* भाव भक्ति और भादोंकी नदी जब आती है तो बहुत जोरसे आती है पर आश्विन आने तक वह सूख जाती है. नदीको गहरी तब ही कही जायेगी जब वह जेठ महीने तक उसी प्रकार बहती रहे. इसी प्रकार भाव और भक्ति की भी यही दशा है. आते हैं तो भर कर आते हैं पर परीक्षाकी घड़ीमें सूख जाते हैं.

इसलिए कह रहे हैं **स्वतन्त्रा, भगवन्निमित्ता वा. भगवतः सकाशात् फलानि निमित्तानि. या अनिमित्ता सा भक्तिः** इसमें यदि आपको कोई कारण समझ आ रहा है अथवा आप उसका कोई औचित्य ढूंढ पा रहे हैं तो केवल यह मिलना चाहिये कि भगवान् मुझे अच्छा लगता है इसलिए मैं भक्ति कर रहा हूं. उसका और कोई कारण होना ही नहीं चाहिये. जब आप यह कह रहे हैं कि भगवान् मुझे इस कारणसे अच्छा लगता है तो फिर भगवान्के अलावा कोई और कारण आ गया भक्ति करनेका.

कालीदासने बहुत सुंदर लिखा है कि जब पार्वती जिद्द पकड़ कर बैठी है कि मुझे महादेवसे ही विवाह करना है. उस समय पार्वतीके पिता घबरा गये कि ''महादेव तो स्मशानमें बैठते हैं, मुर्देकी राख लगाते हैं, साँप गलेमें टांगते हैं, उनके साथ विवाह करके करेगी क्या?'' उसके बाद महादेवजी स्वयं वहां वेष बदल कर आते हैं और पार्वतीसे कहते हैं कि ''तू जिसे पसंद कर रही है उसकी आदत तुझे पता है. वह नंगा रहता है, स्मशानमें बैठता है, मुर्देकी राख लगाता है, साँप गलेमें टांगता है.'' पार्वती उन्हें

जवाब देती है कि ''यह बात जो आप कह रहे हो, वह सत्य है. पर मुझे ऐसे ही महादेव वररूपमें चाहिये.'' यह सुन कर महादेवजी भी चुप रह जाते हैं. अब आगे क्या समझाया जा सकता है! वहां पार्वतीने जो शब्द उपयोगमें लाये हैं वह इस प्रकार हैं **''ममात्र भावैकरसं मनः स्थितं न कामवृत्तिः वचनीयम् ईक्षते''** ( कुमारसम्भव ५।८२ ) मेरे भावमें मेरा मन सराबोर हो गया है और वहां स्थिर हो गया है. अब उसे न चाहनेका कोई भी कारण मुझे समझ नहीं आ रहा.'' यह सुननेके बाद महादेवजी भी चुप रह जाते हैं.

**भगवतः सकाशात् फलानि निमित्तानि. या अनिमित्ता सा भक्तिः** भक्ति जो 'अनिमित्ता' कहनेमें आ रही है वह इस अर्थमें कि भक्तिका जो आलंबन है, उसके सिवाय और कोई भक्तिका आलंबन नहीं है. और कोई निमित्त आया तो इसका अर्थ है कि मस्तिष्कमें कुछ अस्थिरता है. **किञ्च, सा चेद् भागवती भवति, साक्षाद् भगवन्तं विषयीकरोति, भगवद्भावं वा षड्गुणरूपताम् आपद्यते.** और इसे भागवती क्यों कहनेमें आया है? भगवान्से जो संबंधित हो उसे 'भागवत' कहा जाता है. उसीका स्त्रीलिंग भागवती है. पुलिंगमें इसे 'भागवतः' कहा जाता है. नपुंसक लिंगमें इसे 'भागवतम्' कहा जाता है. भक्ति स्त्रीलिंग होनेके कारण उसे 'भागवती' कहा गया है. 'भागवती'का अर्थ है **साक्षाद् भगवन्तं विषयीकरोति** जो भक्ति कर रहा हे उसे कभी ऐसा नहीं लगता कि मुझे भगवान्का साक्षात्कार नहीं है. इसका एक उदाहरण देता हूं.

मैं जबलपुर गया. वहां एक लड़की थी जिसने ब्रह्मसंबंध ले कर चार-पांच सालसे सेवा शुरू की थी. जब मैं वहां गया तो रोने लगी. मैंने पूछा कि ''किस बातपर रोना आ रहा है.'' बोली ''ठाकुरजीने कंस और पूतना जैसोंको दर्शन दिये और मैं पांच सालसे सेवा कर रही हूं, मुझे दर्शन क्यों नहीं देते?'' मैंने उससे एक बात पूछी ''यदि ठाकुरजी तुझे दर्शन नहीं दे रहे है तो तू सेवा

कौनकी कर रही है?'' बोली ''नहीं नहीं, ऐसे तो दर्शन हो रहे हैं'' मैंने कहा ''ऐसे हो रहे है, वैसे नहीं हो रहे, इसीलिए दर्शन नहीं दे रहे है. जिस दिन तुझे यह लगेगा कि यदि ठाकुरजी दर्शन नहीं दे रहे है तो मैं सेवा कौनकी कर रही हूं, उसी दिन ठाकुरजी तुझे दर्शन देने लगेंगे.'' पर जब आपने स्वयं ही निर्णय कर लिया है कि तुम जिसकी सेवा कर रहे हो, वह ठाकुरजी नहीं है और जिनके दर्शन नहीं हो रहे है वह ठाकुरजी तो मौजूद नहीं है तो तुम्हारा दोहरा व्यक्तित्व हो गया. यदि आपका ऐसा दोहरा व्यक्तित्व है तो भगवान् आपके पास कैसे आयेंगे!. जैसे आपके पास एक शहरमें मकान है और एक पहाड़ोंपर मकान है. पहाड़पर मकानमें छुट्टी मनाने ही तो हम जायेंगे, रोज थोड़े ही जायेंगे! इसी प्रकार तेरे मनमें भगवान् कभी आते होंगे, कभी जाते होंगे. भगवान्ने तेरे मनको अपने रहनेका घर तो नहीं माना न! आते हैं कभी-कभी.

इसीलिए कह रहे हैं कि **भगवद्भावं वा षड्गुणरूपताम् आपद्यते** भगवान्को भगवान् क्यों कहा जाता है? जिसमें ऐश्वर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य वीर्य, यह छह गुण हों उसे 'भगवान्' कहा जाता है. यदि आपकी भक्ति भगवान्से संबंधित है तो वह भी इन छह गुणोंवाली हो जाती है. अपनी भक्तिको किसी आपराधिक दृष्टिसे मत देखो कि मेरी भक्ति तुच्छ है. क्योंकि आपकी भक्तिको भगवान्ने नहीं बनायी है. बल्कि आपकी भक्तिने आपके लिए भगवान् बनाया है. यदि भगवान् नहीं भी हैं तो आपकी भक्ति उसकी रचना कर देगी, भक्तिकी यह सामर्थ्य है. हो सकता है कि किसीकी भक्ति भगवान्के द्वारा दी गयी हो. पर इस प्रक्रियासे जो भक्ति कही जा रही है; कौनसी प्रक्रिया? ''**त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोजः आस्से श्रुतेक्षितपथो ननु नाथ! पुंसाम्**'' (भाग.पुरा.३।९।११) यह भगवान्को उत्पन्न करनेवाली भक्ति है. अब इसके बाद यहांसे इस प्रकारकी भक्तिमें पूर्वजन्मका क्या रोल् है, यह बात आ रही है.

सृष्टिको देखनेके लिए उसके जो मॅकेनिज़म् हैं, उसको अच्छी प्रकारसे समझनेके लिए बहुत सारे मापदंड श्रुतियोंने उपयोग किये हैं. किसी समय श्रुति ऐसा कहती है कि यह सारी सृष्टि एक यज्ञ है. इसलिए जब आप यज्ञ कह रहे हो तो सृष्टिके पैदा होनेके हर लेवल्पर आपको यज्ञकी प्रक्रिया दिखलायी देती है. किसी समय श्रुति और शास्त्र इस सृष्टिके पैदा होनेकी प्रक्रियाको इस प्रकार बताते हैं कि यह एक लीला है. इस प्रकार समझोगे तो सृष्टिके पैदा होनेकी प्रक्रियाके हर लेवल्पर आपको एक लीला, एक खेल दिखायी देगा. किसी भी एक वस्तुका फॉरमेट् कैसा लेना, यह अपने देखनेकी शैलीपर निर्भर करता है. उदाहरणके लिए काश्मीर शैविज़म्में एक बहुत ही सुंदर बात कही गयी है कि शिवकी आत्मचेतना एक कॅनवास्की तरह है. शिवकी शक्ति ब्रश है. उस ब्रशकी सहायतासे अपनी ही सामर्थ्यसे शिव इस ब्रह्माण्डकी, इस सृष्टिकी पेंटिग् बनाते हैं. पूरा ब्रह्माण्ड ही एक पेंटिगकी तरह, एक कलाकी तरह परिभाषित किया गया है. कॅनवास् कौनसा है? शिवकी अपनी आत्मचेतना. ब्रश कौनसा है? शिवकी सामर्थ्य. जैसे अपने यहां 'सर्वभवनसामर्थ्य' कहा जाता है, वही बात वहां शक्तिके रूपमें कही गयी है. शिव-शक्ति मानें अपनी आत्मचेतनाके पटलपर अपनी सामर्थ्यसे जो कलाकृति बनी, वह सृष्टि है, जगत् है. जब हम इस विचारको हृदयमें धारण करके इस जगतको देखेंगे तो हमें सारा जगत एक कलाकृतिके रूपमें ही दिखायी देगा.

कई बार हमें सृष्टिकी बहुत सारी वस्तुएं समझ नहीं आती. जैसे आज हमारा किसीके साथ संबंध है और कल वह टूट जाता है तो हम ऐसा ही तो कहते हैं कि "उस संबंधकी बात तो सपने जैसी हो गयी." यदि एक बार यह बात हमारे मस्तिष्कमें बैठ जाये तो सारी सृष्टि सपने जैसी दिखायी देगी, जैसे शांकर और बौद्धों को दिखायी देती है. पंडित जसराजजीका एक बहुत

सुंदर भजन है. *कोई नहीं अपना, जगत यह रैनका सपना.* यह जगत रातमें आते सपने जैसा है क्योंकि यहां कोई भी अपना नहीं है. सपना जब-तक चल रहा है तब-तक सारे संबंध सच्चे लगते हैं पर टूटनेके बाद सारे संबंध भी बिखर जाते हैं. आप इस सृष्टिको किस प्रकार देख रहे हो, इसका आपके जीवनदर्शनपर बहुत प्रभाव पड़ता है.

यदि यह बात आपको समझ आ गयी हो तो आपको यह समझनेमें तकलीफ नहीं होगी कि श्रुति पूरे जीवनकी प्रक्रियाको एक यज्ञके रूपमें लेती है. यज्ञका स्वरूप समझो. **देवतोद्देशेन द्रव्यत्याग: 'याग:'**'' किसीको भी देवता मान कर उसके लिए यदि हम अपनी वस्तुकी आहुति देते हैं तो उसका नाम 'यज्ञ' है. जो आजके साइंस्में नाइट्रोजन्का साइकल् है कि पहले बरसातमें हवामेंसे नाइट्रोजन् पानीके साथ मिल कर जमीनमें जाता है, फिर बीज बनता है, फिर पौधा बनता है. उसके बाद मनुष्यों एवं जानवरों के द्वारा उसका भक्षण होता है, उसका एक्सक्रेटा वापस नाइट्रोजन् गॅस् बन कर वायुमंडलमें छूट जाता है. इस प्रकार यह साइकल् चलता ही रहता है. जितने स्टेप् नाइट्रोजन् साइकल्के हैं, उतने ही पंचाग्नि-विद्याके हैं. पंचाग्नि-विद्यामें यह कहा गया है कि पृथ्वी एक अग्निरूप है जिसमें बरसात अपनी आहुति दे रही है. इस आहुतिसे जीव पृथ्वीमें आता है. उससे अन्न पैदा होता है. इस अन्नकी आहुति हम अपने शरीरमें देते हैं. उससे वीर्य उत्पन्न होता है. वीर्यकी आहुति स्त्रीमें दी जाती है, उससे बालक उत्पन्न होता है. यह भी एक यज्ञ है. जब जीव मर जाता है तो वापस वातावरण अथवा प्रकृति में लीन हो जाता है. यह भी वातावरणको हमारी ओरसे दी गयी आहुति ही है. इस प्रकार यज्ञका एक साइकल् चल रहा है. इसे 'पंचाग्नि-विद्या' कहा जाता है. इस प्रकार जीवनकी जो प्रक्रिया है वह यज्ञकी तरह साइक्लिकल् है. एककी आहुति दूसरेमें, दूसरेकी आहुति तीसरेमें,

तीसरेकी चौथेमें, चौथेकी पांचवेमें और अंतमें पांचवेकी वापस पहलेमें.

यहां मुद्दा एक खड़ा होता है कि इतने सारे जीव जो उत्पन्न हो रहे हैं और मर भी रहे हैं तो इस प्रक्रियामें कभी कमी अथवा बढ़ोतरी होती है कि नहीं? इसके उत्तरमें वहां यह कहा गया कि आपको इस साइकल्के चालू रहनेके कारण यह कमी अथवा बढ़ोतरी किसी एक लेवल्पर ही दिखलायी देती है. पर इस प्रक्रियाको पूरे तौरपर देखनेसे यह संतुलित हो जाती है. न तो कुछ घट रहा है और न कुछ बढ़ रहा है. पर हर लेवल्पर कोई एक वस्तु खत्म होती दीखती है और कोई दूसरी वस्तु पैदा होती दिखलायी देती है. पर आप यदि पूरी प्रक्रियापर दृष्टि डालें तो न कुछ घट रहा है और न कुछ बढ़ रहा है. इस प्रकार जीवनका जो चक्र है, वह यज्ञात्मक है. और जो व्यक्ति इस जीवनचक्रको यज्ञात्मक जानता है; जैसे भगवान् गीतामें कहते हैं कि **''अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्याद् अन्नसम्भवः, यज्ञाद् भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः. कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवं, तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्.** (भग.गीता ३।१४-१५) अन्नसे सारे जीव उत्पन्न होते हैं. अन्न बरसातसे उत्पन्न होता है. बरसात बादलोंसे होती है. बादल समुद्रसे उत्पन्न होते हैं. सभी अपनी आहुति दूसरेमें दे रहे हैं. इस प्रकार यह साइकल् चलता ही रहता है. जिसे इस बातका ज्ञान है उसे जीवनको देखनेकी एक अलग प्रकारकी दृष्टि मिलती है कि यहां सभी कुछ साइक्लिकल् ही चलता है.

जिन लोगोंको यह ज्ञान नहीं होता है, वे लोग दुःखी होते रहते हैं. क्योंकि वे लोग यह सोचते हैं कि सब कुछ एक सीधी रेखामें चल रहा है. इस कॉन्सेप्ट्में एक समस्या है कि प्रारंभ पूरी तौरपर प्रारंभ है और अंत एकदम अंत है. उसके बाद कुछ नहीं है. पर इस साइक्लिकल् सिस्टम्में न कुछ केवल शुरुआत है और

न ही अंत एकदम अंत है. इसके कारण संस्कृतियोंमें भेद आ रहा है. जो लोग पुनर्जन्ममें नहीं मानते हैं, वे लोग अपने धर्मको कितनी कठोरतासे अपनाते हैं. इसका कारण यह है कि आपने आज इस जीवनमें जो कर्म किये हैं, उसका फल स्वर्ग अथवा नरक, जो भी है वही अंत है. इसीलिए उनके लिए धर्म एकदम भयभीत करनेवाली आवश्यकताके रूपमें आता है. जो पुनर्जन्ममें मानते हैं वे यह सोचते हैं कि कोई बात नहीं, इस जन्ममें अच्छे कर्म संभव नहीं हुए तो अगले जन्ममें कर लेंगे. इसी दृष्टिकोणके कारण हमारे लिए यह धर्म कोई भयभीत करनेवाली वस्तु नहीं है. इसी कारण अपनेमें कोई खराब कर्म भी करता हो तो उसे मारनेकी इच्छा हमें नहीं होती पर उनके यहां मार ही डालते हैं. हम मूर्ति-पूजा करते हैं तो उन्हें तुरंत हमें मारनेकी इच्छा हो जाती है. वह इस कारण नहीं कि वे हमसे घृणा करते हैं, बल्कि इसलिए कि मूर्ति-पूजनका पाप करनेसे हमारा बिगाड़ हो रहा है. हमें लगता है कि यदि यह पाप भी हो तो भगवान् हमारा न्याय कर देंगे. इसीलिए हमारे यहां धर्म करनेकी किसीको भी इतनी जल्दबाजी नहीं होती.

मानवकी समस्या यह है कि *पुण्यस्य फलं इच्छन्ति पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः.* पुण्यका फल हरेकको चाहिये पर पुण्य करना कोई नहीं चाहता. *फलं पापस्य नेच्छन्ति पापं कुर्वन्ति नित्यशः.* करनेमें पाप ही मजा आता है पर उसका फल किसीको नहीं चाहिये. हम सब इसी प्रकारकी मानसिकतासे पीड़ित हैं. ख्रुश्चेव जो कि रशियाका राष्ट्रपति था, वह जब स्कूलमें पढ़ता था तो उसके अध्यापकने उसे एक नीतिका पाठ पढ़ाया कि जो भी अच्छा बच्चा होता है, वह अपने साथियोंके साथ अपनी सब चीज साझा करता है. उसके बाद उन्होंने सभीको दो चॉकलेट् दे दीं और पूछा ''कौन अच्छा बच्चा है?'' ख्रुश्चेव दोनों चॉकलेट खा गया और बोला दूसरे बच्चे अच्छे हैं, उन्हें मुझे अपनी चॉकलेट दे देनी चाहियें. मैं तो बुरा

ही ठीक हुं. वह कहानीका मॉरल् समझा नहीं ऐसा नहीं था. नहीं तो दूसरेको अच्छा कैसे कहता! पर उसे लगा कि अच्छा बननेसे एक ही चॉकलेट् मिलेगी और बुरा बननेसे दो, तो बुरा रहनेमें ही क्या बुरायी है!

**प्रश्न :** ऐसा हमें देखनेमें आता है किसी व्यक्तिने अपने पूरे जीवनमें हमेशा अच्छे कर्म किये हों पर तो भी उसे बहुत दुःख यदि झेलने पड़ रहे हों तो हम इसे किस तरह समझें? क्या इसे पिछले जन्मोंका कर्म-फल समझना चाहिये?

**उत्तर :** देखो, अपने कर्मोंका फल हमें केवल बीस प्रतिशत मिलता है. जो हमें मिल रहा है उसमें अपनी जिम्मेदारी केवल बीस प्रतिशत ही है. भगवान् गीतामें कहते हैं "**अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधं विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवं चैव अत्र पञ्चमम्...तत्र एवं सति कर्तारम् आत्मानं केवलं तु यः पश्यति अकृतबुद्धित्वाद् न स पश्यति दुर्मतिः**" (भग.गीता १८।१४-१६) अपना शरीर, अपनी आत्मचेतना, अपने साधन और दूसरोंके पास जो साधन हैं वह और भगवान्की इच्छा अथवा भाग्य, इन पांचोके मिलनेसे ही किसी फलका निर्णय होता है. यदि हम अपने किसी कर्मके फलको मिलनेमें केवल अपनी बड़ायी मानें अथवा अपनेको दोषी मानें तो भगवान् कहते हैं यह गलत बात है. केवल बीस प्रतिशत हमारा योगदान है. हम पूरी तरहसे जिम्मेदार नहीं हैं. क्योंकि सब चीज तो अपने हाथमें नहीं है. अच्छे कर्म हमने किये हैं पर कोई कारणवश हमें शरीर अच्छा नहीं मिला जो अच्छे कर्मके अनुरूप हमें फल नहीं लेने दे रहा है तो हम क्या कर पायेंगे?

अभी कुछ समय पहले ही मैं किसीसे बात कर रहा था. कोई मुझे कह रहा था कि शरीर जब मोटा हो जाता है तो घुटनोंकी समस्या अधिक हो जाती है. मैंने कहा "यह नियम यदि

सच्चा होता तो हाथी और गैंडे को तो यह समस्या हमेशा सतानी चाहिये थी. हम उससे मोटे तो हैं नहीं और उन्हें भी यह समस्या नहीं है. मोटापा ही इसका एक कारण नहीं है. हां, मोटापा भी एक कारण हो सकता है.'' और जब मेरा वजन एक-सौ-बारह था तब मुझे यह समस्या नहीं हुयी पर अब करीब पिच्चासी है, तब जा कर यह समस्या खड़ी हुयी है. इसलिए यह कहना कि वजन ही घुटनोंके दर्दका कारण है, यह ठीक नहीं है. एक व्यक्तिको गंभीर गठियाकी बीमारी थी. डॉक्टरोंने सभी तरहके इलाज किये और इस निष्कर्षपर पहुंचे कि इसका कोई इलाज नहीं है. अंतमें इसको यही सलाह दी गयी कि इस मर्ज़का अब कोई इलाज नहीं है. आप एक काम कर सकते हो कि थोड़े-थोड़े चलते रहो तो चलनेकी आदत बनी रहेगी और एकदमसे बैठ नहीं जाओगे.'' उस महिलाने अमेरिकामें चलते रहनेका अभ्यास जारी रखा और मॅराथन् रेस्में प्रथम आयी. मुझे एक समय पर्वतारोहणकी इच्छा हुयी तो मैंने क्लब् जॉइन् किया. उन लोगोंने यह घोषणा की कि पर्वतारोहण कलिंद-पर्वतसे शुरू हो कर बद्रीनाथ तक किया जायेगा. आप उसमें जा सकते हो. मैंने पैसे भी भर दिये. उन्होंने बताया कि यह-यह व्यायाम आपको चालू रखना है. उसके लिए मैं एक वॉकर् लाया. बहुत व्यायाम किया तो घुटनोंका दर्द शुरू हो गया. अब जाऊं तो जाऊं कैसे? व्यायामका तो उन्होंने कहा था और जो लोग गये होंगे वह करके ही गये होंगे. पर उसीको करनेसे मुझे घुटनोंका दर्द हो गया.

इसलिए यह समझ लो कि हर बातमें हम अकेले ही जिम्मेदार नहीं होते हैं. और न ही कोई दूसरा अकेला जिम्मेदार होता है. बहुत सारी चीजें मिल कर ही फल क्या होगा, उसका निर्णय किया जा सकता है. आप जिसे आलूका साग कहते हैं, उसमें केवल आलू ही नहीं होता है. बहुत सारी चीजें होती हैं. थोड़ा नमक

मसाला पानी घी, ऐसी कई वस्तुएं हों तो आलूका साग बनता है. उसके बननेमें आलू अकेला जिम्मेदार नहीं है. इस प्रकार किसी भी कर्मके फलमें कोई भी अकेला व्यक्ति जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता. तुम्हारे जो चेहरेकी बनावट है उसमें तुम्हारे माता-पिताका ही रोल् नहीं है. तुम्हारे दादा-दादी, नाना-नानी, परदादा-परदादी परनाना-परनानी, चाचा ऐसे अनेक जगहसे ले कर किसी व्यक्तिके चेहरेकी बनावट बनती है. ऐसे केवल आपके एक चेहरेकी बनावट बनानेमें जब इतने लोगोंका हाथ है तो आप समझ सकते हैं कि कर्मके फलके आप अकेले कैसे जिम्मेदार हो सकते हैं! आपका इसमें रोल केवल बीस प्रतिशत है. हर जगह ऐसा ही होता है.

**प्रश्न :** आपने कहा कि अपने धर्ममें अच्छे कर्म करनेकी कोई जल्दी नहीं रहती क्योंकि वह अगले जन्ममें भी किये जा सकते हैं. इस बातमें संशय है क्योंकि अपने यहां दूसरा जन्म मानवका ही मिलेगा इस बातकी भी तो कोई गारेंटी नहीं है.

**उत्तर :** मैं इस बातका कोई विधान नहीं कर रहा हुं कि हमें अच्छे कर्म इस जन्ममें ही करनेकी शीघ्रता करनी चाहिये अथवा नहीं. जो बात मैं कहना चाह रहा हुं वह यह है कि हमें जल्दी कब होती है और कब नहीं, इस बातका मैं विधान कर रहा हूं. मेरा एक सहपाठी था. हमारा सिम्बॉलिक् लॉजिक्का लॅक्चर् कीर्ति कॉलेज्में चलता था. वह पारसी बाबा था. बहुत ही बुद्धिमान था. अभी भी वह कालेजमें पढ़ा रहा है. पर बुद्धिमान होनेपर भी उसके मस्तिष्कमें एक अतर्कित विचार घर कर गया था. वह कभी भी कीर्ति कॉलेजके बस स्टॉप्से बस नहीं पकड़ता था. वह कहता कि बस यहां पीछेसे भरी हुयी आती है. इसलिए वह माहिम तक पैदल जाता था और वहांसे बस पकड़ता था. मैं उससे कहता कि हम उल्टी दिशामें क्यों जायें. जहां जाना है उस दिशाकी ओर चलते हैं, जहां बस खाली मिलेगी वहांसे बैठ जायेंगे. पर वह

नहीं मानता था. इस कारण वह माहिम तक पैदल जाता. होता यह था कि वह जब-तक माहिम पैदल चल कर पहुंचता, वहां भी कतार लंबी हो जाती. पर यह कॉमन् सेंस् वह लगाता ही नहीं था. पर मेरी उसके साथ दोस्ती थी तो निभानी पड़ती थी. हम पैदल उलटी दिशामें जाते थे.

हम दोनोंने साथमें एक प्रोजेक्ट् हाथमें लिया था कि भारतीय तर्कशास्त्रका हम सिम्बॉलिक् तर्कमें अनुवाद करेंगे. कुछ दिन बाद वह बोला कि उसे भूत दिखायी देते हैं. मैं कहता ''अरे भूत जैसा कुछ नहीं होता है.'' थोड़े दिन बाद उसे ऐसा लगने लगा कि उसे मेरे कारण भूत दिखलायी देते हैं. एक दिन मैं उसके घर गया तो उसकी बहन और माँ ने सारी खिड़की बंद कर दीं और मुझसे कहा ''वह घरपर नहीं है.'' मैंने कहा ''अभी तो मैंने उसे घरके अंदर ही देखा था.'' वह बोले ''नहीं है.'' इतना बुद्धिमान पर पता नहीं क्यों वह ऐसी पागल जैसी हरकत करता था. मेरी बेटी भी उससे पढ़ती थी. वह भी मुझसे कहती कि बहुत ही अच्छा पढ़ाता है. हम दोनों बहुत अच्छे दोस्त थे पर इस घटनाके बाद मैं यदि उसे मिल जाऊं तो वह कांपने लगता था. अब तो बस नमस्कारका संबंध ही है. मेरे कहनेका तात्पर्य यह है कि अपने जितने भी बौद्धिक क्रिया-कलाप हैं, उनमें पूरी जिम्मेदारी हमारी नहीं होती. थोड़ी अपनी होती है, थोड़ी अपने चारों ओरके वातावरणकी होती है.

अब आपको पंचाग्नि-विद्या समझ आ गयी होगी. इसलिए यहां कह रहे हैं **पञ्चाग्निविद्यायां ज्ञानौपयिकदेहसिद्धिः निरूपिता.** इस पंचाग्नि-विद्याकी समझसे तुम्हारा देह ज्ञानोपयोगी हो जाता है. क्योंकि आप यदि अपने शरीरके साथ ऐसा व्यवहार करेंगे कि आपका शरीर किसीके द्वारा दिये गये बलिदान अथवा आहुति का फल है, तो आपके मस्तिष्कमें यह बात घर करेगी कि आप इस शरीरसे वह

ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं. एक शायरने कहा है *''ज़िंदगी क्या है, गुनाह-ए-आदम. ज़िंदगी है तो गुनहगार हूँ मैं.''* मुसलमान धर्ममें ऐसा मानते हैं कि आदमका गुनाह क्या? उसने अल्लाहकी बात न मानी, उसके कारण ही मनुष्य पैदा हुआ और जीवन आगे चला है. ''तो क्या मेरा जीवन एक अल्लाहके विरुद्ध किया हुआ पाप है. इसका अर्थ है कि मैं जी रहा हूं इसलिए गुनहगार हुं.'' यह एक विचारधारा है कि आपका जीवन ही आपका दोष है, पाप हे. यदि ऐसी विचारधारा आपकी होगी तो आप अपने आपसे ही घृणा करने लगेंगे. ऐसा इसलिए है कि आदम् और ईव् हॅवन्में थे. उन्होंने गुनाह किया इसलिए उन्हें सजा देनेके लिए पृथ्वीपर फेंक दिया गया.

हम ऐसा नहीं मानते हैं. हम ऐसा मानते हैं कि हमारी माता भूमि है और पिता विष्णु है. इसलिए हम विष्णु और भूमि के दांपत्यसे उत्पन्न हुए हैं, किसी पापसे नहीं. अपने आत्मविश्वासमें इन दो प्रकारकी बातोंसे बहुत भेद आ जाता है. यदि भूमि अपनी माता हो, जो कि सौ प्रतिशत सत्य है, हम सभी पृथ्वीसे ही तो उत्पन्न हुए हैं और हमारा पिता विष्णु है, जो कि जगतका पालक है. एक बात और समझो कि विष्णुकी एक पत्नी लक्ष्मी है और दूसरी पत्नी भूमि है. तिरुपति बालाजीमें भी भूमि पत्नीके रूपमें बिराज रही है. उस भूमिको वे लोग 'नीलादेवी' कहते हैं. हम अंतरिक्षमें जायें तो पृथ्वी हमें नीले रंगकी दिखलायी देती है. यह बात ऋषियोंको किस प्रकार ज्ञात हुयी कि पृथ्वी नीली है! उन लोगोंने उस समय पृथ्वीका नाम 'नीला' रखा था. इस प्रकार हम उस पृथ्वी और विष्णु की संतान हैं. यदि यह भाव हमारे हृदयमें बैठ जाये तो जीवनको देखनेका हमारा नज़रिया ही बदल जायेगा. और आप यदि यह सोचने लगो कि आप किसीके द्वारा किये गये पापकी औलाद हो तो फिर तो आपके मनमें यही भाव

आयेगा कि *''ज़िंदगी क्या है, गुनाह-ए-आदम. ज़िंदगी है तो गुनहगार हूं मैं.''* कितनी आत्मग्लानि भरी है इस वाक्यमें!

जब हम ऐसा कहते हैं कि अकेला ब्रह्म खेल नहीं सकता था इसलिए उसने दूसरेकी इच्छा की और उसने अपनेमेंसे ही अपने दो हिस्से किये और इस प्रकार सृष्टिकी रचना हुयी. इस प्रकार हम खेलमें आते हुए आनंदकी संतान हैं, पापकी संतान नहीं हैं. इस विचारसे हमारे भीतर एक खेलकी भावना जाग्रत होगी. अपने ठाकुरजीकी सेवा हम इसी खेल अथवा लीलाभाव से ही तो करते हैं. हम उसे कर्म-काण्डकी तरह गंभीरतासे नहीं लेते हैं. क्योंकि हम लीलाकी संतान हैं इसलिए हम आपके साथ भी लीलाके मूड्में आपकी सेवा करेंगे. यदि किसीका ऐसा भाव है कि सारी सृष्टि एक आहुतिके रूपमें उत्पन्न हुयी है, इस कारण मैं भी इसी प्रकार उत्पन्न हुआ हुं. ऐसा व्यक्ति हमेशा अपनी आहुति देनेके लिए तत्पर रहेगा. जो अपना बलिदान देनेके लिए सदा तत्पर रहता है, ज्ञान उसीको होता है. जो हमेशा हड़पनेके लिए ही तत्पर रहता है, वह कभी भी सत्यको नहीं जान पाता. इसीलिए कह रहे हैं कि जिसे पंचाग्नि-विद्या सिद्ध हो जाती है, उसका देह ज्ञानोपयिक हो जाता है. उसकी देह ज्ञानको जाननेके लिए, उसको जीनेके लिए और उसको धारण करनेके लिए तैयार हो जाती है. इसलिए आप देखोगे कि जो लोग बलिदानमें मानते हैं वे अपने देवताके सामने भी बलि ही देते हैं. हम लीलामें विश्वास रखते हैं इसलिए ठाकुरजीके सामने भी खिलौने सजाते हैं. क्योंकि हम मानते हैं कि हम लीलासे उत्पन्न हुए हैं, इसलिए भगवान्के साथ भी वही लीलाका व्यवहार हमें अच्छा लगता है. इस प्रकार अपने दृष्टिकोणके बदलनेसे भगवान्का कन्सॅप्ट् बदल जाता है, अपना जीवनके प्रति व्यवहार बदल जाता है और इस ब्रह्माण्डकी उत्पत्तिके प्रति भी अपनी विचारधारा बदल जाती है.

**तस्मिन् देहे ज्ञाने जाते मुक्तिः भवतीति तस्य च ब्रह्मविदो जीवतो, म्रियमाणस्य, गच्छतः, सङ्गतस्य च व्यापाराः निरूपिताः.** ऐसे ज्ञानको धारण करनेवाली देहकी ही मुक्ति संभव है और ऐसा जो ब्रह्मविद् मानें ब्रह्मको जाननेवाला होता है; उपनिषद्में एक बात कही गयी है कि सबसे पहले ब्रह्मने अपने एकत्वका अनेकताकी अग्निमें बलिदान दिया. जब भी कोई लड़का-लड़की दांपत्यमें बंधते हैं तो सबसे पहले अपनी स्वतंत्रताकी आहुति देते हैं. यदि आप अपनी स्वतंत्रताका बलिदान नहीं कर सकते तो विवाहका कोई अर्थ नहीं है. कहनेका अर्थ है कि ये विभिन्न प्रकारके दृष्टिकोण हैं जिनसे हमारा जीवन नियंत्रित होता है. आगे कहते हैं कि जीवकी चार प्रकारकी अवस्थाएं होती हैं. जीवित मृत प्रेत और पितर. जीवित अवस्था वह है जब-तक हमारे अंदर प्राण है. प्राण नहीं है तो वह व्यक्ति 'मृत' कहलाता है. अग्निसंस्कार होने तक व्यक्ति 'मृत' कहलाता है. संस्कारके बाद वह प्रेत बनता है. 'प्रेत' माने जो चला गया. यह भूत-प्रेतवाला प्रेत नहीं है. और 'पितर'का अर्थ है जो पहुंच गया. इस प्रकार जीवकी चार अवस्था मानी गयी हैं. अपने यहां बारहवें दिन तक प्रेत मानते हैं और उसके बाद पितर. इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानीकी भी चार अवस्था हैं. जीवित, मृत, जो चला गया और मुक्त ऐसा ब्रह्मज्ञानी. ज्ञानीकी पितर अवस्था नहीं होती क्योंकि पितर होनेके बाद वापस आना होता है पर मुक्तिके बाद वापस नहीं आते.

**सद्योमुक्तावपि सायुज्यं निरूपितम्.** एक सद्यो मुक्ति = तत्काल मुक्ति होती है. ऊपर कही हुयी मुक्ति सीढ़ी-दर-सीढ़ी है. पर सद्य मुक्ति तुरंत है. इसका अर्थ है कि आप जीवित अवस्थामें ही मुक्त हो गये. जीवित किस प्रकार मुक्त हो सकता है? तो कहते हैं कि मुक्त जीवकी जिस प्रकारकी विचारधारा होती है उस प्रकारकी यदि जीवित अवस्थामें हो जाये तो वह 'सद्यो मुक्ति' कहलाती है.

पाकिस्तानका एक बहुत मशहूर शायर था. शायद वह वामपंथी था. उसने इस्लामके विरुद्ध भी कुछ लिखा था. उसे पाकिस्तानकी सरकारने जेलमें डाल दिया. वहां उसे कुछ करने नहीं देते थे. वामपंथकी एक अलग ही विचारधारा है. मार्क्सका एक वाक्य है कि जो सर्वहारा है मानें जिसने सबकुछ खो दिया है, उसके लिए अब खोनेको केवल एक बेड़ी है और पानेके लिए पूरी दुनिया है. और जो कॅपीटलिस्ट् है उसके पास खोनेके लिए सभी कुछ है और पानेके लिए कुछ नहीं है. ऐसे विचार रखनेवालेको जब जेलमें डाल दिया गया तो वहां उसने बहुत अच्छा शेर लिखा. *''मैंने अपनी आज़ादीको कैदमें भी महसूस किया, ज़ंजीरमें जकड़े हाथोंको बजा कर देखा.''* आप उसका दृष्टिकोण देखो. वह बंधा हुआ भी आज़ादी महसूस कर रहा है. हमें कोई हाथोंमें जंजीर बांध दे तो हम अपनेको पराधीन समझेंगे. पर उसकी विचारधारा आज़ादीकी है तो वह हाथमें बेड़ी होनेपर भी जंजीर बजानेमें अपनी आज़ादी मान रहा है. विचारोंका अपने ऊपर ऐसा प्रभाव होता है. इस प्रकार यदि ऐसा दृष्टिकोण हमें जीतेजी मिल जाये तो हम मुक्त ही हैं और नहीं मिले तो बंधनमें हैं. इसीको 'सद्यो मुक्ति' कहा गया है. और मरनेके बाद भी आपके दिमागमें यदि बंधन हैं तो मरनेके बाद भी आप मुक्त नहीं हो, पितर हो. मुझे एक श्लोक याद आ गया. **''अद्वैतवीथीपथिकैः उपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्ध-दीक्षाः शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन.''** (मधुसूदन) अद्वैतका जो पथ है उसमें स्वतंत्रताका जो सिंहासन है उसमें कभी रत्नकी तरह मैं जड़ा हुआ था. किसी बदमाशने हठ करके मुझे अपना दास बना लिया है और जो स्वयं गोपियोंका दास है. देखो, यहां उल्टा हुआ है. मुक्त होते हुए भी यह दास होनेकी विचारधारा आ गयी है.

**तद् वस्तुतो भक्तानामेव भवति इति सिद्धान्तः** यह जीव-मुक्तताका

बोध ज्ञानियोंको नहीं होता है. यह तो केवल भक्तोंको ही होता है. क्योंकि भगवान्में भक्ति होगी तो जीवित अवस्थामें उन्हें मुक्तिकी अनुभूति होगी. **प्रकारान्तरेण प्राप्याभिव्यक्त्यभावात्.** क्योंकि दूसरे किसी प्रकारसे किसीको कुछ पानेकी इच्छा हो, वह भक्तको पानेकी इच्छा होती ही नहीं है. उसे इस प्रकारकी स्वतंत्रता चाहिये ही नहीं, जो ज्ञानीको मुक्त होनेपर चाहिये. उसे तो दास होना अच्छा लगता है. वह भी किसका? जो कृष्णके प्रेममें सराबोर गोपिकाएं हैं, उनका. **''अद्वैतवीथीपथिकैः उपास्याः स्वाराज्यसिंहासनलब्धदीक्षाः शठेन केनापि वयं हठेन दासीकृता गोपवधूविटेन.''** देखो, यह एक प्रकारकी गालियाँ हैं. पर गालीमें भी भक्ति प्रकट हो रही है. इस तरह भक्तके लिए इससे आगे कोई अभिव्यक्ति नहीं है. **तथापि मुक्तेः सायुज्यादपि इयं भक्तिः गरिष्ठा इति आह सिद्धेः गरीयसी इति. सिद्धिः पूर्वोक्ता.** सायुज्य तो उसे महसूस हो ही रहा है. पर ऐसा होते हुए भी उसे सायुज्यसे अधिक भक्तिमें आनंद आता है. मानें भगवान्में एकत्व होनेकी अपेक्षा उसे अपनेको दास कह कर ऐच्छिक द्वैतमें अधिक आनंद आता है. 'गरीयसि' मानें सर्वोत्तम. यह भक्ति सबसे उत्तम है, ऐसा कैसे है? तो कहते हैं **गरीयस्त्वं निरूपयति जरयति इति. या कोशं लिङ्गशरीरं जीर्णं करोति. बीजात्मकम् इति अन्ये. यद्यपि सिद्धावपि कोशजीर्णता वर्तते, तथापि आशु जरयति. अनायासार्थं दृष्टान्तः निगीर्णम् अनलो यथा** जो मुक्त होता है उसे देह इन्द्रिय प्राण अंतःकरण का अभिमान नहीं रह जाता है क्योंकि वह आत्माके स्वरूपमें स्थित हो जाता है. ऐसा इसलिए होता है क्योंकि मुक्त जीवकी देह प्राण अंतःकरण, जीवित अवस्थामें होते भी हैं तो भी वह उनको अपनी आत्मचेतनासे अधिक प्राथमिकता नहीं देता है. इसीलिए उसे मुक्ति महसूस होती है.

जिस पाकिस्तानी शायरकी मैंने बात आपको बतायी, उसकी देह तो बेड़ियोंमें बंधी हुयी है. पर उसको जकड़े हुए शरीरका ध्यान

इतना नहीं होता जितना उसे अपनी आज़ादीका भान है कि मैं तो इस स्थितिमें भी आज़ाद हुं, मुक्त हुं. इस प्रकार अपने देह इन्द्रिय प्राण अंत:करण का कोश ज्ञानकी प्रक्रियासे आत्मचेतनाकी अपेक्षा थोड़ा जीर्ण हो जाता है. भक्ति इससे थोड़ी अलग है. उसमें ऐसा लगता है कि यह मेरा देह प्राण अंत:करण आदि मेरे लिए नहीं हैं बल्कि भगवान्के लिए हैं. जब इस प्रकारकी अपनी आत्मचेतना जाग्रत होती है तो उसके कारण भी हम अपने इन देह इन्द्रिय आदिसे मुक्त तो हो जाते हैं पर उन्हें समर्पित कर देते हैं. जैसे ज्ञानीको अपना देह छोड़नेमें कोई एतराज नहीं होता. उसी प्रकार भक्तको भी अपने देहसे कोई सरोकार नहीं होता. पर अंतर इतना है कि ज्ञानीको यह ज्ञानके कारण लगता है और भक्तको अपने भगवान्के प्रति प्रेमके कारण यह लगता है कि है तो मेरा पर सब तेरे लिए है. तू इसे रखना हो रख और लेना हो तो ले ले. ग्वाले जब जंगलमें गाय-भैंस चराने जाते हैं तो कई बार ऐसा देखा गया है कि बाघ कभी ग्वालेपर आक्रमण कर देता है. तो उसकी गाय-भैंस बाघपर आक्रमण कर देती हैं कि क्यों उस बाघने उनके पालनेवालेको पकड़ा! यह उनका उस ग्वालेके प्रति प्रेमके कारण ही तो है. यह इसलिए कि प्रेमके कारण उस जानवरको अपनी देह केवल अपने लिए नहीं पर उस ग्वालेके लिए लगती है. इस प्रकार देहाध्यासकी निवृत्ति भक्तिमें भी होती है. पर यह भावुकताके वशीभूत हो कर होती है और ज्ञानमें यह बौद्धिक लेवल्पर होती है. बौद्धिकरूपसे ज्ञानीको यह समझ आता है कि मैं यह देह नहीं हूं. मेरी यह आत्मचेतना इस देहसे अलग है. महारानी झांसीके साथ भी तो ऐसा ही था. जबकि उसका पुत्र अपना नहीं था, गोद लिया हुआ था. पर झांसीकी रक्षाके लिए वह उसको पीठपर बांध कर लड़ी जिससे कि कोई उसे उसके पीठ पीछे मार न दे. जहां तक लड़ सकी लड़ी पर जब देखा कि देह अब लहु-लुहान हो गया है और अधिक देर टिकेगी नहीं तो रणमेंसे भाग भी गयी.

इतनी वीर होनेपर भी भाग गयी. क्योंकि उसने अपना देह अपने पुत्र और झांसी को समर्पित किया था. यह सब किसी बौद्धिक जागृतिके कारण नहीं अपितु अपने पुत्र और राष्ट्र के प्रति प्रेमके कारण हुआ था.

इसी कारण भक्तको सायुज्य मुक्तिकी अपेक्षा, अपनी भक्ति अधिक प्रधान लगती है. यही बात यहां यह कह कर समझायी गयी है **या कोशं लिङ्गशरीरं जीर्णं करोति. बीजात्मकम् इति अन्ये. यद्यपि सिद्धावपि कोशजीर्णता वर्तते, तथापि आशु जरयति. अनायासार्थं दृष्टान्तः निगीर्णम् अनलो यथा इति. नहि भुक्तकवलस्य परिपाकार्थम् औदार्याग्नेः अन्यत् साधनं विधीयते, औषधादिकमपि अग्निमेव उद्बोधयति. एतया मे पदं प्राप्यते इति भावः.** यदि पाचन-क्रिया स्वस्थ नहीं है तो जैसे देहको खाये हुए अनाजको पचानेके लिए चूर्ण आदिका सेवन करना पड़ता है, यदि स्वस्थ है तो सब अपने आप ही पच जाता है और मलरूपमें निकल भी जाता है. उससे प्राकृतिकरूपमें ही छुटकारा मिल जाता है. इस अर्थमें मुक्तिसे भक्ति गरीयसि है कि जो बात बौद्धिक रूपमें आपको उपलब्ध थी, वह भावनापक्षसे भी उपलब्ध हो रही है.

देह इन्द्रिय तो छूटेगी पर हमें उस देह आदिका अध्यास इतना अधिक हो जाता है कि हम उसे ही आत्मा मान लेते हैं. जैसे एक तोता जो पिंजरेमें बंद है, उसके पिंजरेको हाथ लगाओ तो भी वह चोंच मारता है. वह उसे खुदके ऊपर आक्रमण समझता है. अब बताओ कि पिंजरेको हाथ लगाना क्या तोतेपर आक्रमण है? उसे जिस प्रकार पिंजरेका अध्यास होता है उसी प्रकार हमें देहका अध्यास हो जाता है. एक बहुत पुराना गाना था *''मेरी भैंसको डंडा क्यों मारा, तेरा बापका उसने क्या खाया''* तो हमें भैंसमें भी अध्यास हो जाता है. पर यही अध्यास हमें भक्तिमें

काम आ जाता है. मेरी पत्नीके जो फूफाजी थे, उन्होंने भैंसके लिए अपनी पत्नीको छोड़ दिया था. भैंस उनके साथ उनके ड्रॉइंगरूममें ही रहती थी. पत्नीने कहा ''मैं इस भैंसके साथ नहीं रह सकती.'' इसपर उन्होंने कहा ''तुझे जाना है तो जा. पर यह भैंस तो यहीं रहेगी.'' उन्होंने अपने पुत्रोंका भी त्याग उस भैंसके लिए कर दिया था. अब इस बातमें क्या किया जा सकता है? हो जाता है किसी-किसीको इस प्रकारका अध्यास. कहनेमें तो यह बहुत हँसीकी बात लगती है पर प्रेम देखें तो यह बहुत गंभीर बात है. प्रेममें अपने देहका अध्यास रहता ही नहीं है॥३२-३३॥

**प्रश्न :** स्त्रियाँ क्या मुक्तिकी अधिकारी नहीं होती? देवहूतिजीके प्रसंगमें कपिलजीने भक्तिका उपदेश क्यों दिया? वल्लभ-वेदान्तके अभ्यासक्रममें कपिल-गीता योजित करनेका क्या हेतु?

**उत्तर :** जो अपनी पुरानी प्रणाली थी वह ऐसी थी कि उसमें चारों पुरुषार्थ आते थे. किसी भी सभ्य समाजमें यदि कार्योंका विभाजन ठीकसे न हो तो वह समाज कायम नहीं रह सकता. कार्योंका विभाजन होना ही चाहिये. क्योंकि यदि सभी लोग एक ही काम करेंगे तो कुछ भी हासिल नहीं होगा और यदि सभी लोग सारे काम करने लगेंगे तो अराजकता आ जायेगी. जैसे हॉस्पिटलमें डॉक्टर् रोगकी पहचान करता है, उसका सहयोगी उस रोगके आधारपर दवाई देता है, नर्स् उस कार्यमें डॉक्टरको असिस्ट् करती है, कम्पाउन्डर् दवाई देता है. यह कार्यका विभाजन है. यह होगा तभी तो अस्पताल ठीकसे चल पायेगा.

पुराने समयमें अपने समाजमें कार्यका विभाजन कुछ इस प्रकार था कि जो लोग वेद पढ़ते अथवा पढ़ाते थे और वेदके हिसाबसे ही अपना जीवन जीते थे, वे लोग 'ब्राह्मण' कहलाते थे. उनके लिए चार पुरुषार्थ निश्चित थे, धर्म अर्थ काम और मोक्ष. क्षत्रियके

लिए केवल तीन पुरुषार्थ ही थे, धर्म अर्थ और काम. वैश्यके लिए केवल दो ही पुरुषार्थ थे, धर्म और काम. शूद्रके लिए भी केवल दो ही पुरुषार्थ थे, अर्थ और काम. प्रारंभमें वर्णव्यवस्था नहीं थी, इस कारण सभी ब्राह्मण थे. बादमें अपने-अपने किये गये कार्योंके अनुसार कोई क्षत्रिय हुआ, कोई वैश्य, कोई शूद्र और उन्होंने शहर और गाँवों में जा कर बसना शुरू कर दिया. स्त्रियोंके लिए भी सुरक्षाकी दृष्टिसे वनमें जा कर वेदाध्ययन करना बहुत कठिन था. इसलिए उन्होंने वेद पढ़ना छोड़ दिया. इस कारणसे जो ब्राह्मण वेद पढ़ता था वह तो मुक्तिका अधिकारी होता था पर स्त्रीको वेद नहीं पढ़नेके कारण मुक्तिकी अधिकारी नहीं मानी जाती थी. क्योंकि वेदमें इसका कोई प्रावधान नहीं है कि वेद न पढ़े तो उसकी मुक्ति कैसे हो! इसी तरहसे अन्य सभी वर्णोंको यह कामना जगी कि हमें भी तो मुक्त होना है, यह केवल ब्राह्मणोंका ही अधिकार हो यह कैसे संभव है!

अथवा दिगम्बर जैन-धर्मवाली प्रणाली स्वीकार करो कि स्त्रियोंको वैसे तो मुक्तिका अधिकार नहीं है पर यदि स्त्री अपना धर्म ठीकसे निभा रही है तो वह आनेवाले जन्ममें पुरुष बनेगी और फिर उसे यह अधिकार प्राप्त होगा. पर वेदमें इसका भी कोई प्रावधान नहीं है. पर, जैसे यदि आप रॅग्युलर् क्लास् नहीं अटेंड् कर पा रहे हैं तो ऑन्-लाइन् कोर्स्के द्वारा भी पढ़ सकते हो, वैसे ही मुक्तिका एक ऑन्-लाइन् कोर्स् उस ज़मानेमें विचारा गया.

देवहूतिके पतिने संन्यास ले कर वेदाभ्यास करके मुक्त हुए और बेटा तो जीवन्मुक्त है ही. मुक्तकी पत्नी अथवा माँ होनेके नाते उसकी भी तो मुक्त होनेकी इच्छा हो ही सकती है. इसीलिए उसने कहा कि "मुझे भी मुक्त होना है!"

याज्ञवल्क्य और गार्गी के संवादमें भी ऐसा प्रसंग आता है.

याज्ञवल्क्यकी दो स्त्रियाँ थीं, कात्यायनी और मैत्रेयी. एक दिन याज्ञवल्क्यने घोषणा की कि ''मैं संन्यास ले रहा हुं और तुम दोनोंमें झगड़ा न हो इसलिए मैं अपनी संपत्तिका विभाजन कर रहा हुं.'' इस बातपर मैत्रेयीने कहा कि ''तुम मुझे छोड़ कर कहां जा रहे हो?'' इसके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने कहा कि ''मैं मुक्त होने जा रहा हुं.'' इसपर मैत्रेयीने कहा कि ''यदि तुम मुझे अपनी पत्नी स्वीकारते हो तो उस मुक्तिमें भी मुझे अपनी अर्धांगिनी मानो. केवल इस संपत्तिमें ही क्यों मेरा हिस्सा मानते हो?'' इस पर उन्होंने उत्तर दिया ''यह ठीक है कि मैंने अपनी संपत्तिको दो पत्नियोंमें बराबर बांटा है. पर यदि तुझे मुक्ति चाहिये तो तुझे मैं मुक्तिका उपदेश भी देता हुं.'' उसके बाद उन्होंने मैत्रेयीको मुक्तिका उपदेश दिया. पर उनके समयमें कार्योंका विभाजन हुआ नहीं था क्योंकि दोनों जंगलमें ही रहते थे और स्त्रियाँ भी ऋषि(मंत्रद्रष्टा) होती थीं.

पर जब लोग शहर और गावों में रहने लगे, जो संस्कृति अपने यहां पृथु-राजाके बाद शुरू हुयी, तो स्त्रियोंका भी जंगलमें रहना असंभव हो गया. फलतः वेदाध्ययन नहीं होनेके कारण वेदकी प्रणालीसे उनको मुक्तिका अधिकार भी नहीं माना गया. इसलिए कपिल ऋषिने एक नयी प्रणाली, जो कि 'सांख्य'के नामसे जानी जाती है, प्रारंभ करी. उन्होंने कहा कि ''यदि वेद नहीं पढ़नेके कारण उन्हें वेदमें वर्णित मुक्तिकी अधिकारी नहीं मानते हो फिर भी सांख्य अथवा योग की प्रणालीसे मुक्तिको प्राप्त कर सकती है.'' उसके बाद अलग-अलग ऋषियोंने तंत्रप्रणालीकी स्थापना की. जैसे कि शैवतंत्र शाक्ततंत्र वैष्णवतंत्र इत्यादि. यह उन लोगोंके लिए थी कि जो वेदाध्ययन नहीं करनेके कारण उसके द्वारा मुक्तिके अधिकारी नहीं थे. उनके मतानुसार शहर और गावों में रहनेवालोंको शिव-विष्णु-देवीकी आराधनासे मुक्ति मिल सकती है. इसी तरह यज्ञ करनेमें जो अनधिकारी हो तो उसके लिए मुक्ति प्राप्त करनेका यह मार्ग भी है. इस

प्रकारसे तंत्रप्रणालीका प्रादुर्भाव हुआ. सांख्य योग और तंत्र यह तीन प्रणाली हैं जो वेदद्वारा मुक्तिके अनधिकारीको मुक्ति देनेमें सक्षम हैं.

अब देवहूतिजीके प्रसंगमें मुद्दा यह है कि पति और पुत्र दोनों मुक्त होने जा रहे हैं तो मैत्रेयीकी तरह देवहूतिकी भी इच्छा मुक्त होनेकी है. पर पुत्र कपिलदेवजीको कहीं न कहीं लग रहा है कि जैसे मैत्रेयीको मुक्त होनेके बजाय पति याज्ञवल्क्यके साथ रहनेकी इच्छा अधिक थी, वैसे ही पतिके चले जानेपर माँ पुत्रको छोड़नेको तैयार नहीं है. इसे पूर्णरूपसे विचार करनेपर उन्होंने माँद्वारा मुक्ति माँगनेपर सांख्यका तो उपदेश दिया ही पर अपने संगमें होनेके कारण और न माँगनेपर भी अपनी ओरसे भक्तिका उपदेश दिया क्योंकि उन्हें ऐसा अनुभव हुआ कि माँका हृदय बहुत कोमल है. जब विषयके विस्तारसे देवहूतिको लगा कि भक्ति इतनी उत्तम है तो फिर मुक्तिकी आकांक्षा क्यों होनी चाहिये! मुक्ति तो उसे ही अभिलषित होती है जिसे भक्ति नहीं मिलती. इस कारण ही कपिल मुनिने योग सांख्य और भक्ति तीनोंका एक साथ ही उपदेश दिया जिससे माँ अपने आप यह सुनिश्चित करे कि उसे कौनसा मार्ग उचित लग रहा है, मूल मुद्दा यह है. देवहूतिने यह मांगा नहीं है, वह तो जिस मार्गपर पति चले गये और पुत्र जा रहा है, उसके साथ रहना चाहती है. मैत्रेयीने भी यही बात कही थी कि ''जिस संपत्तिको आप छोड़ कर जाना चाहते हैं उसमें मुझे भागीदार क्यों बना रहे है. जो आप पाने जा रहे हो उसमें आप यदि मुझे अपनी अर्धांगिनी समझते हो तो भागीदार क्यों नहीं बना रहे हो?'' यह बात याज्ञवल्क्य ऋषिको जँच गयी और उन्होंने कहा कि ''तू मेरी पत्नी ही नहीं मित्र भी है. चल, अब मुक्तिपथपर साथ चलेंगे.'' कात्यायिनीको संसार ही चाहिये था इसलिए वह तो संतुष्ट हो गयी. देवहूतिकी परिस्थिति ऐसी थी कि जिसके भरोसे जंगलमें रहती थी वह उसे वहाँ अकेला छोड़ कर जा रहा है, तो वह अकेली स्त्री जंगलमें

क्या करे? इसीलिए उसने कहा कि ''मुझे भी अपने साथ आने दो.''

पर कपिल मुनि अपनी माँको भक्तिके लिए ललचा रहे हैं क्योंकि वह समझ रहे हैं कि माँका हृदय कोमल है और भक्तिके लिए उचित है. श्लोक २३-२४में स्वयं भक्तिका परिचय देते हुए कह रहे हैं कि **मदाश्रयाः कथामृष्टाः शृण्वन्ति कथयन्ति च, तपन्ति विविधाः तापाः न एतान् मद्गतचेतसः, ते एते साधवः साध्वि! सर्वसङ्गविवर्जिताः, सङ्गः तेषु अथ ते प्रार्थ्यः सङ्गदोषहराः हि ते** तु मेरा आश्रय करके भक्तोंका संग कर. इस पर देवहूतिजीने श्लोक-२८में पूछा कि **काचित् त्वयि उचिता भक्तिः कीदृशी मम गोचरा, यया पदं ते निर्वाणम् अञ्जसैव अश्नवा अहम्** भक्तिकी साधनाके लिए कैसे लोगोंका संग करना चाहिये? यहां कपिल मुनिने उनका स्वभाव जाननेके लिए थोड़ीसी नस दबाई तो तुरंत उनकी रुचि सामने प्रकट हो गयी. मुक्ति तो केवल इसलिए चाहिये थी क्योंकि सब उसीकी ओर जा रहे हैं पर असलमें उनकी रुचि भक्तिमें थी.

मेरी मझली बेटी टीकू जब पढ़ती थी तब उसकी सारी सहेलियोंने कॉमर्स् लिया तो वह भी पीछे पड़ गयी कि उसे कॉमर्स् ही लेना है. मेरे बहुत मना करनेपर वह बोली कि ''मैं फिर अकेली रह जाउंगी और नये दोस्त कहाँ ढूढूंगी?'' बादमें रोती थी कि बहुत मुश्किल है. मैं उससे कहता कि ''अब रोनेसे क्या लाभ? या तो दोस्तोंके साथ रह लो, नहीं तो अपने लिए जो उचित विषय है वह ले लो!'' मैं उसके स्वभावको देख कर कहता था कि ''तेरे लिए आर्ट्स् उचित है'' पर वह नहीं मानी. हम बिना अपनी क्षमताको जाने कोई भी विषय चुन लेते हैं, बादमें पछताते हैं.

मैंने भी जब कॉलेज्में एड्मिशन् लिया तब फिलॉसॉफीकी पुस्तकें पढ़ रखनेके कारण मैंने आठों पेपर् फिलॉसॉफीके चुने. पहले ही

दिन क्राउड् और सोसाइटी पर लॅक्चर् था तो मैं बोर् हो गया कि यह मैंने क्या ले लिया! मैंने सोचा कि सोशियल् फिलॉसॉफीका विषय तो मुझसे होगा नहीं. इस कारण मैं अपने हॅड्-ऑफ्-डिपार्टमेंट्के पास गया और कहा कि ''यह विषय मुझे रुचिकर नहीं लग रहा है तो क्या मैं संस्कृत ले सकता हुं.'' उसने मुझे ऐसी फटकार लगाई कि ''यह तो तुम्हें पहले सोचना चाहिये था. सोचे समझे बगैर विषय ले लेते हो और बादमें मुझे परेशान करने आ जाते हो. जाओ मैं नहीं परमिशन् देता हुं.'' अब मुझे सबके सामने फटकारा तो मुझे भी लगा कि इसे बोलनेसे कोई लाभ नहीं होगा. इस कारण मैं संस्कृतके हॅड्के पास गया. मेरे सौभाग्यसे वे पुष्टिमार्गके मुखियाजीका लड़का थे. वे भी मुझे पहचान गये. मैंने उनसे कहा ''व्यासजी मुझे पूरी फिलॉसॉफीमें कोई रुचि नहीं है. यदि मुझे केवल संस्कृत-दर्शनका विषय मिल जाये तो मैं आपका आभारी रहुंगा.'' उसने कहा ''तो ले लो.'' मैं बोला ''पर मेरा हॅड्-ऑफ्-डिपार्टमॅन्ट् मना करता है.'' वह बोले ''मैं प्रधानाचार्यसे बात करता हुं.'' प्रधानाचार्यने हामी भर दी. अब पूरे साल वह मुझे सारी क्लास्के सामने गाली देता. मैं भी उसे सबक सिखानेके लिए अपने दोस्तोंसे शर्त लगाता था कि उसके मुंहमें दांत नहीं हैं. शर्त जीतनेके लिए सभी उसके मुंहमें दांत देखनेकी कोशिश करते. वह इतना बेचैन हो गया कि वह मुंहपर हाथ रख कर बात करने लगा. और तो मैं क्या कर सकता था! अच्छा ही हुआ कि मैंने वह विषय छोड़ दिया, लेता तो कभी पास नहीं होता. पर लिए बगैर कैसे पता चले कि इस विषयमें क्या है!

इसी प्रकार कपिल मुनिको भी पहले यह निश्चित करना पड़ा कि देवहूतिकी किस विषयमें रुचि है. जो पढ़ाना था वह तो पढ़ा ही दिया और उसके साथ उसकी रुचि जान कर भक्ति भी बता दी. इसीलिए वहाँ बहुत ही अच्छा शब्द प्रयोगमें आया है **विदित्वार्थं**

**कपिलो मातुः इत्थं जातस्नेहो यत्र तन्वा अभिजातः** जिस माँकी कोखसे स्वयं जन्मे हैं उस माँको किसमें रुचि है, यह जब कपिलमुनिने जाना तो उन्होंने अपनी माँको सांख्य-योग उनके अनुरोधपर समझाया. भक्ति उन्हें साथमें समझा दी क्योंकि उन्होंने जान लिया कि उनकी रुचि भक्तिमें ही है. इस प्रसंगमें मानवीय संवेदना बहुत अधिक दिखलायी दे रही है.

मेरा मुख्य हेतु कपिल और देवहूति की कथा सुनानेमें नहीं पर महाप्रभुजीने कैसे पूरे षोडशग्रंथकी रूपरेखा इस कपिल-गीताके आधारपर रखी है, उसमें है. इसलिए कपिल-गीतामें जिस प्रकारकी भक्तिका प्रतिपादन किया गया है, उसे यदि हम समझ जायेंगे तो इस कपिलगीता रूपी भूमिके ऊपर कैसे महाप्रभुजीने अपनी भक्तिकी इमारत खड़ी की है यह समझ आ जायेगा. यदि महाप्रभुजीके षोडशग्रंथ समझने हैं तो इस पृष्ठभूमिको अच्छी प्रकारसे समझना होगा. इस कारण ही मैंने यह विषय चुना है. युनिवर्सिटीकी मांग तो केवल योगकी थी. पर केवल योग पढ़ानेसे जो कपिलगीताका उद्देश्य है, वह पूरा नहीं होता. इसलिए मैंने योग सांख्य और भक्ति तीनों ले लिए. क्योंकि अंततः तो वल्लभवेदान्त समझाना है, इसलिए यह लेना मुझे उचित लगा.

**( भक्तोंकी साधनावस्था )**

श्लोक :

**न एकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिद्**
**मत्पादसेवाभिरताः मदीहाः ॥**
**ये अन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य**
**सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥३४॥**

अनुवाद : **मेरे लिये सभी चेष्टा करनेवालें, मेरे चरणोंकी सेवामें**

अभिरत रहनेके कारण मेरे साथ एकात्मता नहीं चाहते हैं. किन्तु ऐसे भागवत आपसमें मिल कर मेरे पराक्रमोंकी कथामें अधिक रुचि लेते हैं॥३४॥

सुबोधिनी : तादृशभक्तानां ज्ञानिनामिव अग्रिमकृत्यम् आह प्रकारद्वयेन तत्र प्रथमम् आह त्रिभिः न एकात्मताम् इत्यादिभिः. जीवतां साधनावस्था फलरूपा तथा परा सायुज्यं च तृतीयं स्याद् अतो न उत्क्रान्तिप्रापणे. तत्र प्रथमं भक्तानां साधनावस्थाम् आह : न एकात्मताम् इति. इयं हि फलरूपा भक्तिः ज्ञातव्या. ते भक्ताः यावद् जीवन्ति तावत् फलरूपां भक्तिं कुर्वन्ति इति अर्थः. फलरूपता तदैव भवति यदा भजनाद् रसो अभिव्यक्तो भवति बहुधा. तस्याः अभिव्यक्तेः निदर्शनं, भगवतः एकात्मतां सायुज्यरूपं फलं न स्पृहयन्ति, प्रार्थना दूरे. ते भक्तेषु विरलाः प्रसङ्गाद् निरूप्यन्ते. केचिद् इति दुर्लभाः. तेषां काय-वाङ्-मनोवृत्तिः स्वभावतएव भगवति भवति इति आह मत्पाद...इत्यादिना. मम पादसेवायामेव अभिरतिः मनोवृत्तिः येषाम्. सर्वतो गत्वा भगवत्कार्यं कर्तव्यम् इति पद्भ्यां सेवा इति अर्थः. अन्यत्तु सुखं गमनानन्तरसाध्यम्. इयं मनोवृत्तिः निरूपिता. कायिकीम् आह मदीहाः इति. मत्सम्बन्धिन्येव ईहा = चेष्टा येषाम्. तेषां वाचनिकीम् आह अन्योन्यतः इति. सर्वे भागवताः एकरूपाः भगवदीयाः प्रसज्य आसक्तिं कृत्वा, मम भगवतः, पौरुषाणि सभाजयन्ते. अन्योन्यम् उक्तानि अतिपौरुषाणि सम्मानयन्ति प्रकटं सुहृष्टाः स्वकार्य-निर्धार-विचारहेतौ प्रमाणम् एतद् गणयन्ति न अन्यत्. तेषां फलावस्थाम् आह॥३४॥

अनुवाद : भक्तिकी साधनावस्थाके बारेमें कह रहे हैं. ऐसे भक्त भक्तिके कारण क्या करते हैं वह जैसे ज्ञानियोंके बारेमें दो प्रकारसे कहा गया है वैसे दो प्रकार बता रहे हैं. उनमें पहला प्रकार न एकात्मतां इत्यादि तीन श्लोकोंसे कहते हैं. जीवित भक्तोंकी १. साधनावस्था २. फलावस्था ३. सायुज्यावस्था. अतः उनकी (भक्तोंकी) उत्क्रमणावस्था और प्रापणावस्था नहीं होती. पहले भक्तोंकी साधनावस्था कहते हैं

कि भक्तिकी फलावस्थाको प्राप्त करनेवाले मेरे साथ एकात्मताकी स्पृहा नहीं रखते. ऐसे भक्त आजीवन मेरी फलरूपा भक्ति ही करते हैं. जब भगवद्भजनमें रसानुभूति होती है तब फलरूपता प्रकट हुयी ऐसा जानना चाहिये.

उस रसानुभूतिकी अभिव्यक्ति भगवान्के साथ एकात्मता अर्थात् सायुज्यरूप फलके लिये, प्रार्थना तो दूर किन्तु उसकी स्पृहा भी न होना (रसानुभूति) है. ऐसे भक्त विरले ही होते हैं. अतः दुर्लभ हैं. ऐसे भक्तोंकी काया वाणी और मन उनके स्वभावके कारण ही भगवान्में तत्पर हो जाते हैं. मेरे चरणोंकी सेवामें ही जिनकी मनोवृत्ति अभिरत रहती है. कहीं भी भगवद्कार्योंके लिये अपने पैरोंसे जा कर सेवा करनेका आग्रह रखते हैं क्योंकि सब सुख तो वहाँ जानेसे ही प्राप्त होता है ऐसी उनकी मनोवृत्ति होती है. ऐसे भक्तोंकी कायिकी चेष्टा भी मेरे लिये होती है. वाचिक चेष्टा भी, मेरी कथाओंका आपसमें मिल कर गान करते हैं. एक-दूसरेसे मेरी अलौकिक कथाको प्रमाण मानके अपना कर्तव्य निर्धारित करते हैं. साधनावस्थानिरूपणके बाद आगे फलावस्थाका निरूपण करेंगे॥३४॥

विवेचन : भक्तिकी पहली आवश्यकता भगवान्में मिल जानेकी नहीं होती अपितु उन्हें भजनेकी होती है. ज्ञानियोंकी पहली आवश्यकता भगवान्में मिल जानेकी होती है जिसे दयारामभाईने एकदम सशक्त शब्दोंमें समझाया है कि *''जलने शुं जलनो स्वाद, जल जुदो रही पामे आह्लाद, सेवो श्रीकृष्णकृपाल.''* आप स्वयं यदि जल बन गये तो प्यास बुझी इसका आनंद आपको नहीं आयेगा. आप यदि जल नहीं बने हो तो ही आपको प्यास लगेगी और जब आप पानी पीयोगे तो आपकी प्यास बुझेगी और उस प्यास बुझनेका आनंद आप समझ पाओगे. आप यदि स्वयं पानी ही बन गये तो प्यास बुझनेका जो सुख है, उसे आप कैसे जान पाओगे. इसीलिए कृष्णकी

उससे अलग रह कर सेवा करो, उसमें मिलो मत. तथ्यकी दृष्टिसे उसमें और हममें कोई भेद नहीं है पर यदि अपना अलग अस्तित्व रखेंगे तो ही उसका स्वाद हमें मिल पायेगा. मिल जायेंगे तो जैसे दयारामभाई कहते हैं *''ज्ञानीनुं सुख एवुं मानजो के पाग आशे छेदावे शीश अने शीश छेद्या पछी पाग क्यां धारे, सहु कोई मूर्ख मनमां न विचारे, जलने शुं जलनो स्वाद, जल जुदो रही पामे आह्लाद, सेवो श्रीकृष्णकृपाल.''* कोई हमें कहे कि तुझे पाग पहनाउंगा पर इसकी शर्त यह है कि पहले तुझे सिर कटाना होगा. अब सिर कटनेपर किसीने पाग पहना भी दी तो उससे लाभ क्या होगा? आजके ज़मानेमें पाग पहनानेका अर्थ समझ नहीं आयेगा. पुराने ज़मानेमें पाग पहनानेका अर्थ होता था कि वह हमें आदर दे रहा है. यही हाल ज्ञानीका है कि शीश कटनेके बाद ही पाग पहनते हैं. पर उसमें सुख कहाँ है.

एक बात सच्ची है कि हमें 'नर' कहा जाता है. 'नर'का अर्थ है जो पानीमेंसे पैदा हुआ हो. हम 'नर'का अर्थ पुरुष समझते हैं पर संस्कृतमें 'नर'का अर्थ पुरुष नहीं है, 'नारा' अथवा पानीमेंसे जो उत्पन्न हुआ हो वह 'नर'. 'नर' और 'नारी' दोनों ही प्रयोग पानीसे पैदा होनेवालेके लिए होते हैं. हम पानीसे पैदा हुए हैं पर इस पानीसे पृथक् रहेंगे तो ही तो प्यास लगेगी. प्यास लगेगी तो ही हम प्यास मिटनेका आनंद ले पायेंगे, नहीं तो पानीमें हमको कोई डुबा दे तो प्यास बुझनेका आनंद खतम हो जायेगा. यही बात दयारामभाई कह रहे हैं कि *''जलने शुं जलनो स्वाद जल जुदो रही पामे आह्लाद, सेवो श्रीकृष्णकृपाल.''* सभी कुछ कृष्ण है पर यदि हम कृष्ण ही हो जायेंगे तो कृष्णका आनंद नहीं ले पायेंगे. कृष्णका आनंद लेना है तो कृष्णके बाहर तुम्हें रहना पड़ेगा. इसलिए भक्तोंकी प्राथमिक आवश्यकता भगवान् होनेकी नहीं होती है अपितु भगवान्से पृथक् रह कर उन्हें भजनेकी होती है. The

devotion is for relishment of God and not only for his realisation. Realisation is also a must for the devotee but not at the cost of His devotion. The story does not stop at realisation but it goes beyond. Where the knowledge and story of seer ends, story of the devotee starts from that point. Yes we have realised You but now we also want to relish You."

**प्रश्न :** क्या 'मिलनेसे' आपका अर्थ सायुज्य है ?

**उत्तर :** सायुज्यके दो अर्थ होते हैं. जैसे नदी समुद्रमें सायुज्य प्राप्त करती है. इससे वह अपना नदीपना खो देती है. ऐसे ही पनडुब्बी भी समुद्रमें सायुज्य प्राप्त करती है पर वह अपना अस्तित्व खोती नहीं है. ज्ञानमार्गीय सायुज्य नदीकी तरह है और भक्तिमार्गीय सायुज्य पनडुब्बीकी तरह है. पनडुब्बी अपना अस्तित्व समुद्रमें सायुज्य होनेके बाद भी नहीं खोती.

**प्रश्न :** भक्त यदि संसारमें ही रहना चाहता है तो क्या हमेशा उसे संसार लगनेका भय नहीं लगेगा ?

**उत्तर :** एक बात कहुं कि किसी भी वस्तुका आनंद हमें तभी होता है कि जब उसे मिलनेमें हमें बाधाएं आयें. जिस भी वस्तुको मिलनेमें हमें कोई कठिनायी नहीं हो तो उसमेंसे आनंदका भाव ही चला जाता है. उदाहरणके तौरपर यदि आप काश्मीरमें जा कर रहने लगें तो आपको काश्मीरका आनंद ही आना बंद हो जायगा. काश्मीर जानेमें जो कठिनाई आती हैं, उसमें वहां जानेका आनंद छुपा हुआ है.

ओशो रजनीशके एक शिष्यने उन्हे कहा कि "भगवान्, मैं पूरे तौरपर आश्वस्त हुं कि सिगरेट् स्वाथ्यके लिए हानिकारक है. पर मैं उसे छोड़ नहीं पा रहा हुं. क्या आप इसमें मेरी कुछ मदद कर सकते हैं?" रजनीश उससे बोले कि "तू मेरे साथ

दो दिन रह ले तो मैं तेरी सिगरेट् छुड़ा दूंगा. पर तुझे मेरे कहे अनुसार करना होगा.'' दोनोंमें यह समझौता हो गया. रजनीशने बहुत सारी सिगरेट् मंगा कर रख ली और उस व्यक्तिके जागते ही उसे वह सिगरेट् दे देते और पीनेके लिए कहते. उसे लगातार इतनी सिगरेट् पिलायी कि वह थक गया. दो सिगरेट्के बीचमें आता अन्तराल ही अपनी कामना बढ़ाता है. रजनीशने यही किया. उसको बीचमें कोई अंतराल ही नहीं दिया. बस उसे सिगरेट्से नफरत हो गयी और उसने छोड़ दी.

मेरे एक परिचित थे. मैं जब भी उनके घर जाता वह मुझे परवल और आलू तल कर, उसपर नमक और कालीमिर्च डाल कर खानेके लिए देते थे. मुझे बहुत अच्छे लगते थे इसलिए मैंने एक-आध बार उसकी प्रशंसा कर दी. फिर तो मैं उनकी गलीसे जब भी निकलूं तो मुझे पकड़ कर ऊपर ले जाते वह खिलानेके लिए. अब तो मुझे उससे ऊब आने लगी. इस प्रकार किसी भी वस्तुका आनंद हमें तभी आता है जब वह हमें कठिनाईसे उपलब्ध होती हो. यदि वह आसानीसे मिल जाये तो उसका आनंद आना बंद हो जाता है और यदि वह बहुतायतमें मिल जाये तो हम उससे परेशान होने लगते हैं. हमारी मनोवैज्ञानिक संरचना ही इस प्रकारकी है.

**प्रश्न :** क्या भक्तिके विषयमें भी ऐसा ही है कि भक्ति बहुतायतमें करो तो उसमें आनंद समाप्त हो जाता है?

**उत्तर :** हो सकता है कि आप बहुत अधिक भक्ति करते हो तो ठाकुरजी बोर हो जायें. पर इसमें एक बात समझनेकी है कि क्या अधिक है और क्या अधिक नहीं है, यह तो व्यक्ति विशेषपर निर्भर करता है. कोई आपकी ओर देख कर यदि मुस्कुराये तो आपको अच्छा लगेगा कि नहीं? पर उसके साथ यह भय भी लगेगा कि पता नहीं किस उद्देश्यसे वह व्यक्ति मुस्कुरा रहा

है. इस प्रकार भक्ति अधिक है अथवा कम, यह हर व्यक्तिके लिए अलग-अलग मापदंड होगा. पुराने ज़मानेके लग्नके गीत दो-सौ सालोंसे गाये जा रहे हैं. क्यों वह पुराने नहीं पड़ जा रहे हैं? क्योंकि वह केवल लग्नके दिनोंमें ही गाये जाते हैं. फिल्मी गाने क्यों नहीं गाये जा रहे? क्योंकि कोई भी गाना यदि प्रचलित हुआ तो वह रास्तेमें हर जगह बजाया जाता है और आप उससे बोर् हो जाते हो.

इसीलिए मैं इस पक्षका हुं कि अपने पुष्टिमार्गीय कीर्तन पब्लिक्में नहीं गाये जाने चाहिये. एक बार आपने वह किसी ऑडिटोरियम्में गाने शुरू कर दिये तो वह फिर सभी जगह सुननेको मिलेंगे और अपनी रुचि उनमें कम हो जायेगी, उनमें आनंद आना बंद हो जायेगा. अपने कीर्तनकी प्रणाली भी कितनी सुंदर बनायी है कि कोई भी कीर्तन केवल वर्षमें एक-दो बार ही गाया जाता है. इस कारण उसे समयपर गानेका आनंद ही अलग प्रकारका आता है. इस तरह आप एक बात ठीकसे समझ लो कि भक्तिकी आवश्यकता ही ऐसी है कि उसमें कुछ वंचित रखा जाता है और कुछ दे दिया जाता है. न तो बहुत दिया जाता है और न ही बहुत वंचित रखा जाता है. इस संतुलनमें ही आनंद छिपा हुआ है. ज्ञानकी कथा और उसका स्वभाव दूसरे प्रकारका है.

इसीलिए कह रहे हैं **न एकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचिद्** मुझमें विलय होना मेरे भक्तोंको नहीं रुचता क्योंकि **मत्पादसेवाभिरताः मदीहाः** इनको मेरी ही लालसा है और इस कारण ही ये मेरी सेवामें रत रहते हैं. **ये अन्योन्यतो भागवताः प्रसज्ज्य सभाजयन्ते मम पौरुषाणि.** और जब मेरी सेवा नहीं मिलती तो मेरी बात करनेकी ही इन्हें इच्छा होती है. देखो, अपनी सेवा और अनवसर का पूरा सिद्धांत इसी धरातलपर रचा गया है. सेवाके अवसरमें सेवा

और सेवाके अनवसरमें कथा **सेवायां वा कथायां वा** (भ.व.९) हम देखें तो भक्तिवर्धिनीका भवन इस भूमिपर खड़ा है.

**तादृशभक्तानां ज्ञानिनामिव अग्रिमकृत्यम् आह प्रकारद्वयेन. तत्र प्रथमम् आह त्रिभिः न एकात्मताम् इत्यादिभिः.** ऐसे जो भक्त हैं उनकी ज्ञानियोंकी तरह तीन अवस्थाएं हैं. साधनदशाकी दो, जीवितावस्था एवं मृतावस्था और तीसरी फलदशा. **जीवतां साधनावस्था फलरूपा तथा परे सायुज्यं च तृतीयं स्याद् अतो न उत्क्रान्तिप्रापणे.** एक जीवितमें साधनावस्था, दूसरी जीवितमें फलावस्था और तीसरी सायुज्य. यह 'उत्क्रान्ति'की व्याख्या यहां नहीं बल्कि ब्रह्मसूत्रमें समझायी गयी है. वहां यह चर्चा की गई है कि यदि सब कुछ ब्रह्म है और वह व्यापक भी है तो जीव उत्क्रमण करके ब्रह्म तक पहुँचता है, यह कैसे कहा जा सकता है? 'उत्क्रान्ति'का मतलब श्रेष्ठताको प्राप्त होना अथवा बाहर निकलना. यदि अंदर और बाहर ब्रह्म ही है तो वह किससे बाहर निकलेगा और बाहर निकल कर ब्रह्म तक कैसे पहुंचेगा और वापस आ भी किस प्रकार सकेगा? ब्रह्म और जीव के संदर्भमें यह विचार वहां करनेमें आया है. चलो मान लिया कि जीव कदाचित् व्यापक नहीं है, परमाणु है. पर ब्रह्म तो सभी जगह है, भूतलपर भी और वैकुंठमें भी है. तब तो यह कहना कि जीव, देह छोड़ कर ब्रह्म तक पहुंचता है; निरर्थक हो जाता है. इसलिए उत्क्रांति गति और आगति, यह जीव और ब्रह्म के संदर्भमें कहाँ तक सही है? इस विचारके उत्तरमें कहा गया है कि ब्रह्मकी दृष्टिसे जीवकी उत्क्रांति गति और आगति संभव नहीं है पर जीवके अपने अनुभवसे संभव है. क्योंकि जीव स्वयं अणु है और ब्रह्म व्यापक है पर जीवको उसकी व्यापकताका सदा भान नहीं रहता है, अव्यापकताका ही भान रहता है.

आपको समझनेके लिए एक उदाहरण देता हुं. मानो कि आपको

यहांसे अहमदाबाद जाना है. वह आप तभी तो जा पायेंगे कि जब मुम्बईमें अहमदाबाद न हो. तभी किसी वाहनमें बैठ कर मुम्बईसे अहमदाबाद जा पायेंगे और वापस मुम्बई भी उसी प्रकारसे आ सकते हैं. ऐसा इसलिए है क्योंकि मुम्बई और अहमदाबाद एक अपनी सीमामें हैं. पर हम जब भारतकी बात करें तो क्या भारतमें ऐसा उत्क्रमण हो सकेगा? आप अहमदाबाद जा रहे हो तो भी भारतमें हो और मुम्बईमें हो तो भी भारतमें हो. जब भारतके संदर्भमें हम बात कर रहे हैं तो हम यह नहीं कह पायेंगे कि हम भारतसे चले गये और भारतमें आ गये. मुम्बई अथवा अहमदाबाद के संदर्भमें आप यह कह सकते हो कि हम बाहर जा रहे हैं. मानो कि आपको कोई फोन्पर पूछे कि ''आप भारतमें हो?'' तो आप अहमदाबाद जानेके लिए उसे यह बोलेंगे कि ''नहीं, बाहर जा रहा हूँ?'' क्योंकि दोनों ही शहर भारतमें हैं. पर इसी सर्कल्को हम संकीर्ण बनाएं शहरके लेवल तक, तब हम यह बोल पायेंगे.

उसी प्रकार ब्रह्मके संदर्भमें हमारी उत्क्रांति-गति-आगति नहीं है पर लोक और देह के संदर्भमें है. यह अपना देह एक बहुत संकीर्ण दृष्टिसे ब्रह्म है और इस संकीर्ण ब्रह्मसे निकल कर हम किसी दूसरे संकीर्ण ब्रह्ममें जा रहे हैं. पर ब्रह्मकी दृष्टिसे न तो हम कहीं जा सकते हैं और न कहीं आ सकते हैं क्योंकि हम ब्रह्ममें ही तो हैं तो जायेंगे कहां? बस इसी बातका खुलासा ब्रह्मसूत्रमें किया गया है. जैसे, ऐसा कहा जाता है कि फलाने स्वामीजी ब्रह्मलोकमें पहुँच गये. अब ब्रह्म कोई स्थान तो है नहीं जहां पहुँचा जा सके, वह तो व्यापक है. पर यह बात उनकी किसी उत्कृष्ट अवस्थाको प्राप्त होनेके संदर्भमें कही जा रही है, ऐसा समझना चाहिये.

अपने पुष्टिमार्गमें भी ऐसी ही भ्रांति है. यहां भी महाराजोंके लिए यही कहा जाता है कि ''फलाने महाराज नित्यलीलामें पधार

गये.'' पर क्या यह जो चल रही है वह नित्यलीला नहीं है? यदि वह नित्यलीला है तो वहां तो प्रवेश हो ही नहीं सकता. प्रवेश तो केवल अनित्यलीलामें ही हो सकता है. वह काल जो सदा है, उसमें आप प्रवेश कैसे कर सकते हैं. That which is eternal, where everybody is there, how can you enter in that time. But out of our ignorance we say that He entered into Nityalila. After that we organise a condolence meeting also! अरे, एक तो वह नित्यलीलामें गये है, ऊपरसे आप शोकसभा भी रख रहे हैं! यह तो परम हर्षका विषय है. ऐसे सब घोटाले हमारे बोलनेमें होते हैं.

इसीलिए कह रहे हैं कि **जीवतां साधनावस्था फलरूपा तथा परे सायुज्यं च तृतीयं स्याद् अतो न उत्क्रान्तिप्रापणे.** जीवितकी एक साधनावस्था, दूसरी फलावस्था और तीसरी सायुज्य, यह तीन अवस्था होती हैं. इसीके समानान्तर महाप्रभुजीने सेवाफलमें **''अलौकिक-सामर्थ्यं, सायुज्यं सेवोपयोगीदेहो वैकुण्ठादिषु''** (सेवाफलविवरणम्-१) देखो, यहां जैसे तीन अवस्थाएं बतायी हैं वैसे ही सेवाफलमें भी सेवाकी तीन अवस्थाएं बतायी हैं. **अतो न उत्क्रान्तिप्रापणे** कहते हैं कि भक्तको उत्क्रान्ति और प्रापण की आवश्यकता नहीं रह जाती. उत्क्रान्ति और प्रापण की आवश्यकता उसे होती है जिसे यह देह बंधन लगता है. जो इस देहको भक्तिका साधन समझता हो उसे उत्क्रान्तिकी क्या आवश्यकता! और जो सेवा कर रहा है और उसे लग रहा है कि उसे ठाकुरजी तो मिल गये है, प्रापण्यकी अथवा कहीं पहुंचनेकी क्या आवश्यकता है, यह दोनों तो उसे मिल ही गये हैं.

**तत्र प्रथमं भक्तानां साधनावस्थाम् आह न एकात्मताम् इति. इयं हि फलरूपा भक्तिः ज्ञातव्या.** यह जो फलरूपा भक्ति है उस भक्तिके लिए जीवकी मुक्तिकी स्पृहा समाप्त हो जाती है क्योंकि

उसे कहीं न कहीं ऐसा लगता है कि यदि मेरी मुक्ति हो जायेगी और मुझे भक्तिका मौका नहीं मिला तो उस मुक्ति और इस बंधन में भेद क्या है! और समझो कि मेरी मुक्ति न हो और यह भक्ति मुझे मिलती रहे तो इसमें हानि क्या है! भक्तकी मनोवृत्ति ऐसी होती है कि "मानो कि मैं भक्ति करुं और मुझे मुक्ति मिल गयी तो मैंने पाया क्या और खोया क्या?" मिली तो केवल मुक्ति और खोयी भक्ति, जिसकी उसे तीव्र इच्छा है. और कदाचित् मुक्ति नहीं भी मिली और यदि भक्ति मिलती हो, जो उसकी तीव्र इच्छा है, तो वह भक्ति उसके लिए उचित ही है. यह भक्तकी मनोवृत्तिके बारेमें कह रहे हैं. जैसे दयाराम भाई कहते हैं कि *"रीझे राबड़ी थकी गरीब लोक रे, भोगीने न भावे रे. अमे तो राजना खासा खवास, मुक्ति मन न आवे रे. नित्य निरखिये श्रीनटवररूप रे, होंश हैयामांथी रे."* भक्तकी मनोवृत्ति कुछ इस प्रकारकी होती है कि उसे मुक्ति नहीं चाहिये. मुक्ति तो उसे चाहिये जो इस देहको बंधन मानता हो. जो इस देहको भक्तिका साधन मानता हो, उसे मुक्तिकी इच्छा किस प्रकार हो सकती है? उसकी तो केवल एक ही इच्छा रहती है कि यह देह है तो मुझे भक्ति करनी है और कोई और देह मिले तो भी भक्ति तो मुझे करनी ही है. ऐसा कोई विकल्प मिलता हो तो तो सौदा मंज़ूर है, नहीं तो नहीं.

**ते भक्ताः यावद् जीवन्ति तावत् फलरूपां भक्तिं कुर्वन्ति इति अर्थः**. यह भक्त तो जब-तक जीता है, तब-तक यही फलरूपता उसकी रहती है. फलरूपताका अर्थ यह है कि जो भक्ति वह कर रहा है उससे दूसरा कोई फल नहीं चाहिये. "मैं भक्ति कर रहा हुं और इस भक्तिका फल मुझे भक्ति चाहिये." आज-कल पुष्टिमार्गकी कथा दूसरी है. आज हमें भक्तिके फलरूपमें कमायी चाहिये, लाभ चाहिये. इनकी कथा तो भक्तिकी मनोवृत्तिसे कोसों दूर है.

इसे तो यहां चर्चाके काबिल ही नहीं समझा गया है. यहां तो मुक्तिकी बात हो रही है, क्योंकि देवहूतिने मुक्तिकी ही इच्छा प्रकट की है. पर इसके सामने जब भक्तिकी चर्चा आ रही है तो वहां कपिलजी कह रहे हैं कि भक्तको मुक्तिकी आवश्यकता ही महसूस नहीं होती. **न एकात्मतां मे स्पृहयन्ति.**

अब महाप्रभुजी आगे कहते हैं. **फलरूपता तदैव भवति यदा भजनाद् रसो अभिव्यक्तो भवति बहुधा.** कोई भी भाव हो, भक्ति भी एक प्रकारका भाव ही है. भाव और रस में थोड़ा भेद है. हर रस भाव होता है पर हर भाव रस नहीं हो सकता. इसे समझनेके लिए एक सूत्र है *विभावानुभाव संचारिभाव से निष्पन्न स्थायी भावको 'रस' कहा जाता है.* इसे निम्नलिखित रेखाचित्रके द्वारा समझा जा सकता है:

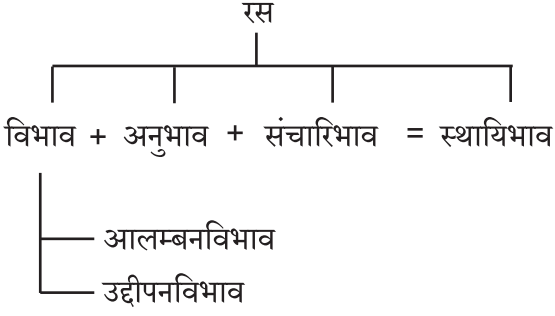


यह एक एस्थेटिक्स् अथवा सौंदर्य-शास्त्र का विषय है. अपनी भारतीय परम्परामें सौंदर्यको किस प्रकारसे जानें, सौंदर्यका सिद्धांत क्या है, वह समझनेका शास्त्र है. भारतीय परम्परामें रसको सौंदर्य माना गया है. जहां रस नहीं है वहां सौंदर्य नहीं है, वह नीरस है, सुंदर नहीं है. जैसे गुजराती भाषामें हमें कोई वस्तु अच्छी लगती है तो उसे 'सरस' कहते हैं. 'सरस'का मतलब जो रसके साथ हो. जो भी वस्तु हृदयको अच्छी लगती है, जो भावनाको संतुष्ट

करती है वह रस है. जो भावनाको संतुष्ट नहीं करती है वह नीरस है. इस भावको आगे विभाजित किया गया, विभाव अनुभाव संचारीभाव और इन तीनोंके संयोगसे जो एक भाव हमारे हृदयमें स्थापित होता है, जो अधिक समयतक रहता है वह स्थायिभाव है. उसीको 'रस' कहा जाता है. भाव अथवा रस हमें सौंदर्यका अनुभव कराता है. यदि हमें कोई भी वस्तु अधिक देर तक अपनी ओर आकृष्ट करती है, वही हमें उस रसका अथवा उसमें छुपे सौंदर्यका अनुभव कराती है. विभावके दो भेद हैं, आलंबन और उद्दीपन. समझो कि आपको किसी बच्चेपर प्यार आ रहा है, तो वह बच्चा आपके प्यारकी भावनाका आलंबन-विभाव है. उसकी बालसुलभ चेष्टा उद्दीपन-विभाव है क्योंकि उन चेष्टाओंके कारण ही तो हमें उसपर प्यार आता है. किसीपर आपको गुस्सा आ रहा है तो वह उस रसका आलंबन-विभाव है. उसके सारे काम जिससे आपका क्रोध और बढ़ जाता है, 'उद्दीपन-विभाव' कहलाता है. 'अनुभाव' और 'अनुभव' में भेद है. 'अनुभव' मतलब experience और 'अनुभाव' मतलब expression. जहां भी कोई वस्तु अगर अनुभाव नहीं दे रही है तो वहां भाव धीरे-धीरे समाप्त हो जाता है. उदाहरणके लिए जैसे कोई यदि रोता हो तो हमें भी रोना आयेगा. हम किसीको दिलासा देने जायें और वह रोता ही न हो तो हम दिलासा कैसे देंगे!

मैं ऐसे एक भाईको जानता हुं कि जिसने अपनी शादीकी साठवीं वर्षगांठ बहुत धूमधामसे मनायी और मुझे भी उसमें बुलाया. मुझे लगा कि उनमें बहुत प्रेम है. लगभग दो वर्ष बाद उसकी पत्नीकी अचानक मृत्यु हो गयी. मैं वहां उसे सांत्वना देने गया और उससे कहा कि "मुझे आपकी पत्नीके बारेमें सुन कर बहुत दुःख हुआ." वह मुझसे बोला "इसमें दुःखकी क्या बात है. इतने साल जी ली, चार बच्चे पैदा कर दिये. चारों अच्छेसे अपने व्यवसायमें

हैं. और वह क्या करती जी कर.'' मुझे लगा कि मैंने कुछ गलत कह दिया. मेरे मनमें उनके दो साल पुराने प्रेमको देख कर जो भाव आ रहा था, उनमें रसाभास आ गया. यह जो बात उसने कही वह मेरी भावनाओंके अनुरूप नहीं थी. इसी तरह मैं एक और व्यक्तिको जानता हूं. उसने अपने जीवनके पच्चीस वर्ष अपने व्यवसायको बढ़ानेमें निकाले. अगले पच्चीस वर्ष हिमालयके भ्रमणमें निकाले. हिमालयके बारेमें उसका ज्ञान अद्वितीय था. उसके बाद नैनीताल(खाली ॲस्टेट्)में एक विशाल घर ले कर उसमें अकेला रहता था. अकेलेपनको दूर करनेके लिए उसने साठ वर्षकी आयुमें विवाह किया. दोनोंमें बहुत प्रेम था. दस वर्ष बाद उसकी पत्नी चल बसी. मैं उससे मिलने गया तो बोला ''बाबा, वह चली गयी तो मेरा आधा अंग चला गया.'' यह सुन कर मेरी भी आँखोंमें आंसु आ गये. यह बात रसके विपरीत नहीं जा रही, रस अपनी चरम सीमामें प्रकट हो रहा है, उनका अनुभाव मेरे अनुभवके समानान्तर ही है. इससे आप समझ सकते हैं कि expression अथवा अनुभाव कितना बड़ा रोल् अदा करता है भावमें. यदि अपने भावका अनुभाव न मिले तो वह भाव स्थायी नहीं रह सकता. यदि अपने दिनचर्यामें भी देखें तो इस बातके कई अनुभव हो जायेंगे. आप किसीसे खुशीसे मिलने जाओ और वह आपको कोई भी प्रतिक्रिया न दे तो आपको कैसा लगेगा. तुरंत आपका भी भाव एकदम मर जायेगा. इस अनुभावके आठ या नौ प्रभेद किये गये हैं. उसके विस्तारमें अभी यहां जानेकी आवश्यकता नहीं है.

इसके बाद आता है संचारिभाव, जिसके छत्तीस प्रभेद किये गये हैं. शास्त्रमें इसके बारेमें बहुत विचार किया गया है कि किस भावके साथ कौनसा संचारिभाव उसका विरोधी है और कौनसा उसका अनुपूरक है. इसकी बहुत ही विस्तृत चर्चा की गयी है अपने शास्त्रोंमें. इसका एक उदाहरण आपको देता हूं. हँसना एक संचारिभाव है

जो हमको कभी-कभी क्रोधमें भी आ जाता है, प्रेममें भी आ जाता है तो कभी करुणामें भी. इस प्रकार संचारिभाव किसी स्थायिभावका कभी अनुपूरक होता है तो किसी स्थायिभावका विरोधी भी होता है.

इस तरह विभाव अनुभाव और संचारिभाव को मिश्रित करके एक जो अधिक समय तक रहनेवाला भाव हमारे हृदयमें दृढ़ होता है वह 'स्थायिभाव' कहलाता है और उसीको 'रस' कहते हैं. जैसे, आपको गुस्सा भी आ रहा है फिर भी प्रेम खंडित नहीं हो रहा, एक माँका अपने पुत्रके प्रति प्रेमकी तरह. एक महिला मेरे पास आ कर बोली "महाराज, यह बच्चा बहुत शैतान है." मैंने कहा "बच्चे तो शैतान होते ही हैं, इसमें नया क्या है?" वह बोली "नहीं महाराज, इसकी शैतानीके कारण मुझे इसके साथ मार-पीट करनी पड़ती है और फिर बादमें मुझे ही बहुत परेशानी होती है, रोना आ जाता है. यह बात बालक जानता है और इसलिए अधिक शैतान होता जा रहा है." देखो, यहाँ क्रोध संचारिभावकी तरह आ रहा है. क्रोध आता है, फिर उस बातपर रोना भी आता है. यहां स्थायिभाव है वात्सल्य और उसके संचारी बन कर क्रोध करुण रौद्र आदि आ रहे हैं.

पचासके दशकमें एक नेट्-किंग्-कोल्के नामसे जैज़् सिंगर हुआ है. उसका एक गाना था *"sometime I love you and sometime I hate you. But I hate you because I love you."* यहाँ प्रेम उसका स्थायिभाव है और घृणा संचारिभाव बन कर आ रहा है. उस प्रेमके कारण ही उसे अपनी प्रेमिकामें एक सौंदर्य दिखलायी देता है. आप जिसे घृणा करते हैं, क्या वह कभी भी आपको सुंदर दिख सकता है, नहीं. पर घृणा भी यदि प्रेमके कारण हो रही है तो वह सौंदर्य और अधिक दिखलायी देता है. क्रोध भी

यदि प्रेममें आ रहा है तो वह प्रेमी अथवा प्रेमिका का सौंदर्य और बढ़ा देता है. इसी प्रकार क्रोधमें जब भी हँसी आती है तो वह क्रोधके रसको और बढ़ा देती है.

इस प्रकार रसका पूरा विवेचन शास्त्रमें किया गया है और रसका अर्थ इस प्रकारसे समझाया गया है. यह सभी रसके बारेमें प्रक्रिया यही बतायी गयी है. जो भी भाव इस प्रक्रियाके अन्तर्गत नहीं आता, वह रस नहीं है, केवल भाव ही है. इस तरह सारे रस, भाव तो हैं पर सारे भावोंका रस होना आवश्यक नहीं है.

इसी तरह भक्ति भी फलात्मक तब होती है, जब रसरूप हो जाती है. कहनेका अर्थ है कि अपना जो भक्तिका भाव है, यदि उसे रस होना है तो उसका कोई आलंबन-विभाव होना चाहिये कि आप भक्ति कर किसकी रहे हो. जो आपका आलंबन-विभाव है, उसके चारों ओरका वातावरण ऐसा होना चाहिये कि वह आपके भावको उद्दीपन करे, आपके स्थायिभावमें उत्साहवर्धक हो, जैसे बालककी बालचेष्टा आपमें उसके प्रति प्यारको बढ़ावा देती है. उसमें दोनों ओरसे अभिव्यक्ति भी होनी चाहिये क्योंकि अभिव्यक्ति नहीं होगी तो अंततः वह ठंडा पड़ जायेगा. उसमें संचारिभाव भी होना चाहिये क्योंकि यदि एक ही भाव हो तो उसमें ऊब आने लगेगी. उसमें आनंद आना ही बंद हो जायेगा. इस प्रकार स्थायी भक्तिके भावमें जब अलग-अलग संचारिभाव आते हैं तो उस स्थायिभावमें नये-नये पत्ते खिलते हैं. रंग तो एक ही होता है पर उसके शेड्स् अलग होते हैं. जैसे गहरा नीला, आसमानी नीला, मोरपंखी नीला, हैं तो सभी नीले पर इनके अलग-अलग शेड्स् हैं. विभिन्न नीले रंगोंको देखनेसे आपको ऊब नहीं आयेगी पर एक रंगको देखनेसे ऊब आ जायेगी. जब-तक ऐसे संचारिभाव न हों तो वह रस नहीं बनता.

इसी प्रकार भक्तिमें यदि संसारके प्रतिबंधसे मन उधर भटकता

हो तो वह संचारिभाव ही है. वह तो अपनी भक्तिके आवेगको और बढ़ाता है, यदि स्थायिभाव भक्तिका है तो. यदि ऐसे प्रतिबंध न आयें तो भक्तिमें भी ऊब आने लगेगी. नंददासजी बहुत सुंदर कहते हैं *''मधुर निरंतर खाय होय सुख तो भारी, बिच बिच कटु तिक्त लवण सदा हितकारी''* हमेशा मीठा खाना बहुत अच्छा लगता है पर बीच-बीचमें थोड़ा तीखा, थोड़ा कड़वा खाना भी हितकारी होता है क्योंकि उससे मिठासका अधिक अहसास होता है. हमेशा मीठा खानेसे तो ऊब आने लगेगी. इस प्रकार संचारिभावका स्थायिभावको स्थिर करनेमें बहुत बड़ा योगदान होता है. केवल इसमें एक ही सावधानी रखनी होती है कि संचारिभाव इतने समय तक नहीं स्थिर रखना चाहिये कि वह स्थायि-भावको ही खंडित कर दे. ऐसा होगा तो रसाभास हो जायेगा.

प्रत्येक वस्तुका एक अनुपात होता है. वह उस अनुपातमें हो तो ही उसकी सुंदरता बनी रहती है, अन्यथा नहीं. माँको बालकपर क्रोध आना अच्छा है पर इतना नहीं कि उसका गला ही काट दे. अब आप इतनी बात यदि समझे तो यह भी समझमें आयेगा कि भक्तिमें भी रस प्रकट होना चाहिये. किसी समय ज्ञान, किसी समय सत्संग, किसी समय दुःसंग, किसी समय ऊब, यह सब संचारिभावकी तरह यदि आ रहे हैं और अपने लंबे समयतक रहनेवाले भक्तिके स्थायिभावके अन्तर्गत आ रहे हैं तो यह भक्तिमें निखार लायेंगे. ''मैं तुझे कभी भूल जाता हूं, पर वह इसलिए अच्छा है कि फिर जब तू मुझे याद आता है तो आनंद आ जाता है. कभी मैं तुझसे अलग हो जाता हूं. पर उस अलग होनेमें मुझे तुझसे वापस मिलनेकी चाह अधिक हो जाती है.'' इन सब संचारिभावोंसे भक्तिमें एक सरसता आती है.

**फलरूपता तदैव भवति यदा भजनाद् रसो अभिव्यक्तो भवति**

**बहुधा.** फलरूपता भक्तिकी तब ही समझनी चाहिये, जब वह रसरूप हो जाये. जब-तक रसरूपता नहीं आती तब-तक भक्ति साधनावस्थाकी ही समझनी चाहिये. जब भक्ति आपको सरस लगने लगे तो फिर और क्या चाहिये. अपने हृदयपर हाथ रख कर पूछो कि क्या भक्ति आपको सरस लग रही है? यदि हाँ तो वह फलरूप है. यदि सरस नहीं लग रही है तो साधनरूप है. कपिलदेवजी आपको भक्तिको मापनेका थर्मामीटर् दे रहे हैं. **तस्याः अभिव्यक्तेः निदर्शनं, भगवतः एकात्मतां सायुज्यरूपं फलं न स्पृहयन्ति, प्रार्थना दूरे.** और आपकी भक्ति कब रसरूप होगी, उसके उत्तरमें कहते हैं कि जब आपको मुक्तिकी अपेक्षा न रह जाये. यदि आपको यह लगता है कि हम भक्ति तो कर रहे हैं पर हमें मुक्त होना है तो इसका अर्थ है कि आपको भक्ति सरस नहीं लग रही है. आप भक्ति तो कर रहे हो, बहुत दर्शन कर रहे हो, बहुत झांझ बजा-बजा कर कीर्तन कर रहे हो, बहुत प्रसाद खा रहे हो, पर भक्ति करते-करते आपको किसी और लाभकी अपेक्षा है तो वह लाभ तो मिलेगा पर जो आपकी भक्ति है, वह सरस न रह कर नीरस हो गयी. जब भक्ति करते हुए आपको किसी और वस्तुकी दरकार ही नहीं है तो भक्ति सरस हो गयी. मुझे एक शेर याद आ रहा है:

*''न ताबे मस्ती न होशे हस्ती न शुक्रे नेमत अदा करेंगे*
*खिज़ांमें है जब ये हाल अपना बहार आयी तो या क्या करेंगे*
*यहाँ भी आहें भरा करेंगे वहाँ भी नाले किया करेंगे*
*जिन्हें तुझीसे है सिर्फ निस्बत वह तेरी जन्नतको क्या करेंगे*
*तू अपने दिलसे जला इक शमा-ए-गैर*
*फानी चरागे देरो हरम तो ए दिल, जला करेंगे बुझा करेंगे.''*

भक्तिकी बहुत सुंदर बात है. शायर कह रहे हैं कि ''मेरी मस्ती मेरे ताबेमें नहीं है, मैं कौन हुं इसका भी होश मुझे नहीं है कि जिससे तेरा शुक्रिया अदा करूं. जब मेरा यह हाल पतझड़में

है तो पता नहीं बसंत आयेगा तो मेरा क्या हाल होगा? यहां भी तेरेलिए मैं आह भर रहा हूं और वहां भी तुझसे शिकवा करूंगा क्योंकि मुझे तो तुझसे ही मोहब्बत है तेरी जन्नतसे नहीं.'' शायर अपने आपसे अब कह रहा है कि ''तू एक ऐसी आग अपने दिलमें प्रकटा कि जिसे बुझाया न जा सके. ये मंदिर और मस्जिदके दीये तो जलते रहेंगे, बुझते रहेंगे. तुझे उन दीयोंकी चिंता नहीं होनी चाहिये. तुझे तो अपने दिलसे निकली आगसे सरोकार होना चाहिये.'' भक्तिके मूड्का बहुत ही अच्छा निरूपण किया है. मेरे दादाजी एक बार बाहर पधारे थे, सन् छप्पनकी बात है. तो चोरीसे मैंने उनकी डायरी खोल कर ये गज़ल पढ़ी. तबसे ये मेरे दिमागमें प्रिंट् हो गयी है. आज-तक भूल नहीं सका हुं.

**तस्याः अभिव्यक्तेः निदर्शनं, भगवतः एकात्मतां सायुज्यरूपं फलं न स्पृहयन्ति, प्रार्थना दूरे.** अरे! मुझे सायुज्यकी क्या आवश्यकता है, मुझे तो भक्तिमें ही आनंद आ रहा है! क्या ऐसी अवस्थावाले लोग प्रार्थना करेंगे? प्रार्थना तो वह करता है जिसे भगवान्से कुछ चाह हो. यहां तो पतझड़में भी ऐसी मस्ती है कि उसे धन्यवाद भी देना नहीं चाहता. क्रिश्चनोंमें एक 'थँक्स्-गिविंग्-सेरेमनी' होती है पर हम कभी अपने ठाकुरजीको धन्यवाद नहीं देते. आप आभार उसका प्रकट करते हो जिससे आपको प्रेम नहीं है. वह तो अपने दिलकी आग है, उसका क्या हम आभार व्यक्त करेंगे. जैसे एक फिल्मी गीत था *''बहुत शुक्रिया बड़ी मेहरबानी मेरी ज़िंदगीमें हुज़ूर आप आये.''* यह तो इस भावके बिल्कुल विपरीत हो गया. मेहरबानी किसलिए जबकि ज़िंदगी ही वह है, प्रार्थना तो बहुत दूरकी बात है. प्रार्थना तो उसकी होती है, जो पराया हो. **ते भक्तेषु विरलाः प्रसङ्गाद् निरूप्यन्ते. केचिद् इति दुर्लभाः.** यह भाव भक्तिमें आना बहुत विरल है. हर-एकको नहीं हो सकता, पर जिसको होता है वह भक्त इसकी सरसता समझ सकता है. **तेषां काय-वाङ्-मनोवृत्तिः**

**स्वभावतएव भगवति भवति इति आह मत्पाद...इत्यादिना.** ऐसे भक्तोंको कहनेकी आवश्यकता ही नहीं है कि भगवान्में मन-देह-वाणी लगाओ, वह तो लगे हुये ही हैं, उनकी तो मनोवृत्ति ही वैसी होगी.

यहाँकी ही बात है. एक वैष्णव थे जो हर महाप्रभुजी-गुसांईजीके उत्सवके दिन बड़े मंदिरमें उत्सवका आयोजन करते थे. एक बार ऐसा हुआ कि ट्रस्टी बदल गये और वह उनकी अनुमति लेना भूल गये और मंदिरमें ''महाप्रभुजीका उत्सव मनाया जायेगा'' ऐसा पाटिया लगवा दिया. ट्रस्टियोंने वह निकाल कर फेंक दिया. उस समय उसने मुझे उत्सवपर प्रवचनका भार दिया था. शामको आ कर उसने मुझे कहा ''महाराज, आप मुझे ऐसा आशीर्वाद दो कि आपकी हवेलियोंमें मेरा भाव अखंडित रहे.'' यह कहनेका अर्थ तो साफ है कि उसका भाव खंडित हो गया था. अखंडित रहनेकी प्रार्थना करनेकी आवश्यकता तो तब ही होती है जब भाव खंडित हो गया हो.

इस तरह भक्तको यह प्रार्थना करनेकी आवश्यकता नहीं होती कि ''मेरा देह मन वाणी आपमें लगे, प्रभु ऐसा आशीर्वाद मुझे दो.'' अरे! जब आप प्रभुसे माँग रहे हो तो यह साफ है कि वह स्थिति आपकी है नहीं. कोई पत्नी अपने पतिसे यह कहे कि ''आप ऐसा कुछ करो कि मुझे आपपर प्यार आये.'' इसका अर्थ साफ है कि प्यार है नहीं. **मम पादसेवायामेव अभिरतिः मनोवृत्तिः येषाम्.** मेरी सेवामें जिसकी मनोवृत्ति है. **सर्वतो गत्वा भगवत्कार्यं कर्तव्यम् इति पद्भ्यां सेवा इति अर्थः.** कहीं भी जाये पर अंततः तो भगवान्का ही काम करनेकी इसे इच्छा होती है. **अन्यत्तु सुखं गमनानन्तरसाध्यम्.** क्योंकि सब सुख तो वहाँ (सेवामें) जानेसे ही मिलता है. कोई सेवा करनेका प्रसंग उससे उपस्थित हो जाये तो सेवा करेगा ही. **इयं मनोवृत्तिः निरूपिता.** क्योंकि यह उसकी मनोवृत्ति ही है. **कायिकीम्**

**आह मदीहाः इति. मदीहाः** अर्थात् **मत्सम्बन्धिन्येव ईहा = चेष्टा येषाम्.** इन लोगोंकी सारी चेष्टा ही ऐसी होती है कि जिसका झुकाव मेरी ओर होता है. **तेषां वाचनिकीम् आह अन्योन्यतः इति.** इनकी वाणी भी ऐसी होती है कि जब भी आपसमें मिलें तो बात तो मेरी ही करेंगे. इसलिए हर-एक रसकी मूल आवश्यकता थोड़ी परस्पर विरोधात्मक है. कोई भी रस आपको यदि आंतरिक शांति प्रदान न करता हो तो आप उसे सरस नहीं मान सकते. कुछ न कुछ शांति मिलती है. यहां तक कि क्रोधमें भी जिसके ऊपर आप क्रोध कर रहे हो उससे यदि शांति मिलती हो तो ही आपको क्रोध रूपी रसका आनंद आयेगा. यदि शांति नहीं मिल रही है तो आपको भी उस क्रोधसे छुटकारा पानेकी आवश्यकता महसूस होगी. गाली देनेमें यदि अपनेको शांति मिलती हो तो ही मज़ा आती है.

इस प्रकार अंततः तो अंदरसे हमें शांतिकी आवश्यकता है हर भावमें. चाहे वह द्वेष हो प्रेम हो श्रद्धा हो, कोई भी भाव हो, उसके मूलमें शांतिकी खोज छुपी होती है. पर ऊपरी तौरपर उसमें एक अद्‌भुतता है. उदाहरणतया आप किसी संगीत सम्मेलनमें जाओ और वहाँ कोई अच्छा बजाये और आपको अद्‌भुतताका एहसास न हो तो वहाँ रस प्रकट नहीं होगा. यह जो रस है उसे 'अद्‌भुत रस' कहा जाता है. भक्तिकी भी आवश्यकता है कि भक्ति करनेसे मुझे शांति मिलती है और इसके साथ-साथ मुझे हमेशा नये-नये अनुभव भी होते हैं. इसलिए इसमें अद्‌भुत रस प्रकट होता है. यदि नये अनुभव न हों तो भाव स्थायी नहीं रह पाता. यह हर स्थायिभावकी मूलभूत प्रतिरोधी आवश्यकता है. शांत और अद्‌भुत एक दूसरेके विरोधी हैं, पर दोनों एक साथ संचारिभावकी तरह आ रहे हैं और इन्हींके बीचमें स्थायिभाव रहता है. मैं हर समय इसकी तुलना पृथ्वीके साथ करता हुं. यह एक अद्‌भुत बात है कि सौर

मंडलमें जो ग्रह सूर्यके पास है, वह इतना गर्म है कि वहाँ जीवन नहीं है. जो सूर्यसे दूर है वे इतने ठंडे हैं कि वहां जीवन नहीं है. पृथ्वी एक ऐसी दूरी पर है कि जहां ठंडक भी अधिक नहीं है और गर्मी भी अधिक नहीं है. इस कारण यहां जीवन है. इसी प्रकार भाव भी इतनी कोमल वस्तु है कि उसे एकदम सही अनुपातमें शांति और आश्चर्य की आवश्यकता है. वह इन दोनोंके बीच ही जीवित रह पाता है. यदि अधिक शांति हो जायेगी तो वह उस कारण ही खत्म हो जायेगा और बहुत आश्चर्य आ गया तो केवल ताली बजानेके कारण खत्म हो जायेगा.

**तेषां वाचनिकीम् आह अन्योन्यतः इति. सर्वे भागवताः एकरूपाः भगवदीयाः प्रसज्ज्य आसक्तिं कृत्वा, मम भगवतः, पौरुषाणि सभाजयन्ते.** कहनेका अर्थ यह है कि सेवामें अपने आलंबन-विभाव ठाकुरजीके समक्ष एक शांतिका अनुभव होना चाहिये और उनकी अनुपस्थितिमें अद्‌भुतताका एहसास होना चाहिये. इन दोनोंके बीचमें यदि कोई भाव स्थापित हो गया है तो वह रस बन जाता है जो विस्मय अथवा आश्चर्य का अनुभव है. इसी कारण ही जब दो भक्त मिलते हैं तो केवल अपने आलंबनके बारेमें ही बात करते हैं. यह केवल भक्तिके साथ ही है ऐसी बात नहीं है. अपना कोई भी भाव स्थायी हुआ तो आपसमें मिलने पर वह बात करनेकी आपको पहले इच्छा होगी.

मैं जब छोटा था तो क्योंकि मंदिरके परिसरसे घिरा हुआ था, बाहरका आदमी किसी और कार्यके लिए वहाँ आता नहीं था इसलिए हमें कभी स्वप्नमें भी कल्पना नहीं थी कि कोई व्यक्ति बीड़ी-सिगरेट् फूंक सकता है. वहाँ एक मेनेजरका लड़का चोरी-छुपे कमरेमें बीड़ी फूंकता था. मेरे फुफेरे भाईने एक दिन मुझे यह बात बताई. मुझे तो उसे देखनेमें भी शर्म आ रही थी कि व्यक्तिको

बीड़ी फूंकते हुए देखा कैसे जा सकता है! हम छप्परपर चढ़ कर उसमें गोखला बना कर उसे देखते थे. घरमें कोई भी आता तो उससे केवल उस बारेमें ही बात करनेकी इच्छा होती थी. हमारे लिए यह अत्यंत आश्चर्यका विषय था.

कहनेका अर्थ है कि जब भी हमें आश्चर्यका अनुभव होता है तो उस बारेमें बात करनेकी इच्छा हमारी होती ही है. इसी प्रकार दो भक्त जब भी मिलते हैं तो यही बात होती है कि भगवान् ऐसे करते हैं, वैसे करते हैं. **मम भगवतः पौरुषाणि सभाजयन्ते** यह उन भक्तोंके लक्षण हैं जिनकी भक्ति रसरूप हो गई है. इस प्रकार सेवा और कथा निरंतर चलती रहती है. **''सेवायां वा कथायां वा यस्यासक्तिः दृढा भवेत्, यावज्जीवं तस्य नाशो न क्वापिति मतिर्मम.''** (भ.व.९) इस प्रकारसे यदि भक्ति होगी तो वह फलरूपा होगी जो रसरूप हो गई हो. यदि वह रसरूपा नहीं हुई है तो आप जैसी भी भक्ति कर रहे हैं वह साधनरूपा है.

**(भक्तोंकी फलावस्था)**

श्लोक :

**पश्यन्ति ते मे रुचिरावतंस-**
**प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ॥**
**रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि**
**साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ॥३५॥**

अनुवाद : **वैसे भक्तोंको मेरे रुचिर कर्णाभूषण और अरुणलोचन से युक्त प्रसन्नमुखवाले वरप्रद दिव्यरूपोंका दर्शन होता है. तथा भगवान्के साथ अपनी चाही गई वाणीमें बात-चीत करते हैं ॥३५॥**

सुबोधिनी : **पश्यन्ति इति ते मे रूपाणि पश्यन्ति निरन्तरं भगवत्साक्षात्कारो भवति. यथा मित्रैः सह क्रीडन्ति प्रथमतः पश्यन्ति.**

भगवतो रूपाणि वर्णयन्ति रुचिराणि अवतंसानि कर्णाभरणानि येषाम्. अनेन वृन्दावनादौ भगवत्साक्षात्कारो भवति इति उक्तम्. प्रसन्नानि वक्त्राणि, अरुणानि लोचनानि येषाम् इति राममिव नृसिंहमिव पश्यति इति अर्थः. तेषाम् इष्टोत्पादनार्थं राजसभावम् इष्टानां स्थित्यर्थञ्च सात्त्विकभावं प्रकटयन्ति इति वा. रूपाणि इति परमोपासकानाम् एकं रूपं कदाचित् साक्षात्कृतं भवति, तेषान्तु बहूनि. तानि च दिव्यानि लौकिकबुद्ध्या न गृहीतानि. अलौकिकभावं वा प्रकटयन्ति, तान् प्रत्येव प्रकटानि इति. तथा सति न अतिप्रसक्तिः. तेषाम् अन्यदीयव्यावृत्यर्थं निदर्शनान्तरम् आह वरप्रदानि इति. नहि अन्येन वरं दातुं शक्यते. प्रसन्नाद् रूपाद् एतेषां वैलक्षण्यम् आह साकं वाचम् इति. जीवन्तएव एते एतस्मिन्नेव लोके भगवता सह स्पृहणीयां वाचं वदन्ति, यथा मित्रैः सह इष्टालापाः क्रियन्ते. ततः तेषां सायुज्यम् आह तैः इति॥३५॥

अनुवाद : वे भक्त मेरे रूपोंका दर्शन करते हैं, निरन्तर भगवत्साक्षात्कार भी होता है. जैसे मित्रोंके साथ पहले एक-दूसरेको देख सकते है वैसे भगवान्का दर्शन करते हैं. भगवान्के अनेक रूपोंका वर्णन करते हैं. उनमें रुचिर कर्णाभरणवाला रूप है. इससे यह सूचित होता है कि वृन्दावन आदिमें भगवान्का साक्षात्कार होता है. भगवान्के रूपोंमें जैसे मुखके ऊपर प्रसन्नता और लोचनमें लालिमा झलकती है वैसे राम या नृसिंह की तरह दर्शन करते हैं वह सूचित किया. उनकी इष्टसिद्धिकी पूर्तिके लिये राजसभाव और वे पदार्थोंकी स्थितिके लिये सात्त्विकभाव सूचित किया. परमोपासक किसी एक रूपका ही कदाचित् साक्षात्कार कर सकता है परन्तु ऐसे भक्तोंको तो अनेक रूपोंका साक्षात्कार कर सकते है. ऐसे भक्तोंको तो अनेक दिव्य रूपोंका साक्षात्कार होता है क्योंकि लौकिक बुद्धिसे इन रूपोंका दर्शन नहीं करते. यह दिव्य रूप उनके सामने ही प्रकट होनेसे भक्त भी अलौकिकभावोंको प्रकट करते हैं. ऐसे भक्त अनन्य भगवदीय हो जाते हैं. यह जतानेके लिये भगवद्रूपोंका वरदायी रूपोंकी तरह निदर्शन किया है. अन्य कोई

भी भक्तोंका मनोरथ पूर्ण करनेके लिये वरदान नहीं दे सकते. प्रसन्नरूपोंसे भी इन भगवद्रूपोंकी विलक्षणता बताते हैं कि वर्तमान शरीरसे ही इस लोकमें भगवान्‌के साथ बात-चीत करते हैं. जैसे मित्रोंके साथ प्रेमभरी बातें की जाती हैं. इसके बाद भक्तोंकी सायुज्यावस्था बताते हैं॥३५॥

विवेचन : जैसे लोगोंका वर्णन पहले श्लोकोंमें किया गया है, वैसे लोग जो मेरी सेवाकी इच्छाके कारण मुझमें सायुज्य नहीं चाहते हैं और सेवा न मिले तो मेरी लीलाका अवगाहन करते हैं, उनको ही मेरे स्वरूपके दर्शन होते हैं. क्योंकि वे यदि मुझमें मिल जायेंगे तो कैसे मेरे स्वरूपको देख पायेंगे. **पश्यन्ति** अर्थात् **ते मे रूपाणि पश्यन्ति निरन्तरं भगवत्साक्षात्कारो भवति.** उन्हें निरंतर भगवत्साक्षात्कार उपलब्ध होता है. उसका प्रकार बता रहे हैं कि **यथा मित्रैः सह क्रीडन्ति प्रथमतः पश्यन्ति.** किसी भी मित्रके साथ खेल खेलना हो तो सबसे पहले हम उसको देखते हैं. इसीलिए यह पहले भगवान्‌के रूपका वर्णन कर रहे हैं कि **भगवतो रूपाणि वर्णयन्ति रुचिराणि अवतंसानि कर्णाभरणानि येषाम्.** ऐसे भगवान् कि जिन्होंने कर्णमें आभूषण धारण कर रखे हैं. **अनेन वृन्दावनादौ भगवत्साक्षात्कारो भवति इति उक्तम्.** भगवान्‌के जो रमणस्थल वृन्दावनादी हैं, ऐसे भक्त वहां उनका साक्षात्कार करते हैं. **प्रसन्नानि वक्त्राणि, अरुणानि लोचनानि.** उनको सदा भगवान्‌के प्रसन्न मुखके और गुलाबी नेत्रोंके दर्शन होते हैं. **येषाम् इति राममिव नृसिंहमिव पश्यति इति उक्तम्:.** जैसे पहले भक्तोंने राम और नृसिंह के दर्शन किये थे, उसी प्रकार. **तेषाम् इष्टोत्पादनार्थं राजसभावम् इष्टानां स्थित्यर्थं च सात्त्विकभावं प्रकटयन्ति इति वा.** अपने ऐसे भक्तोंकी इच्छानुसार भगवान्‌ने भक्तोंके हृदयमें उनका इष्टरूप उत्पन्न हो, इस कारण अपना राजसरूप प्रकट किया और उनका वही स्वरूप हृदयमें स्थित रहे, इस कारण अपना सात्त्विक स्वरूप प्रकट किया.

**रूपाणि इति परमोपासकानाम् एकं रूपं कदाचित् साक्षात्कृतं भवति, तेषान्तु बहूनि.** कौनसे रूप? जो रूप परमोपासकके हैं. अर्थात् यदि कोई भगवान्‌की विभूतिका उपासक हो, उसे जिस रूपका साक्षात्कार होता है, वह नहीं. मोटे तौरपर विभूतिकी उपासना सकाम लोग ही करते हैं, निष्काम नहीं करते. 'विभूति'का अर्थ है कि आप किसी भी देवताको परब्रह्म न मानो और उसे अपनी कामनापूर्तिका यंत्र मानो, जैसे आज-कल गिरिराजजीको श्रीनाथजीको सांईबाबाको सिद्धि-विनायक गणेशको मानते हैं, वे सब भगवान्‌की विभूति बन जाती हैं. जिस देवको आप परम मान रहे हो, बाकी सारे देवता उसकी विभूति होंगे. 'विभूति' मानें उस परम देवका ऐश्वर्य. आप उसे नहीं भज रहे हो, अपितु उसके ऐश्वर्यको भज रहे हो. भगवान्‌को स्वयं भजना और उनके ऐश्वर्यको भजना, इन दोनों बातोंमें थोड़ा अंतर है. जैसे किसी व्यक्तिको चाहना और उस व्यक्तिको न चाह कर उसकी प्रतिष्ठाको चाहना, यह भेद है. जब किसीकी प्रतिष्ठाको चाह रहे हो तो उसके साथ संबंध उसके किसी विभागसे होगा, न कि उससे. पर जब उसे ही चाह रहे हो तो वह तुम्हारे साथ सीधा संबंध बनायेगा. जब किसी देवताको आप परब्रह्म मान कर उसकी उपासना कर रहे हो तो आप उसके परमउपासक हो.

**प्रश्न :** क्या कोई शिवका उपासक हो तो उसके लिए कृष्ण विभूति होंगे? हम कृष्णको परब्रह्म मानते हैं, वह कैसे विभूति हो सकते है?

**उत्तर :** हां, निश्चित ही वह उसके लिए विभूति रूप होंगे. एक बात समझो कि जो परब्रह्म कुर्सी बना है, मेज बना है, आप बना है, मैं बना है, उसे किसी देवताकी विभूति बननेमें क्या आपत्ति हो सकती है? हम ब्रह्म मानते हैं, इस कारण हम उसकी विभूतिको नहीं चाहते, उसे चाहते हैं, इसलिए वह परब्रह्म है. पर यदि आप कृष्णको न चाह कर उसके किसी पदको चाहते हो तो कृष्ण भी

विभूति बन जाता है. उदाहरणके लिए आप नरेन्द्रमोदीको न चाह कर प्रधानमंत्रीके पदको चाहते हो तो आपको यदि उससे मिलना है तो उसके कार्यालयकी उससे मिलनेकी प्रक्रियाको पूरी करनी पड़ेगी. और उसे भी आपका कोई काम कराना हो तो आपको जिस भी विभागका काम है, उसे निर्देश दे देगा. पर आप यदि उसके निकटके मित्र हो तो आपको उससे मिलनेके लिए उसके कार्यालय नहीं जाना पड़ता. बल्कि आपके पास उसका निजी फोन् नम्बर् होता है. आप जब चाहे उससे बात कर सकते हो.

**प्रश्न :** आपने कहा कि श्रीनाथजी भी विभूति हो सकते हैं, यह कैसे?

**उत्तर :** प्रश्न यह नहीं है कि श्रीनाथजी मानें कृष्ण परब्रह्म है कि नहीं. प्रश्न यह है कि आप उसे क्या मान रहे हो. आप यदि उसकी भक्ति सकाम कर रहे हो तो वह विभूति रूप ही है. जब वह आप और मैं हो सकता है तो क्या विभूति नहीं हो सकता? आप चाह उसे किस भावसे रहे हैं, यह उसपर निर्भर है. आप उसे अपनी कामनापूर्तिके लिए चाह रहे हो कि मुक्तिके लिए चाह रहे हो कि भक्तिके लिए चाह रहे हो? यह तीन ही संभावनाएं हैं. जब आप उसे लौकिक कामनाके लिए चाह रहे हो तो वही ब्रह्म विभूति हो जाता है. जब आप मुक्तिके लिए चाह रहे हो तो वह ब्रह्म होता है और जब भक्तिके लिए चाह रहे हो तो वही ब्रह्म आपके लिए परब्रह्म हो जाता है. अंतर इन सबमें इतना ही है कि आप उसे किस रूपमें स्वीकार कर रहे हो.

**प्रश्न :** आपने समझाया कि "भगवान्ने भक्तिकी उत्पत्तिके लिए अपना राजसरूप प्रकट किया और उनका वही स्वरूप हृदयमें स्थित रहे, इस कारण अपना सात्त्विक स्वरूप प्रकट किया." यह कृपया

दुबारा समझायें.

**उत्तर :** उत्पत्ति हमेशा राजस होती है. स्थिति सात्त्विकी होती है. संहार तामससे होता है.

इस प्रकार यह भक्त भगवान्के परमोपासक है, भगवान्की परमताके उपासक है, अवरताके नहीं. उनका भगवान्के प्रति जो भाव होता है, उसे उत्पन्न कौन करता है? स्वयं प्रभु ही उसे उत्पन्न करते हैं. उसे निभाता कौन है? स्वयं प्रभु. पैदा करते हैं राजस भावसे. प्रभुमें तो तीनों ही भाव हैं. उदाहरणके लिए ब्रह्मका स्वरूपलक्षण बताते है कि ब्रह्म वह है कि जिससे जगत् उत्पन्न होता है, जिसमें स्थित रहता है और जिसमें लीन होता है. वहां उत्पत्ति स्थिति और लय तीनों ही ब्रह्मसे ही होती हैं. वहां ब्रह्मा विष्णु शिव के बारेमें कहनेकी आवश्यकता नहीं होती. पर जब आप उसे ब्रह्मकी तरह नहीं मान रहे हो, किसी देवताकी तरह मान रहे हो तो उत्पत्ति विष्णु नहीं करता, ब्रह्मा करता है. स्थिति ब्रह्मा नहीं करता, विष्णु करता है. संहार ब्रह्मा विष्णु नहीं करते पर रुद्र करते हैं. बात तो वही है पर आपके दृष्टिकोणपर निर्भर करती है.

मैंने आपको यह बात पहले भी सुनायी थी कि हमारे किशनगढ़में सरकारने सभी मंदिरोंको नोटिस् दिया कि आपको मंदिरोंको पब्लिक् ट्रस्ट् घोषित करना होगा. यदि ऐसा नहीं करते तो इसका कारण बताओ. अब हमारा घर तो हमारी दादीजीको उस समयके राजाने भेंट दिया था. वह पब्लिक् कैसे हो सकता था! जब भी निरीक्षक आता तो हम उसे यही कह देते थे कि यहां आपका कोई काम नहीं है क्योंकि यह तो हमारा घर है, मंदिर नहीं. वह इस बातपर खार खा गया और उसने नोटिस् भेजा. हमने भी, क्यों यह घर है, इसके कारणसहित उसका उत्तर दे दिया. अब उसने लिखा कि "यह तो ठीक है पर आपकी दादीने आपको यह संपत्ति आपके पिताको दी, ऐसा कोई दस्तावेज तो आपने दिया ही नहीं है."

ऐसा कुछ तो हमारे पास था ही नहीं. उसे भी कोई कारण खोजना था सो उसने खोज लिया. मैंने खूब ढूंढा पर मुझे ऐसा कुछ मिला नहीं. फिर किसीने बताया कि कोर्टमें एक दस्तावेज उसने देखा है, वह चॅरिटी कमिश्नर्की ऑफिस्से मिल सकता है. मैंने उसी निरीक्षकको लिखा कि आपके पास ही वह दस्तावेज है, आप देख लें. उसने साफ मना कर दिया कि उनके विभागके पास ऐसा कोई दस्तावेज नहीं है. मैं चॅरिटी कमिश्नर्के पास गया जो सौभाग्यसे मेरे दादाजीके विद्यागुरुके बेटे ही थे. उन्होंने कहा कि हो जायेगा और उसी समय इन्स्पॅक्टर्को बुलाया और दस्तावेज ढूंढनेको कहा. मेरे सामने ही उस इन्स्पॅक्टर्ने चॅरिटी कमिश्नर्से झगड़ा शुरू कर दिया कि ''यह तो हमारे विरुद्ध ही केस् लड़ रहे है. इन्हें हमें क्यों दस्तावेज देना चाहिये.'' बेचारे कमिश्नर् भी चुप हो गये. अब क्या किया जा सकता था! मैं भी उस इन्स्पॅक्टर्के ऊपर गुस्सा हो गया कि आप दस्तावेज छुपा रहे हैं. मैं आपके विरुद्ध न्यायालयमें जाउंगा. वह बोला ''आप जाओ. आपका दस्तावेज मैं जला दूंगा पर आपको नहीं दूंगा.'' खैर, मैं उस कार्यालयसे बाहर निकला तो वहांके चौकीदारने मुझसे पूछा ''महाराज झगड़ा क्या है?'' मैंने उसे अपनी परेशानी बतायी. वह बोला ''आप क्यों चिंता करते हैं. इस इन्स्पॅक्टर्को कहां पता है कि दस्तावेज कहां है. यह तो हमें पता है. उसने मुझसे पूछा कि आप रुके कहां हो?'' मैंने उसे अपना पता दिया. शामको वह आगे-पीछेके सारे दस्तावेज ले कर आ गया. बोला ''आपको इसमेंसे जो भी दस्तावेज चाहिये, वह आप ले लो.'' तब-तक मैं करीब बीस हजार रुपये खर्च कर चुका था इस दस्तावेजके लिए. वह काम केवल दो-सौ रुपयेमें हो गया. देखो, काम नीचेके पदका था. इसके लिए यदि हम ऊपर जायेंगे तो काम तो होगा कि नहीं पर झगड़ा तो बढ़ेगा ही.

इसी प्रकार दुनियाके नीचे दर्जेके कामके लिए हम परब्रह्मकी

भक्ति करें तो उसे कितना नीचा हम गिरा रहे हैं! परमोपासक इस सबमें नहीं पड़ता. इसीलिए महाप्रभुजी कहते हैं कि **''लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं क्लिष्टो भवति सर्वथा''** (सि.मु.१६) लौकिक कामनाके लिए यदि तुम कृष्णको भजोगे तो कामना तो पूरी होगी नहीं और क्लेश और होगा. पर कृष्णकी कामनाके लिए यदि तुम कृष्णको भज रहे हो तो यह राजस कामना पैदा करनेवाला भी कृष्ण है, उसे निभानेवाला भी कृष्ण ही है. शिवकी कामनासे शिवको भजो तो तुम्हारे भीतर कामना अपने लिए शिव पैदा करेगा. वह रूप भी आपके सामने ऐसा ही प्रकट करेंगे कि जिससे आपको शिवकी कामना हो. कृष्ण भी ऐसा ही करते हैं. पर आप लौकिक कामनाके लिए यदि कृष्णको भज रहे हो कि लड़कीकी शादी नहीं हो रही, लड़केको नौकरी नहीं मिल रही, मिल जाये तो मैं आपको राजभोग आरोगाऊंगा. यह तो मच्छर मारनेके लिए मशीनगन्के प्रयोग जैसी बात है.

**रूपाणि इति परमोपासकानाम् एकं रूपं कदाचित् साक्षात्कृतं भवति, तेषान्तु बहूनि.** परमोपासकका तो कदाचित् एक रूप प्रकट होगा जिसका साक्षात्कार होगा, पर प्रभुके तो अनेक रूप हैं. और वह कैसे हैं? **तानि च दिव्यानि लौकिकबुद्ध्या न गृहीतानि.** 'दिव्य' मानें वह लोक जैसे लग रहे हैं पर लौकिक हैं नहीं. जैसे यशोदाके लिए कृष्ण बालक बन गये. वहां ऐसा कहा गया है कि **''पित्रोः संपश्यतः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः''** (भाग.पुरा.१०।३।४६) पूर्वजन्ममें देवकी-वसुदेवने तप किया था पुत्र प्राप्तिके लिए. भगवान् प्रसन्न हुए और उन्होंने इन्हें वरदान मांगनेके लिए कहा. अब इनके मनमें दुविधा हो गयी कि भगवान् चाहिये कि पुत्र. इस असमंजसमें इन्होंने मांगा कि ''आपके जैसा पुत्र हमें चाहिये.'' भगवान्ने कहा कि ''मेरे जैसा कोई पुत्र नहीं हो सकता और मैं पुत्र नहीं बन सकता. पर मैंने तुम्हें वरदान दिया है तो मैं ही तुम्हारे यहां पुत्ररूपमें प्रकट

होऊंगा.'' इसलिए कारागृहमें भगवान् शंख-चक्र-गदा-पद्मके साथ चतुर्भुज स्वरूपसे प्रकटे. तब देवकीने कहा कि आप यदि ऐसे स्वरूपमें रहोगे तो कंस तो आपको एकदम पहचान जायेगा और आपको मार देगा. इसलिए आप इस रूपको ढक लो. तब भगवान् बोले कि तुमने ही तो मांगा था कि मेरे जैसा पुत्र तुम्हें चाहिये. तब देवकीने कहा कि नहीं मुझे डर लग रहा है कि आपको कंस पहचान जायेगा. ऐसा सुन कर भगवान् लौकिक बालककी तरह बन गये. भगवान् लौकिक बालककी तरह बने हैं, लौकिक बालक नहीं हैं. व्रजबालकोंके लिए उनके सखा जैसे हुए पर लौकिक सखा नहीं हुए. ऐसा समझना चाहिये. यही बात यहां कह रहे हैं कि **लौकिकबुद्ध्या न गृहीतानि**. वह लौकिक बुद्धिसे गृहीत नहीं होते हैं. **अलौकिकभावं वा प्रकटयन्ति, तान् प्रत्येव प्रकटानि इति**. लोकमें प्रकट होनेपर भी वह अलौकिक भाव प्रकट करते रहते हैं. नहीं तो पूतनाको छह दिनका लौकिक बालक किस प्रकार मार सकता है! शकटासुरको कैसे मार सकता है, एक सालका बालक! यमलार्जुनका कैसे उद्धार कर सकता है, है छोटा बालक पर काम बालक जैसे नहीं कर रहा है. अलौकिक भाव प्रकट करता रहता है. **तथा सति न अतिप्रसक्तिः**. यह जो रूप है वह सबके लिए प्रकट नहीं करता. वह रूप जिसके लिए है, उसीको उस रूपका दर्शन होता है. जिसको तुलसीदासजी कहते हैं कि *''जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरत तिन देखी तैसी.''* अंतर कितना है? इसमें एक संभावना ऐसी हो सकती है कि प्रभुकी मूर्ति उसको वैसी दिखायी देती है. पर भागवत इसमें खुलासा करता है कि वैसी दिखायी देती है ऐसा नहीं है परन्तु प्रभु उसके लिए वैसा ही रूप धरते हैं. **''यद्-यद्धिया त ऊरुगाय विभावयन्ति तद्-तद् वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय''** (भाग.पुरा.३।९।११) जिस भावनासे कोई तेरा ध्यान धरता है उसके अनुरूप ही तु रूप धरता है. किसी दूसरेको उस स्वरूपका दर्शन नहीं होता है.

आपको एक उदाहरण देता हुं. हमारे किशनगढ़की ही बात है. वहांके राजा अपने ठाकुरजीको राजा मानते थे और स्वयंको राज्यका दीवान. राज्यमें सिक्का ठाकुरजीका चलता था, राजाके नामका नहीं. इसी प्रकार उदयपुरके राणा एकलिंगजीका सिक्का चलाते थे अपना नहीं. ऐसे पुराने कई राजाओंका ऐसा भाव रहता था. ऐसे ही जगन्नाथजीमें भी वहांके राजा आज-तक अपने आपको जगन्नाथजीका नौकर मानते है और मंदिरकी सफाई भी अपने हाथसे करते हैं. यहां जुहूमें ही सांगलीके राजा रहते हैं. वह गणपतिजीको सांगलीका राजा मानते थे. पुराने राजाओंमें अपने इष्टको राजा माननेकी प्रथा थी. इसलिए किशनगढ़में ठाकुरजी गढ़में बिराजते थे और वह स्वयं तालाबके किनारे एक महल था, वहां रहते थे. वहांके राजाको इच्छा हुयी कि ठाकुरजीको एक दिन हिंडोला तालाबके किनारे झुलायें. इसलिए उन्होंने यह आम लोगोंको सूचना दी कि अमुक दिन ठाकुरजी गढ़से मझेला महलमें पधारेंगे. पहलेका कायदा ऐसा था कि राजा कहीं जाये तो उसके सारे कर्मचारियोंको उसके साथ हाजिर रहना पड़ता था. उस समय किशनगढ़के राजाके जो निजी सचिव थे वे मुसलमान थे, डॉ. फैयाज़ अली. वे मुसलमान होनेपर भी पुष्टिमार्गके बहुत जानकार थे. उन्होंने पुष्टिमार्गपर पी.एच.डी. भी की थी. एकदम चुस्त मुसलमान. पांच समयके नमाज़ी. पर उनका पुष्टिमार्गपर अतिशय स्नेह था. क्योंकि गढ़से ठाकुरजी पधार रहे थे इसलिए उन्हें भी हाजिर होना जरूरी था. वहांके राजाने उससे एक प्रश्न किया ''तुम इन ठाकुरजीको क्या मानते हो?'' मुसलमान होनेके कारण वे असमंजसमें पड़ गये. क्योंकि मुसलमान धर्ममें किसी भी मूर्तिको आदर देना पाप है. अगर ऐसा कुछ राजाके सामने कहै तो नौकरी जा सकती थी. उन्होंने इतना सुंदर उत्तर दिया कि ''ऐसा है हुजूर कि मुझे मालूम नहीं कि यह कौन है पर मुझे इतना अवश्य पता है कि मैं आपको मालिक मानता हूं और आप इनको मालिक मानते हो, इससे अधिक तो मैं क्या जानूं, आप समझते हो.''

देखो, इसमें सारी बात आ गयी. उन्होंने कुबूल किया भी और नहीं भी. बहुत ही अद्‌भुत व्यक्ति थे. मैं जितने दिन भी किशनगढ़में प्रवचन करूं, कोई वैष्णव आवे या न आवे, वे अवश्य हाजिर रहते थे. किसी भी दिन मेरे कहनेके बावजूद मेरे सामने आसनपर नहीं बैठते थे. बहुत पूछनेपर इसका कारण देते हुए बोलते कि ''महाराज, आपका हृदय बड़ा है पर आपके किसी वैष्णवको ऐसा लगे कि कोई मुसलमान उनके साथ कैसे बैठ गया तो यह तो अच्छी बात नहीं होगी.'' ऐसा मुसलमान मैंने आज-तक देखा नहीं. अद्‌भुत व्यक्ति. महाप्रभुजीके जन्मोत्सवपर मैंने उन्हें कहा कि आप भी कुछ कहो. तो ''पुष्टिमार्गमें नेत्र'' इस विषयपर एक घंटेका प्रवचन दिया. पूरी सभा स्तंभित रह गयी कि कोई केवल नेत्रपर एक घंटा कैसे बोल सकता है! बहुत अधिक जानकारी थी उन्हें. पर कुछ वैष्णवोंको उनके इस व्यवहारसे आपत्ति थी. वे उनको ढोंगी कहते थे. मुझे यह बात अच्छी नहीं लगती थी. एक दिन मेरा यमुनाष्टकपर प्रवचन था. उस दौरान मैंने उनको कहा ''डॉक्टर् साहब, हमारे वैष्णव आपके बारेमें जो कुछ बोलते हैं, उसके कारण मैं आपसे क्षमा मांगता हूं.'' उन्होंने इतनी सुंदर बात कही ''नहीं कृपानाथ! आप ऐसी बात न करें. आज आपके समझानेपर मुझे पता चला कि पुष्टिमार्गमें यमुनाजीका क्या स्थान है. पर आप मुझसे पूछें तो यमुनासे अच्छा तो मुझे किशनगढ़का तालाब लगता है. पर आप यदि यमुनाजीको अपनी माँ मानते हो और मैं आपका आदर करता हूं, तो क्या मुझे आपकी माँका आदर नहीं करना चाहिये! और इस कारण मुझे कंठी क्यों लेनी चाहिये? डॉ. फैयाज़ अलीके लिए तो किशनगढ़का तालाब यमुनाजीसे अधिक था. वे कहते थे कि ''मैंने इसका ही पानी पिया है, इसीमें मैं नहाया हुं. मेरे लिए तो किशनगढ़का तालाब ही बड़ा है. पर आप यमुनाजीको माँ मानते हो और आपकी माँको मुझे आदर देना ही है, इसलिए मैं आपका प्रवचन सुनने आता हूं.'' उनके दिमागमें यह बात बिल्कुल

साफ थी. कर्तव्य और स्नेह का विवेक उनमें कूट-कूट कर भरा था. बहुत कठिन है सबमें यह होना. लोग या तो इस तरफ ढरक जाते हैं या उस तरफ. वे बहुत संतुलित थे.

यही बात यहां कह रहे हैं कि **अलौकिकभावं वा प्रकटयन्ति, तान् प्रत्येव प्रकटानि इति.** जैसे डॉ. फैयाज़ अली कहते थे ''जो किशनगढ़के ठाकुरजीके अलौकिक स्वरूपका भाव तो किशनगढ़के राजाको ही पता चल सकता है, मुझे कैसे पता चलेगा.'' यही बात महाप्रभुजी यहां कह रहे हैं. महाप्रभुजीकी पंचशती उत्सवपर किशनगढ़में मेरी ऐसी इच्छा थी कि चारों ओर महाप्रभुजीके वचन लिखे जायें. किसी भी वैष्णवको पूछुं तो वह टालमटोल करे. डॉक्टर् साहब बोले ''कृपानाथ आप मुझे कहें. मैं सारे वचन लिखवा दूंगा.'' जहां उत्सवका स्थल था वहां इतनी सुंदर रीतिसे सारे वचन लिखवाये कि प्रवेश करनेपर पहला वचन क्या दीखना चाहिये, वह वचन लिखवाया. जहां मुझे बैठ कर प्रवचन करना था, वहां कौनसा वचन आना चाहिये, वह वचन लिखवाया. बहुत ही अद्‌भुत व्यक्ति थे. पर वह जो उन्होंने बात कही कि जिसका जो उपासक है, उसे जो रूप अपने आराध्यका अनुभवमें आता है, वह दूसरेको नहीं आता.

**तेषाम् अन्यदीयव्यावृत्त्यर्थं निदर्शनान्तरम् आह वरप्रदानि इति.** ऐसे भक्तको अपनी इच्छा पूरी करनेके लिए कोई दूसरे देवका आश्रय लेनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती. उसकी जो भी इच्छा होती है, उसे भगवान् ही पूरी करते हैं, इसीलिए कहा **वरप्रदानि इति, नहि अन्येन वरं दातुं शक्यते.** क्योंकि और कोई क्यों आयेगा आपको वर देनेके लिए. यदि आप वर किसी औरसे मांग रहे हो तो इसका अर्थ है कि आपकी भक्ति दृढ़ नहीं है. यह तो वही बात हुयी कि आप शादी किसीसे कर रहे हो और घूम किसी औरके साथ रहे हो. **प्रसन्नाद् रूपाद् एतेषां वैलक्षण्यम् आह साकं वाचम् इति.**

**जीवन्तएव एते एतस्मिन्नेव लोके भगवता सह स्पृहणीयां वाचं वदन्ति, यथा मित्रैः सह इष्टालापाः क्रियन्ते.** प्रसन्न भगवान् और निजी भगवान्, प्रसन्न तो भगवान् लगभग सभीपर रहते हैं. पर निजीकी बात कुछ और है. जिसके वे निजी होते हैं, उसीको उनकी प्रसन्नताका सही अनुभव होता है. इसका अंतर पता कैसे चलता है? वह इस प्रकार कि इस प्रकारके भक्तोंके साथ भगवान् बोलते हैं. और वह किसीको सुनायी भी नहीं देता. जैसे अपना बालक हो तो चाहे वह बोलता नहीं हो पर उसकी माँको तो पता चल ही जाता है कि वह क्या कह रहा है. उसे भूख लग रही है अथवा उसे कहीं दर्द है इत्यादि. दूसरेको तो केवल इतना ही पता चलता है कि रो रहा है कि हँस रहा है. पर उसकी आवश्यकता क्या है, यह बात तो माँको ही पता चलती है. **साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति.** परमका जो उपासक होता है उसके साथ परम बोलता है, दूसरेके साथ नहीं बोलता. ऐसे भक्तको भगवान्के साथ बात करनेके लिए वैकुंठमें अथवा कैलाशपर जानेकी गरज नहीं है. इस लोकमें ही वह भगवान्के साथ बात कर सकता है. केवल प्रसन्न ही हैं ऐसी बात नहीं है, पर निजी हो गये हैं. भक्तकी अलौकिक सामर्थ्यकी स्थिति जो महाप्रभुजी सेवाफलमें और यमुनाष्टकमें बता रहे हैं, वही बात यहां कही गयी है. जैसे कोई दोस्तके साथ बात करता है वैसे ही ऐसा भक्त भी भगवान्के साथ बात करता है. अपने यहांकी वार्तामें आता है कि ताजबीबी ठाकुरजीके साथ चौपड़ खेलती थी और उनसे बात करती थी तो अकबरको संदेह हुआ कि यहां कोई दूसरा पुरुष आता है. एक दिन वह वहां अचानक आ गया. पर उसे कोई मिला नहीं. ताजबीबी ठाकुरजीके साथ खेलती थी. उसने कहा है *''हों तो मुगलानी हिन्दुआनी ह्वै रहोंगी मैं, सांवरा सलौना सिरताज सिर कुलहदार''* ताजबीबी बात करती थी ठाकुरजीके साथ.

## ( भक्तोंका सायुज्य )

श्लोक :

तैः दर्शनीयावयवैर् उदार-
विलास-हासेक्षित-वामसूक्तैः ।।
हृतात्मनो हृतप्राणान् च भक्तिः
अनिच्छतो मे गतिम् अण्वीं प्रयुङ्क्ते ।।३६।।

अनुवाद : दर्शनीय अवयवों और उदार विलास हासपूर्वक अवलोकन, मनोहर वाणीद्वारा, भक्तोंके अन्तःकरण और प्राण भगवान्‌के रूपमें वशीकृत हो जाते है, यद्यपि भक्तोंकी इच्छा नहीं होती फिर भी ऐसी भक्ति भगवान्‌में सूक्ष्मगति प्रदान करती है ।।३६।।

सुबोधिनी : तैः पूर्वोक्तरूपैः अनुभवसमयएव आनन्दजनकैः. दर्शनीयाः अवयवाः येषाम्. उदारो विलासः, हासपूर्वकम् ईक्षितं, वामं मनोहरं सूक्तं वाक्यं च येषाम्. तैः हृतान्तःकरणानां वशीकृतेन्द्रियाणाञ्च सा पूर्वोक्ता भक्तिः, ताम् अनिच्छतोऽपि अण्वीं गतिं सायुज्यं प्रापयति. भक्तस्य चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धयर्थं चतूरूपत्वं च साध्यते. तत्र दर्शनीयाः अवयवाः कामपूरकाः, उदारो विलासो अर्थजनकः, हासपूर्वकम् ईक्षितं धर्मजनकं, वामसूक्तानि मोक्षजनकानि. कामो हि विषयसौन्दर्येण अन्तःशक्त्या च सिद्धयति, अतो दर्शनीय इति विशेषणं बहिः अलौकिकसौन्दर्यार्थम्. विलासो हि अर्थस्य नानाप्रकारत्वाय. उदारत्वं तस्य सर्वोपकारकत्वाय. भगवतो हि लीला सर्वेषां सर्वपुरुषार्थदायिनी इति भगवत्त्वम्. हासो देहादौ अध्यासजनकः, अन्यथा निरन्तरं धर्मो न सिद्धयेत्. हासपूर्वकं च ज्ञानं धर्मजनकमेव. सूक्तं हितकारि, अविद्यानाशकम्. वामं परमानन्ददायकम् इति. सूक्ष्मा हि गतिः एकरूपानन्दस्वरूपा, रूपाणि च अनन्तानन्दरूपाणि, अतएव अनिच्छा, अतएव अन्तःकरणेन्द्रियाणाञ्च तैः आकर्षणं, सर्वेन्द्रियसुखरूपत्वात्. सः भगवान् स्वगृहं गच्छन् तानपि नयति. तेतु इन्द्रियाणि मनश्च नयन्ति. भक्तिस्तु फलावश्यम्भाविनी कालादीनाम् अगम्यम्

**अतिसूक्ष्ममेव भगवदात्मकं फलं प्रयच्छति. एवं सायुज्यरूपं फलम् उक्त्वा सालोक्यादिरूपं फलम् आह॥३६॥**

अनुवाद : अनुभवकालमें ही आनन्द-दायक ऐसे वर्णित रूपोंके अवयव दर्शनीय होते हैं. विलास उदार होता है. हास्यपूर्वक भगवान् भक्तोंको निरखते भी हैं और वचन भी मनोहारी बोलते हैं. इन सब कारणोंसे भक्तोंका अन्तःकरण अर्थात् सभी इन्द्रियाँ भगवान्के वशीभूत हो जानेके कारण ऐसी भक्ति भक्तोंको; अच्छी लगे कि नहीं लगे फिर भी, सायुज्यरूपा सूक्ष्मगति प्रदान कर देती है. भक्तोंके चारों पुरुषार्थ सिद्ध करनेके लिए यहां भगवान्के चार रूपोंके चार गुणधर्म वर्णित किये हैं. : १. दर्शनीय अवयव भक्तोंका कामपुरुषार्थका साधक बन जाता है. २. उदार और विलास हास अर्थपुरुषार्थसाधक बन जाता है ३. सहास भक्तोंको देख कर धर्मपुरुषार्थ साधक बन जाता है और ४. मनोहर वचन मोक्षपुरुषार्थके साधक बन जाते हैं. किसी कामका आधार विषयका सौंदर्य और सौंदर्यकी मजा लेनेकी अन्तःशक्तिके कारण पूर्ण होता होनेसे 'दर्शनीय' विशेषण बाह्य अलौकिक सौंदर्यका निरूपण करते हैं. नाना प्रकारके विलास, अर्थके नाना प्रकार होनेके कारण उदारता सभी बातोंमें उपकारक हो जाती है. भगवान्की लीला सभी लोगोंके लिए सब पुरुषार्थोंकी साधिका होनेसे भगवद्रूपा होती है. भगवान्का हास्य देह आदिमें अध्यास प्रकट करनेवाला होता है. अन्यथा देहाध्यास छूट जानेसे धर्माचरणमें नैरन्तर्य नहीं निभ सकता. इसीसे सहास ज्ञान धर्मजनक बन जाता है. भगवान्के सूक्त = वचन हितकारी होनेसे अज्ञानका निवारण करते हैं. वाम = परमानन्ददायक होता है. सूक्ष्मगति एकरूप आनन्द स्वरूप होती है. इस कारण भक्तोंको सायुज्यकी इच्छा नहीं होती है. इससे इन्द्रियोंका आकर्षण अर्थात् सभी इन्द्रियोंके लिए सुखरूप हो जाता है. ऐसे भगवान् जब स्वधाम पधारना चाहें तब भक्तोंकी इन्द्रिय और मन साथ ले जानेके कारण अन्ततः भक्ति निष्फल नहीं होती. इसीसे कालादिसे अगम्य अतिसूक्ष्म ऐसा भगवदात्मक सायुज्य

भक्तोंको प्रदान कर देते हैं. अब सायुज्यके बादमें सालोक्यादि फल कह रहे हैं॥३६॥

विवेचन : अब सेवाफलमें जो अलौकिक सामर्थ्यके बाद सायुज्य आता है, उसके बारेमें बताते हैं. **तैः पूर्वोक्तरूपैः अनुभवसमयएव आनन्दजनकैः**. जैसा पहले कहा कि उनको इस प्रक्रियामें आनन्दका अनुभव होता है. **दर्शनीयाः अवयवाः येषाम्. उदारो विलासो, हासपूर्वकम् ईक्षितम्,** अर्थात् उनके प्रत्येक अंगमें एक उदारता और विलासता दिखलायी देती है, रमणीयता दिखलायी देती है और प्रसन्नमुखसे वे अपने भक्तकी ओर देखते हैं. **वामं मनोहरं सूक्तं वाक्यं च येषाम्**. ठाकुरजी अपने निजी भक्तोंके साथ वाम मनोहर वाणीसे बोलते हैं. इस कारण **तैः हृतान्तःकरणानां वशीकृतेन्द्रियाणाञ्च सा पूर्वोक्ता भक्तिः**, ऐसे भक्तोंके प्राण, उनकी इन्द्रिय, उनका अंतःकरण भगवान्के अधीन हो जाते हैं. **ताम् अनिच्छतोऽपि अण्वीं गतिं सायुज्यं प्रापयति.** उसके बाद हालांकि भक्तिके कारण भक्तकी इच्छा ठाकुरजीमें विलीन होनेकी नहीं होती, पर देह छूटनेपर कुछ समयके लिए ये ठाकुरजीमें युक्त हो जाते हैं. उसे 'सायुज्य' कहा जाता है. **भक्तस्य चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं चतूरूपत्वं च साध्यते.** ऐसे भक्त अपने चारों पुरुषार्थ स्वयं सिद्ध नहीं करते हैं, अपितु भगवान् ही सिद्ध कर देते हैं. अब एक-एक पुरुषार्थका वर्णन आ रहा है. **तत्र दर्शनीयाः अवयवाः कामपूरकाः**, भगवान्के श्रीअंगके दर्शन ही भक्तके कामपूरक हो जाते हैं. **उदारो विलासो अर्थजनकः**, भगवान्का विलास ही उसके लिए उसकी संपत्ति है, अर्थ है. **हासपूर्वकम् ईक्षितं धर्मजनकं,** जब उसको प्रभु हँस कर निहारते हैं तो उसका धर्म सिद्ध हो जाता है. और उसके लिए कौनसा धर्म करनेके लिए शेष रह जाता है, **वामसूक्तानि मोक्षजनकानि.** जब प्रभु उसके साथ मनोहर बात करते हैं तो वही उसके लिए मोक्ष होता है. इसके अलावा उसके लिए कोई मोक्ष है ही नहीं. **कामो हि विषयसौन्दर्येण अन्तःशक्त्या च सिद्ध्यति.** काम दो प्रकारसे

सिद्ध होता है. एक तो जो भी विषय हमको अच्छा लगता है, उसके प्रति हमें काम जाग्रत होता है. और यदि कामनाकी शक्ति हमारे अंदर सामर्थ्य हो तभी काम हमें अच्छा लगता है. यदि उस विषयके प्रति कामनाकी शक्ति ही हममें नहीं है तो वह काम हमें अच्छा नहीं लगेगा. इसलिए यह इकतरफा कथा नहीं है. विषयके सौंदर्यके साथ हममें उसके प्रति कामनाशक्ति होनी चाहिये. जो काम जाग्रत कर रहा है उसमें किसी प्रकारका सौंदर्य भी होना चाहिये.

हम 'कामना'का अर्थ यह समझते हैं कि हमारी इच्छा ही कामना है. पर हममें इच्छा हो पर शक्ति न हो तो इच्छा निभती नहीं है. आज वैज्ञानिक खोज कर यह बता रहे हैं कि हमारे भीतर एक डोपामाइन् नामका रसायन है जो कामना पैदा करता है. डोपामाइन्का बनना बंद हो जाये तो हमारे भीतर कामना होनी बंद हो जाती है. पुराने समयमें कामनाको एक शक्ति माना जाता था. मानें यह शक्ति हमारे भीतर हो तो हमें कामना होती है और न हो तो नहीं होती. बहुतसे बूढ़े मनुष्योंको यही समस्या होती है कि उन्हें परिवारके साथ रहना अच्छा लगता है पर उनके साथ बात करनी अच्छी नहीं लगती. क्योंकि उनकी बात करनेकी कामनाशक्ति ही समाप्त हो चुकी होती है. यौवनावस्थामें यह कामनाशक्ति एकदम उछाल ले रही होती है. तीस वर्षकी आयुके बाद वह घटनी प्रारंभ हो जाती है. इसीलिए कई बूढ़े व्यक्ति ऐसा कहते हैं कि जैसा भाव मेरा ठाकुरजीमें यौवनावस्थामें था वैसा अब नहीं रहा. अब तो सेवा इसलिए हो रही है क्योंकि आदत हो गयी है. पर स्नेह तो नहीं है. क्योंकि स्नेहका उछाल जो होना चाहिये वह कामनाशक्तिके घटनेसे कम हो जाता है.

यह सेवामें ही होता है ऐसा नहीं है, यह व्यापारमें भी होता है, परिवारमें भी होता है. हमारे भीतर शक्ति हो तो काम जाग्रत

होता है, नहीं तो नहीं. ॲपेटाइज़र्से हमारी भूख लगनेकी शक्ति बढ़ती है. स्वादिष्ट खानेकी इच्छा किमो-थैरेपी करानेवाले मनुष्योंकी खतम हो जाती है. इस प्रकार जो भी हम करते हैं उसे करनेकी शक्तियाँ अपने अंदर हैं. इनके कारण ही ऐसा होता है. वह शक्ति खतम हो जाय तो इच्छा भी खतम हो जाती है. यहां तक कि अपने अंदर क्रोधकी या भयकी भी शक्ति होती हैं. कई बालकोंमें यह शक्ति विकसित नहीं होती है, उन्हें डर ही नहीं लगता. हम समझते हैं कि बहुत निर्भीक मनुष्य है. वह निर्भीक नहीं, उसके अंदर डरनेकी शक्ति खतम हो गयी है या विकसित ही नहीं हुयी है. इसी प्रकार हमारे भीतर कामनाकी शक्ति अथवा कॅमिकल् नहीं होते हैं तो अपनी इच्छा ही खतम हो जाती है. यही बात आप स्मृतिके बारेमें भी कह सकते हैं. वह शक्ति अथवा कॅमिकल्स् शरीरमें बन रहे हैं तो आपकी स्मृति अच्छी है, नहीं बन रहे हैं तो स्मृति क्षीण है. बहुतसे लोगोंकी बड़ी आयुमें स्मृति क्षीण हो जाती है, वह भी इसी कारण होता है कि उनके अंदर वह कॅमिकल् बनना कम हो जाता है, अथवा कह सकते हैं कि उनकी वह शक्ति क्षीण हो जाती है. देखा जाये तो सोना और जागना भी एक शक्तिके कारण होता है. मछलियोंमें सोनेकी शक्ति नहीं है, इसलिए वह सोती नहीं हैं. पक्षियोंमें मनुष्योंमें सोनेकी शक्ति काम कर रही है, इसलिए हम सो जाते हैं. देवीकी स्तुतिमें आता है कि ''या देवी सर्वभूतेषु निद्रा-रूपेण संस्थिता.'' वह देवी निद्राशक्तिके रूपमें बिराजमान है. इसी प्रकार ''या देवीसर्वभूतेषु भ्रांतिरूपेण संस्थिता.'' ऐसा भी कहा है कि जो देवी सब जीवोंमें भ्रमके रूपमें बिराजमान है. क्योंकि भ्रमित होना भी एक शक्ति है, कमजोरी नहीं है. इस प्रकार प्रत्येक सामर्थ्यकी हममें एक शक्ति काम कर रही है. पुराने जमानेमें इसे 'शक्ति' कहते थे. आज उसे 'कॅमिकल् सीक्रेशन्' कहते हैं. पाचनकी भी शक्ति है. पाचनशक्ति हो तो खाना पचता है.

**अतो दर्शनीयइति विशेषणं बहिः अलौकिकसौन्दर्यार्थम्.** इसमें दर्शनीय वह है जो बाहरके सौंदर्यार्थ है. **विलासो अर्थस्य नानाप्रकारत्वाय.** विलास इसलिए कहा है क्योंकि अर्थ अनेक प्रकारका होता है, जैसे विलास नानाप्रकारका होता है. **उदारत्वं तस्य सर्वोपकारकत्वाय.** उदारता इसलिए कहा क्योंकि जो सबका उपकार करे वह 'उदार' कहा जाता है. **भगवतो हि लीला सर्वेषां सर्वपुरुषार्थदायिनी इति भगवत्त्वम्.** और भगवान्की लीला सभी प्रकारका पुरुषार्थ सिद्ध कर सकती है, यदि भगवान्के साथ आपका सीधा संबंध हो तो. और भगवान्के साथ नहीं हो और किसी विभूतिके साथ हो तो जिसका जो विभाग है वह उसी प्रकारकी कामना पूरी करेगा. जैसे सरस्वतीकी पूजा करो तो विद्या मिलेगी, पर लक्ष्मीकी पूजासे विद्या नहीं मिलेगी. पैसा चाहिये तो लक्ष्मीकी पूजा करो. लक्ष्मी आपको अक्ल नहीं दे सकती. इसीलिए लक्ष्मीका वाहन 'उल्लू' कहलाता है. सरस्वतीका वाहन हंस है जिसमें नीर-क्षीरका विवेक है.

**हासो देहादौ अध्यासजनकः, अन्यथा निरन्तरं धर्मो न सिद्ध्येत्.** देहमें जो हमें अध्यास होता है वह सामान्यतः हमारी अविद्याके कारण होता है. क्योंकि हमें अपनी चेतना और इन्द्रिय के क्रियाकलापोंके बारेमें अनेक संशय उत्पन्न हो गये हैं. हमारा भारत ही ऐसा देश है कि जहां हमने आज-तक ऐसा नहीं कहा है कि अज्ञान संशय भ्रम स्मृति और निद्रा, ये जो अपने मानसिक क्रिया-कलाप हैं, यह हम अपनी चेतनासे उत्पन्न नहीं मानते है, पदार्थसे उत्पन्न मानते हैं.

यूरोपमें चिंतक यह सोचते थे कि मनुष्यमें वैचारिक क्षमता है इसीलिए उसमें आत्मा है. दूसरे जानवरोंमें यह नहीं है. मानें रॅशनलिटी नहीं है, इसलिए उनमें आत्मा नहीं है. वे सब ऑटोमेटा हैं. अपने आप चल रहे हैं, किसी चेतनाके कारण नहीं चल रहे.

इसीलिए जानवरोंको खानेमें वे समझते थे कि उन्हें पाप नहीं लगता पर मनुष्यको खानेमें पाप लगता है. वे वैचारिक क्षमताको आत्माकी क्रिया मानते थे. रॅशनलिटीको शरीरकी क्रिया नहीं समझते थे. अब वैज्ञानिकोंने यह सिद्ध कर दिया है कि वैचारिक क्षमता तो कीड़ोंमें भी है. इतना ही नहीं यह अपने रक्तके लाल और सफेद कोशिकाओंमें भी है. क्योंकि सफेद कोशिकाको यह मालूम पड़ जाता है कि आपके रक्तमें कोई ऐसी चीज आ गयी है जो आपको नुकसान पहुंचा सकती है तो वह उस चीजको घेर कर आगे बढ़नेसे रोक देते हैं. बिल्कुल चोर-पुलिसकी तरह यह होता है. जहां-जहां रोगका वाइरस् भागता है, सफेद कोशिका उसके पीछे भागती हैं और उसे आगे बढ़नेसे रोकती हैं. और अंततः उसे खा जाती हैं. अब यह काम, बिना वैचारिक क्षमताके कैसे संभव है? विज्ञानको यह बात अब पता चली है पर हम तो पहलेसे ही कहते थे कि वैचारिक क्षमता अथवा रॅशनलिटी, यह तो बुद्धिका विषय है, चेतना अथवा आत्मा का विषय नहीं है. यहां तक कि अपने भारतके नास्तिक मत जो बुद्ध और जैन हैं, उन्होंने भी ऐसा नहीं कहा कि वैचारिक क्षमता आत्माका विषय है. वे सभी और हम भी ऐसा ही मानते थे कि अज्ञान संशय निद्रा भ्रम स्मृति ये आत्माके नहीं अपितु शरीरकी क्रियायें हैं. इसलिए जानवरोंमें भी यह है और हममें भी यह है.

मैंने आपको शायद यह बात बतायी थी कि मेरी बालकनीमें एक वड़का वृक्ष अपने आप उग आया. वह अपनी जड़ोंको नीचे तक जहां मेरे गमले रखे हुए थे और मैं जिनको पानी देता था वहां तक फैला देता और वहांसे पानी ले लेता. मैंने क्या किया कि जैसे ही वह अपनी जड़ फैलाता मैं उसे काट देता. पांच-दस बारमें उसे पता चल गया कि यहां कोई राक्षस है जो उसे पानी नहीं लेने दे रहा है. उसके बाद उसने जड़ नीचेकी बजाय आड़ी

फैलानी शुरू कर दी. अब बताओ कि उसमें बुद्धि है कि नहीं! जिस दिशासे प्रकाश आता है उस दिशामें वृक्ष अपनी डाली फैला देता है, यह उसमें बुद्धि होनेके प्रमाण है. वे लोग इस बातको नहीं मानते थे, हम तो कबसे कह रहे थे कि वृक्षमें भी आत्मा है. पर ये जितने भी क्रिया-कलाप हैं, ये आत्माके नहीं, बुद्धिके हैं. और बुद्धि तो प्राकृत वस्तु है. महत्, अहंकार, पंच-तन्मात्रा, पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, यह सब प्राकृत वस्तुएं हैं. हमने कभी भी इन्हें आत्माका क्रिया-कलाप माना ही नहीं है. इसलिए हममें जो देहाध्यास होता है वह अविद्याके कारण होता है. पर उच्चकोटिके भक्तोंको होता देहाध्यास अज्ञानसे नहीं पर भगवान्के हासके कारण उनका देहाध्यास दृढ़ होता है.

आजसे सौ-डेढ़सौ साल पहले भारतेन्दु हरिश्चन्द्र हुए है. वह वैष्णव थे. उन्हें हिन्दी भाषाका जनक माना जाता है. उन्होंने एक कविता लिखी है *"बाबरी ह्वै जात बार-बार कहि वेदन्कों, बिलखि बिलखि जो विहार थल रोती ना."* क्योंकि प्रभु तो गोपीजनोंको छोड़ कर चले गये थे पर जिस स्थानपर प्रभुके साथ गोपीजनोंने रमण किया, उस स्थानपर बैठ कर रोना भी उन्हें अच्छा लगता है. यदि वहां रोना उन्हें न मिलता तो वे पागल हो जाती. उसके बाद कहते हैं कि *"तन जरि जातो जो न असुँआ ढरत आली."* यदि ये आँसु गिर कर इस शरीरके तापमानको ठंडा नहीं करते तो यह शरीर जल जाता. *"हरिचंद प्यारेके पधारे परदेस हू ते प्राण कढ़ि जाते जो प्रतीति उर होती ना."* क्योंकि वह भले ही मथुरा चले गये पर हृदयमें तो उनकी प्रतीति है है और है, उसी कारण प्राण टिक रहे है. अविद्याके कारण नहीं टिक रहे है. बहुत ही सुंदर कविता उन्होंने लिखी है. *"नैन नस जाते जो सपन संग सोती ना."* यह आंख अंधी हो जाती पर क्योंकि इन्हें उनके सपने देखने हैं, इस कारण यह अभी तक बंद नहीं हुयी हैं.

इस प्रकार भक्तोंका देहाध्यास अविद्याके कारण नहीं होता है अपितु अपने प्रियतमकी मुस्कानके कारण होता है. वे उनका आनंद अपनी देहसे लेते हैं, इस कारण वे अपनी देहको प्रेम करते हैं क्योंकि यदि देहमें अध्यास न हो तो मनुष्य धर्म कर ही नहीं सके. जितना भी धर्म हम करते हैं वह देहाध्यासके कारण ही करते हैं. देहको यदि आप अपना मानते हो तभी तो आप कोई धर्म कर पाओगे. अब चाहे वह ज्ञानका हो, तपका हो, वैराग्यका हो. कोई भी धर्म क्यों न हो, बिना देहाध्यासके कुछ भी करना संभव नहीं है. **हासपूर्वकं च ज्ञानं धर्मजनकमेव.** जो हासपूर्वक ज्ञान है वह धर्मजनक होता है. **सूक्तं हितकारि, अविद्यानाशकम्.** और भगवान् जो हमारे साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार करते हैं, वही देहाध्यासके लिए परिपूर्ण कारण है. बुद्ध भगवान्के यहां कहनेमें आया है कि बुद्ध भगवान्ने बुद्धत्व प्राप्त होनेके बाद विचार किया कि यदि मैं इसके बाद निर्वाण पाऊं तो केवल मेरा ही उद्धार होगा. पर मेरेद्वारा जिसका भी उद्धार होना है, उसके लिए मैं बार-बार जन्म लूंगा. इस प्रकार बुद्धका देहाध्यास लोकोपकारके लिए है, अपने उद्धारके लिए नहीं है. बहुजनहिताय बहुजनसुखाय, ऐसा कहनेमें आता है.

**वामं परमानन्ददायकम् इति. सूक्ष्मा हि गतिः एकरूपानन्दस्वरूपा, रूपाणि च अनन्तानन्दरूपाणि,** 'सूक्ष्म गति' मानें भगवान्में एक-भावापन्न हो जाना. नदी यदि समुद्रमें जाये तो समुद्र बन जाती है, पर पनडुब्बी यदि जाती है तो समुद्र नहीं बनती. समुद्रकी बहुत सारी विविधताओंको यह जान सकती है, मान सकती है और उसका आनंद ले सकती है. इसी प्रकार भक्त जब ब्रह्ममें लीन होता है तो नदीकी तरह नहीं होता, पनडुब्बीकी तरह होता है. ज्ञानी जब ब्रह्ममें मिलता है तो नदीकी तरह मिल जाता है, अपना अस्तित्व खो कर मिलता है. इतना अंतर है.

**प्रश्न :** आपने कहा कि भक्त अपना देहाध्यास कायम रखते हैं.

पर ठाकुरजीने जब लीला की तो वहां आता है कि उन्होंने गोपीजनोंका देहाध्यास दूर किया. इसे कैसे समझना ?

**उत्तर :** वहां उन्होंने अविद्यासे उत्पन्न देहाध्यास दूर किया है. उसके पश्चात् एक नया देहाध्यास उत्पन्न किया है. जैसे एक बात समझो कि आप भारत छोड़ कर अमरीका जा रहे हो तो यहां लगनेवाले टॅक्स्से आपको छुटकारा मिल गया. पर वहां जो भी आप कमाओगे उसपर वहांके नियमके अनुसार तो आपको टॅक्स् भरना ही पड़ेगा. इसी प्रकार जब हम संसारकी अविद्याको छोड़ कर भक्तिकी दुनियामें जा रहे हैं तो यहांके अध्यास समाप्त हो जाते हैं और वहांके लग जाते हैं जो कि भगवान् द्वारा जनित हैं.

**सूक्ष्मा हि गतिः एकरूपानन्दस्वरूपा, रूपाणि च अनन्तानन्दरूपाणि.** भगवान्के परमोपासकके लिए अनेक रूप हैं. इसलिए भक्तको एक ही रूपके दर्शनसे नीरसता नहीं होती है. अपने शास्त्रीय संगीतकी भी कुछ ऐसी ही विशेषता है. हजारों वर्षोंसे एक ही रागको गाया जा रहा है पर वह पुराना नहीं पड़ता. क्योंकि रागमें एक शक्ति होती है कि जिस गायकको जैसे भी उसे गाना है, वह गाये और दूसरे गायकोंसे वह अलग भी है, तो भी वह राग कायम रहता है. फिल्मी गानेमें ऐसी शक्ति नहीं है. उसे तो उसी प्रकार गाया जायेगा जैसा कि उसे रचा गया है. पर रागमें ऐसा नहीं है. उसे तो एक व्यक्ति अगर चार बार अलग-अलग प्रकारसे गाना चाहे तो गा सकता है पर राग फिर भी कायम रहता है. केवल यमन रागमें फिल्मोंके दो-सौसे अधिक गाने हैं. सारे गाने एक-दूसरेसे बिल्कुल अलग हैं पर राग वह एक ही है. यह सामर्थ्य रागमें है कि एक अनेक रूप धारण कर सकता है. किसी भी गानेको तीन चार महीने सुननेके बाद हम ऊब जाते हैं पर रागको कितनी भी बार सुनो, ऊब नहीं होती क्योंकि राग अपनेमें थोड़े बदलावका अवकाश गायकको देता है.

**अतएव अनिच्छा, अतएव अन्तःकरणेन्द्रियाणाञ्च तैः आकर्षणं, सर्वेन्द्रियसुखरूपत्वात्.** इस कारण भक्तकी कोई और इच्छा रह ही नहीं जाती क्योंकि उसके अंतःकरण इन्द्रिय आदि भगवान्‌के आकर्षणसे टिके रहते हैं. जैसे जब भी आप रागको सुनें तो वह नया ही लगता है. **सः भगवान् स्वगृहं गच्छन् तानपि नयति.** इसलिए भगवान् जब भूतलपर क्रीड़ा करना नहीं चाहते हैं और अपने दिव्य धाममें क्रीड़ा करना चाहते हैं तो इन भक्तोंको अपने पास बुला लेते हैं. जैसे समुद्रमें पनडुब्बी घुस जाती है तो बाहर दिखनी बंद हो जाती है. समुद्रको तो पता होता है कि उसके अंदर पनडुब्बी है पर बाहर लोगोंको नहीं पता चलता. **तेतु इन्द्रियाणि मनश्च नयन्ति.** भगवान् उनको अपने साथ ले तो जाते हैं पर भक्त अपने मन और इन्द्रिय साथमें ले कर जाते हैं. **भक्तिस्तु फलावश्यम्भाविनी कालादीनाम् अगम्यम् अतिसूक्ष्ममेव भगवदात्मकं फलं प्रयच्छति.** इसलिए भक्ति कभी निष्फल नहीं जाती. कालादिमें जो अगम्य हो ऐसा अतिसूक्ष्म भगवदात्मक फल उसे मिलता है. **एवं सायुज्यरूपं फलम् उक्त्वा सालोक्यादिरूपं फलम् आह अथो इति.** इसलिए सेवाफलमें जो दूसरा फल कहा है सायुज्य, उस सायुज्यका अर्थ यह है. अब इसके बाद सालोक्यका वर्णन करते हैं. जिसको सेवाफलमें **सेवोपयोगी देहो वैकुण्ठादिषु** से कहा है॥३६॥

## (भक्तोंके सालोक्यादि फल)

श्लोक :

**अथो विभूतिं मम मायाविनः**
**ताम् ऐश्वर्यम् अष्टाङ्गम् अनुप्रविष्टाम्॥**
**श्रियं भागवतीं वा अस्पृहयन्ति भद्रां**
**परस्य मे ते अश्नुवते नु लोके॥३७॥**
**न कर्हिचिन्मत्पराः शान्तरूपे**
**नङ्क्ष्यन्ति नो मे अनिमिषो लेढि हेतिः॥**

येषाम् अहं प्रिय आत्मा सुतः च
सखा गुरुः सुहृदो दैवम् इष्टम्॥३८॥

अनुवाद : मायावी भगवान्की विभूति, अष्टविध ऐश्वर्य उसमें भी श्रेयस्साधिका भागवती श्रीकी स्पृहा न रखनेवाले भक्त परमेश्वरके लोकमें उन्हें मिल कर आनन्द ले सकते हैं. हे शान्तरूपवाली मेरी माता! अथवा तो, शान्त वैकुण्ठलोकमें जो मेरेमें तत्पर हो उनका कभी नाश नहीं होता. कालचक्र कभी उनको अपना ग्रास नहीं बनाता है. क्योंकि उनका प्रिय आत्मा पुत्र मित्र गुरु शुभानुध्यायी देवता अथवा फल सभी मैं ही बन जाता हूं॥३७-३८॥

सुबोधिनी : अथो इति. सा चेद् भक्तिः मध्यमा भवेत्, ततो अयं, भिन्नप्रक्रमः अथो मम मायाविनो विभूतिं पुत्रधनादिरूपां स्वर्गादिरूपाञ्च. न तत्र भोग्यम् अस्तीति मायाविनः इति उक्तम्. सर्वस्यापि विषयस्य भगवदीयानां भगवदधीनत्वाय षष्ठी. ताम् इति अलौकिकीं, सर्वलोकप्रसिद्धां वा ऐश्वर्यम् अणिमादि, अष्टाङ्गानि यस्य इति सर्वैश्वर्यप्राप्तिः. भगवद्भजनम् अनु भगवन्तम् अनुप्रविष्टां श्रियं सर्वामेव सम्पत्तिं मोक्षपर्यन्ताम्. भागवतीं भगवत्कृतसम्पत्तिं च वा इति अनादरे. सर्वमेव वा अस्पृहयन्ति भद्रां मोक्षसम्पत्तिमपि. मध्यमा भक्तिः फलम् अवश्यं प्रयच्छतीति, यदि अन्यत्र तेषां भोगो न रोचते तदा वैकुण्ठएव तेभ्यो भोगं प्रयच्छति इति आह परस्य मे ते अश्नुवते नु लोके इति. परस्य कालाद् अक्षरात् च. लोके व्यापिवैकुण्ठे सर्वमेव ऐश्वर्यादिकम् अश्नुवते इति अर्थः॥३७॥

ननु लोकानां कालभयस्य विद्यमानत्वात् "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" (भग.गीता ९।२१) इति स्वस्थानत्यागात्, किं वैकुण्ठलोके विषयानुभावेन? इति आशङ्क्य आह...शान्तं रूपं यस्य इति सर्वदोषविवर्जिते वैकुण्ठे वा. अहमेव परो येषां ते न नङ्क्ष्यन्ति क्षीणपुण्याः नश्यन्ति

पतन्ति वा. न वा हेतिः कालचक्रं तान्...भक्षयति. तत्र हेतुः...कालस्य यत्र विषयः तत्र प्रवर्तते. तस्य अष्टौ विषयाः भवन्ति : १. विषयाः २. देहः ३. पुत्राः ४. मित्राणि ५. गुरवः ६. सम्बन्धिनः ७. इष्टदेवता ८. कामः इति. तस्मिन् लोके न एते सन्ति किन्तु एतेषां कार्यम् अहमेव करोमि. अतएव तेषाम् अहमेव अष्टविधः. नहि कालो मां विषयीकरोति. तेषां मदन्यः कोऽपि न अस्ति देहादिः. प्रियो हि विषयो भवति. वैकुण्ठस्तु मद्रूपइति तत्र अहमेव विषयः. सारूप्यस्य च प्राप्तत्वाद् देहोऽपि अहमेव. देहेन विषयेषु भुज्यमानेषु प्रकृतिः सूयतइति सुताः भवन्ति. तत्र विषयभोगेनाऽपि अहमेव भवामि, पुत्रस्नेहः तत्र मय्येव क्रियते. तत्र बाह्योऽपि सखा अहमेव, तत्रत्यानां पुरुषाणां मद्रूपत्वात्. एते चत्वारः ऐहिकाः. पारलौकिकाः चत्वारः. तत्र गुरुः उपदेष्टा वैकुण्ठेतु अहमेव. गुरोः उपदेशानन्तरं ये तत्र हितार्थं यतन्ते, ते बान्धवाः सुहृदः सुहृत्कार्यन्तु तत्रत्यैरेव क्रियतइति. दैवं देवता पूज्यः फलदाने सः प्रयोजकः. फलञ्च इष्टम्. अतः तेषां नाशाभावः उचितएव॥३८॥

अनुवाद : यह भक्ति यदि मध्य कक्षाकी हो तो घटनाक्रम बदल जाता है. भगवल्लोकमें मायावी भगवान्की विभूति ऐसे पुत्र आदि अथवा स्वर्ग आदि का भोग नहीं मिलता पर भगवदीयोंके तो सभी विषय भगवान्के अधीन होते हैं. वह इसलिए क्योंकि अलौकिक अथवा सर्वलोकमें प्रसिद्ध ऐसी ऐश्वर्यादि अष्टविध सिद्धि मोक्ष तककी, वह भगवद्भजनके पीछे-पीछे अवांछित चलते रहनेके कारण अन्यत्र भक्तोंको विषय-भोग अच्छा नहीं लगता हो तो भी, वैकुण्ठलोकमें प्रदान करती है. काल अथवा अक्षर से पर ऐसे भगवान्के व्यापी वैकुण्ठलोकमें सभी प्रकारके ऐश्वर्यादिका भक्त उपभोग करता है. यहां आशंका होती है कि कोई भी लोकमें जाओ अन्तमें तो कालके भयसे मुक्त तो नहीं ही होता, जैसा कि कहा है **''पुण्यक्षीण होते ही जीव स्वर्गलोकमेंसे पुनः मृत्युलोकमें आ जाता है.''** इससे स्वयंका स्थान छुड़ा कर वैकुण्ठ लोकके विषयोंका अनुभव प्राप्त करानेसे लाभ

क्या है? उसके उत्तरमें कहते हैं कि वह शान्त सभी दोषोंसे रहित ऐसे वैकुण्ठलोकमें भक्तोंको भगवान्‌के सिवाय अन्य कोई तत्त्वकी आवश्यकता रह ही नहीं जाती. ऐसे भक्तोंका कभी नाश अर्थात् पुण्य क्षीण होनेसे नाश या पतन हो ही नहीं सकता. कालचक्रका भी वे कभी ग्रास नहीं बनते हैं. उसका कारण यह है कि कालका प्रभाव जहां चलता है ऐसे आठ विषयहोते हैं : १. विषय २. देह ३. पुत्र ४. मित्र ५. गुरुजन ६. सगे-सम्बन्धी ७. इष्टदेवता ८. काम. इसमेंसे वैकुण्ठमें तो कोई भी होता नहीं है इसलिए उसकी जो भी आवश्यकता होती है वह भगवान् ही पूरी करते हैं. इस कारण वैकुण्ठ-स्थित भक्तोंके लिए भगवान् ही अष्टविध हो जाते हैं. काल भगवान्‌को तो अपना विषय बना नहीं सकता और भक्तोंके लिए भगवान्‌के अतिरिक्त और कुछ होता नहीं है. विषय प्रिय लगते हैं पर वैकुण्ठ तो भगवद्रूप होनेसे भगवान् ही वहां विषयरूपसे विद्यमान होते हैं. भक्तोंको सारूप्य प्राप्त होनेसे उनके देह भी भगवान् ही होते हैं. देहोंसे विषयके उपभोगके कारण प्रकृतिसे प्रसव होनेके कारण पुत्र उत्पन्न होते हैं. वैकुण्ठमें विषयभोगके रूपमें भगवान् ही होते हैं इसीसे पुत्रोचित स्नेह वहां भक्त, भगवान्‌में ही रखते हैं. बाह्य सखा भी वहां भगवान् ही होते हैं, वहांके सभी निवासी भगवद्रूप होनेके कारण. यह चार लौकिक हुए. वैसे ही दूसरे चार पारलौकिक उपदेशकर्ता गुरुकी गरज मैं ही पूर्ण करता हूँ. गुरुके उपदेश ग्रहणके बाद उसके अनुसार हितसाधनके प्रयत्न करनेवाले सगे प्रिय भी वैकुण्ठमें सभी भगवद्रूप होते हैं. पूज्यदेवता भी वैकुण्ठमें भगवान् ही होते हैं, इससे फलदान जो कुछ हो वह भगवान् तक ही जाता है. फल अर्थात् जिसकी भक्तोंको अभिलाषा हो वह भी भगवान् ही होनेके कारण. वैकुण्ठमें किसीका कभी नाश नहीं होता है॥३७-३८॥

विवेचन : **सा चेद् भक्तिः मध्यमा भवेत्, ततो अयं भिन्नप्रक्रमो.** अब यह भक्ति जिसका वर्णन ऊपर किया गया है, यदि उतनी

उच्च कक्षाकी न हो तो भी उस भक्तिका **सेवोपयोगी देहो वैकुण्ठादिषु** फल तो होता ही है. यदि आपको मध्य कक्षाकी भक्ति होनेपर अलौकिक सामर्थ्यका अनुभव नहीं भी हो रहा है और कदाचित् सायुज्य भी नहीं हो रहा है तो भी भक्ति निष्फल नहीं होती है और देह छूटनेपर आपको यह **सेवोपयोगी देहो वैकुण्ठादिषु,** जो सेवाफलमें कहा है, वह भगवान्के दिव्यलोकमें भक्ति करनेका अवसर तो मिलता ही है. इस प्रकार आप यदि भक्ति कर रहे हो तो वह खतम नहीं होती. उसी प्रकार ज्ञान भी कभी खतम नहीं होता है. कर्मके बारेमें ऐसा कहा जाता है कि कर्म यहीं रह जाते हैं. पर उसका प्रभाव वहां तक रहता है, जहां-तक उसका फल आपको मिल नहीं जाता. फल मिलनेके बाद कर्म और उसका प्रभाव भी समाप्त हो जाता है. पर ज्ञान और भक्ति के लिए ऐसा कहा जाता है कि यह खतम नहीं होते हैं.

**प्रश्न :** आपने सालोक्यादिका वर्णन किया. पर भक्तिमार्गके हिसाबसे तो यह निचली कक्षाका फल है?

**उत्तर :** आप महाप्रभुजीका एक वचन लिखो. **''भगवान्एव हि फलं स यथा आविर्भवेद् भुवि गुणस्वरूपभेदेन तथा तेषां फलं भवेत्.''** (पु.प्र.म.१७) भक्तिका फल भगवान्के अलावा कुछ हो ही नहीं सकता. और आप यदि भगवान्के परमोपासक हो तो भगवान् आपको भक्तिके सिवाय दूसरा कोई फल देंगे भी नहीं. यदि देंगे तो उनको विभूतिरूप ही कहा जायेगा. भगवान् तो आपको ऐसी विशुद्ध भक्ति देंगे कि आपको किसी और वस्तुकी आवश्यकता ही नहीं रह जायेगी. धर्म अर्थ काम मोक्ष आपके सारे कार्य भक्तिसे अपने आप सिद्ध हो जायेंगे. सूरदासजीका एक बहुत सुंदर पद है. *''मेरो मन अनत कहां सुख पावे, जैसे उड़ जहाजको पंछी फिर जहाजपे आवे. सूरदास कामधेनु त्यज छेरी कौन दुहावे.''* कोई समुद्रमें जहाज जा रहा है और उसपर बैठा पक्षी जायेगा तो कहां. वापस उड़ कर जहाजपर

ही तो आयेगा. ऐसे ही मेरा मन लौट-लौट कर आपके पास ही आता है. भक्ति एक ऐसी कामधेनु है कि आपकी भक्तिमयी कामनाएं पूरी करती है. उसे छोड़ कर बकरीको कौन दुहेगा. भक्तिका ऐसा स्वरूप माननेमें आया है. इसीलिए ज्ञान और भक्ति स्थायी फल देनेवाले कहे जाते हैं और क्योंकि कर्म स्वयं स्थायी नहीं है इसलिए अस्थायी फल ही देता है.

**प्रश्न :** आपने कहा कि भक्ति स्थायी फल देती है तो क्या जो इस जन्ममें वैष्णव है उसे अगला जन्म भी निश्चित वैष्णवका ही मिलेगा ?

**उत्तर :** अपने संप्रदायमें 'वल्लभ-विज्ञान' मासिक पत्रिका छपती थी. उसका दोसे तीन वर्ष मैं ॲडिटर् रहा था, सन् ६८ से ७० तक. उसमें मैं एक कॉलम् लिखता था. उसमें हर महीने मैं ऐसे व्यक्तिकी कथा देता था जो अपने संप्रदायका नहीं था पर उसके हृदयके हर भावमें पुष्टि झलकती थी. वह क्रिश्चन् धर्ममेंसे, मुसलमान धर्ममेंसे, शैव धर्ममेंसे, शाक्त धर्ममेंसे छांट-छांट कर उनके प्रसंग देता था. उस कॉलम्का नाम मैंने 'पुष्टि-सौरभ' रखा था. जैसे पुष्प पुष्टिके बागमें ही खिलता है, पर उसकी सौरभ बागके बाहर भी फैलती है. जैसे डॉ. फैयाज़ अली पुष्टिसौरभ थे. इस तरह आपकी भक्ति आपके जन्मके आगे अगले जन्ममें भी जाती है, चाहे आप कहीं भी जायें. वह फिर इस मार्गका होगा तो किसी न किसी जन्ममें घूम कर आयेगा. मैं आज भी यही काम कर रहा हुं. हर वर्ष सर्वोत्तम स्तोत्रके सत्रमें हर धर्ममें कैसे पुष्टिके भाव झलक रहे हैं, यही बताता हूं. इस तरह हमें यह नहीं समझ लेना चाहिये कि फूल बागमें खिला है तो उसकी गंधको आप उस बागमें कैद कर पायेंगे. गंध तो फैलेगी ही. फूल बागका बंधन मानता है पर गंध कोई बंधन नहीं मानती. इसके साथ एक बात और समझ लो कि प्रत्येक व्यक्ति जो पुष्टिमार्गमें जन्मा है उसमें पुष्टिका भाव होना

आवश्यक नहीं है. महाप्रभुजीने इसका खुलासा किया है कि **''सोऽपि तैस् तत्कुले जातः कर्मणा जायते यतः''** (पु.प्र.म.२६) कोई मर्यादा अथवा प्रवाही जीव भी पुष्टिमार्गमें जन्म ले सकता है. इसी प्रकार कोई पुष्टिमार्गी जीव भी मर्यादा अथवा आसुरी परिवारमें भी जन्म ले सकता है. प्रह्लाद रसखान अलीखान और ताजबीबी इसके उदाहरण हैं. यहां-तक कि मनुष्य योनिके अलावा किसी और योनिमें भी अगर किसी कारणवश जन्म हो गया है, तो भी भक्तिका भाव खंडित नहीं होता. भक्ति और ज्ञान का भाव खतम नहीं होता है. भगवान् गीतामें आज्ञा करते हैं कि **''बहूनां जन्मनाम् अन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते''** (भग.गीता ७।१९) कोई कितने भी जन्म बिता दे पर ज्ञानवान अंततः तो मुझे प्राप्त करता ही है.

मेरे बचपनकी बात है कि मेरे एक परिचित व्यक्तिके पास एक कुत्ता था जो एकादशीका उपवास करता था. उसको कैसे पता चलता था कि आज एकादशी है! आज वैष्णव भी एकादशीका उपवास नहीं करते हैं. अमेरिकामें एक परिवार है. उनके पास एक तोता है जो पिंजरेमें नहीं रहता, खुले घरमें ही रहता है. जब ठाकुरजी जागते हैं तो वह वहां आ कर बैठ जाता है. मंगल-भोग सरते ही पेड़ा माँगता है. शौकीन जीव है. उसको देहाध्यास है पर पेड़ेका है. जहांसे उसको खरीदा था, वहां उन्होंने एक प्रकारका दाना दिया था जो वह खाता था. पर अब वह दाना तो खाता ही नहीं है. **''असमर्पित-वस्तूनां तस्माद् वर्जनम् आचरेत्''** (सि.मु.४) वह दानेकी कटोरी उसके आगे रख दें तो उसे उलट देता है. पता नहीं क्या उसका सिद्धांत है.

पाकिस्तानके सख्खरमें अपने मार्गके देवकीनन्दन आचार्य थे. उन्होंने यहांसे सब संबंध तोड़ दिये थे और वहीं रहने लगे थे. ठाकुरजीकी सेवा करते थे पर पठानी वेशमें ही रहते थे. उनके

बहुतसे सेवक पठान थे. यहांका कोई वैष्णव जाये तो उससे मिलते भी नहीं थे. कोई बहुत विनती करे तो ही उससे मिलते थे. उनको भी बहुत सारे पशु-पक्षी पालनेका शौक था. उनकी देह छूटनेके तीन दिनके अंदर उनके सारे जानवर मर गये. वे सब अपने मालिकको इतना चाहते थे. पठान औरतें अपने बाल उनको चलनेके लिए ज़मीनपर बिछाती थीं. उनको सब वहां सांई कहते थे. एक बात और कि उन्होंने कभी किसी पठानको वैष्णव बननेके लिए नहीं कहा. सब नमाज़ी मुसलमान ही थे पर उनके शिष्य भी थे.

**प्रश्न :** महाप्रभुजीने सबसे पहले विवेकका स्वरूप बताया. उसके बाद धैर्यके बारेमें बताया.

**उत्तर :** एक बात समझो कि महाप्रभुजीने विवेक और धैर्य, सांख्य और योग की तरह बताया है. 'विवेक'का अर्थ है अच्छे और बुरे को पृथक् देख पानेकी क्षमता. वही बात सांख्य समझाता है. 'योग'का अर्थ है जोड़ना. आप धैर्यसे किसीके साथ जुड़ेंगे तो जुड़े हुए कहे जायेंगे. और यदि आपका धैर्य ही शिथिल हो गया तो जुड़े होनेपर भी अलग हो जायेंगे. महाप्रभुजीने अपनी भक्तिकी साधनामें सांख्य और योग के स्थानपर विवेक और धैर्य रखा है. उनके सिद्ध होनेपर ही भक्तिमय आश्रय सिद्ध होगा. उसके बाद भी कई लौकिक-अलौकिक चिंता हो सकती हैं, जिसके लिए नवरत्न ग्रन्थ है. उसमें समर्पणका उपदेश दिया है. इसके बाद यहां भक्तिवर्धिनी और सेवाफल में बाताये जा रहे हैं.

**प्रश्न :** आपने जो कर्मोंके बारेमें बताया. क्या उससे आपका अर्थ दान आदिसे है?

**उत्तर :** हां, यह भी कर्मका एक प्रकार है. पर एक बात समझो कि क्योंकि कर्म स्थायी नहीं होते, इसलिए उनका फल भी स्थायी नहीं होता. कर्मके बारेमें हमारे यहां विधान ऐसा है कि कर्म आपको

वहां तक करने है जहां-तक आपको देहाध्यास है. भगवान् गीतामें कहते हैं **"नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठति अकर्मकृत् कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर् गुणैः"** (भग.गीता ३।५) कर्मके बिना तो कोई रह ही नहीं सकता. आप जी रहे हो तो कर्म तो करने ही पड़ेंगे. अब जब कर्म करने ही है तो उसके दो प्रकार हैं. पहला आप अपने मन-मरजीसे करो अथवा दूसरा आप शास्त्रके अनुसार करो. शास्त्रके अनुसार करोगे तो वह 'सत्कर्म' कहलायेगा. अपने स्वभावानुसार करोगेतो वह कर्म है. शास्त्रसे विरुद्ध करोगे तो वह असत्कर्म है. आपको जहां-तक देहाभिमान है वहां-तक आपको कर्म करना ही पड़ेगा. उसे करे बिना तो आप जी ही नहीं सकते. आप ज्ञानी हो, भक्त हो, कुछ भी हो, आपको कर्म तो करना ही पड़ेगा. पर यदि आप भक्त हो तो आप ऐसा कोई कर्म नहीं करोगे जो आपकी भक्तिके विरुद्ध जाता हो. ज्ञानी हो तो ऐसा कर्म कोई नहीं करोगे जो आपके ज्ञानके विरुद्ध जाता हो. आप ज्ञानी नहीं हो, भक्त भी नहीं हो तो आपको कर्म तो करना ही है. यहां आपके पास दो संभावना हैं. आप कर्मशास्त्रके अनुसार करो अथवा अपने स्वभावानुसार करो. कर्मयोग वह है कि जो भी शास्त्रके अनुसार नहीं है अथवा असत्कर्म है उसे आप छोड़ कर शास्त्रमें जो बताया है उसके अनुसार सत्कर्म करो. महाप्रभुजी भक्तिवर्धिनीमें भी कह रहे हैं **"बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मतः"** (भ.व.२) स्वधर्मको छोड़े बिना आपको भक्ति करनी चाहिये. ऐसी भक्ति नहीं करनी चाहिये जिससे आपका स्वधर्म ही छूट जाय. पर इसके साथ स्वधर्मको इतना भी नहीं पकड़ना चाहिये कि आपकी भक्ति ही छूट जाये. यह संतुलन आपको निभाना आना चाहिये.

**प्रश्न :** आपने कहा भक्ति और ज्ञान अगले जन्ममें भी साथ रहते हैं, पर कर्म नहीं. यह थोड़ा और समझायें.

**उत्तर :** एक बात समझो कि कर्म तब-तक साथ रहते हैं जब-तक

उनका फल आपको नहीं मिल जाता. उसके बाद वह शून्य हो जाते हैं. पर ज्ञान और भक्ति अगले जन्ममें साथ रहते हैं, वह इस अर्थमें नहीं कि उनका फल मिलनेके बाद वह भी खतम हो जाते हैं. ज्ञान और भक्ति का फल मिलनेके बाद ज्ञान और भक्ति बढ़ जाती है. उदाहरणके लिए आप हॉस्पिटल्में इलाज कराने गये. यह एक कर्म है. उसके बाद तो आपको हॉस्पिटल् छोड़नी पड़ेगी. आपने कुछ कोर्स् करनेके बाद कॉलेज्में दाखिला लिया. परीक्षामें पास होनेके बाद तो आपको वह कॉलेज् छोड़ना ही पड़ेगा.

मेरी बहुत इच्छा थी कि मैं एम.ए. करूं. मनमें ऐसी फितूर थी कि मुझे महाराजपना नहीं करना है, कॉलेज्में प्रोफेसर् बनना है. इसलिए बी.ए. किया और दो वर्ष तक एम.ए.का पूरा कोर्स् किया. परीक्षाके समय मेरी बड़ी बहन चली गयी. छह महीने तक मैं इतना विचलित हो गया कि मुझसे पढ़ा ही नहीं जाता था. बहुत बादमें मुझे ऐसा विचार आया कि चलो कोर्स् पूरा हो गया है तो परीक्षा दे दें और डिग्री ले लें. जब परीक्षाकी तैयारी कर रहा था तो पिताजी चले गये. फिर मेरी परीक्षा छूट गयी. अब युनिवर्सिटीसे कोई संपर्क तो रहा नहीं. पर मुझे लगा कि जाना चाहिये. पर जा कर करें क्या? वहां जाता और वैसे ही थोड़ी देर बैठ कर आ जाता था. चार छह महीने वह क्रम चालू रहा. एक दिन सोचा यह सब करनेसे लाभ क्या है? फिर वह कार्यक्रम भी बंद हो गया. उसके बाद वहां एक प्रोफेसर्को पी.एच.डी. करनी थी तो वह मुझसे पढ़ा था. मैंने उससे कहा कि मैंने आपको पी.एच.डी कराई तो क्या आप ऐसा नहीं कर सकते कि किसी तरह मेरी भी पी.एच.डी. हो जाये. उसने सीनेट्में जा कर यह प्रस्ताव रखा कि मैं गोस्वामीसे पढ़ कर पी.एच.डी. हुआ हुं. उन्हें बिना एम.ए.के इसकी इजाजत मिलनी चाहिये. मुझे दो वर्ष दिये गये पूरा करनेके लिए. पर पिताजीके जानेके बाद जीवन इतना व्यस्त

हो गया था कि पढ़ाई होती ही नहीं थी. और रिसर्च् पेपर् लिखनेका काम भी नहीं होता था. हर बार मेरा गाइड् जो कि मेरा विद्यार्थी भी था, मुझे टोकता कि गोस्वामीजी कहां-तक पहुंचे. मैं उससे कहता कोशिश कर रहा हुं. एक दिन उसने मुझपर ताना मारा और बोला कि मेरे पास बहुतसी लड़कियां आती हैं पी.एच.डी. करने. दो साल मैं उनके साथ मेहनत करता हुं, उसके बाद कहती हैं कि मेरी शादी तय हो गयी है, मैं आगे नहीं कर सकूंगी. मैं कहता हूं कि चलो शादीके बाद आ जाना. शादीके बाद पूछता हुं तो कहती है मैं गर्भवती हुं, मैंने अब निश्चय किया है कि अब किसी लड़कीको पी.एच.डी.के लिए रजिस्टर् नहीं करूंगा.'' उस समय मेरी पत्नी भी गर्भवती थी. मैंने कहा ''सर, मेरी पत्नी भी गर्भवती है. मैं भी इसीलिए नहीं कर पा रहा हूं.'' बोला ''अब बताओ मैं क्या करूं. किसको रजिस्टर् करूं.'' पी.एच.डी. वहीं छूट गयी. कर्म भी छूट गया और फल भी.

जो मैं आपको बता रहा था, वह यह बात थी कि महाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि ''**भगवान्एव हि फलं स यथा आविर्भवेद् भुवि**'' (पु.प्र.म.१७) भक्तिका फल भगवान् है. वैकुण्ठमें अथवा कैलाशमें बैठा भगवान् नहीं. तुम जिस भूमिपर हो, वहां तुमसे संबंध स्थापित करनेके लिए वह प्रकट हो तो ही फल है भक्तिका. ''**स यथा आविर्भवेद् भुवि**'' भूमिपर आविर्भाव होनेके दो प्रकार हैं. गुण और स्वरूप के भेदसे. कभी भगवान् अपने गुणसे प्रकट होते हैं और कभी वे अपने स्वरूपसे प्रकट होते हैं. जिनके सामने स्वरूपसे प्रकट होते हैं वह भक्त भगवान्की सेवा करता है और जिसके सामने गुणसे प्रकट होते हैं वह भगवान्की कथा करता है. इसीलिए ''**सेवायां वा कथायां वा**'' (भ.व.९) कहा है. इस प्रकार भक्तिका फल भगवान् ही होते हैं, इसके अलावा और कुछ नहीं. वह किसी भी रूपमें प्रकट हो, चाहे गुणसे अथवा स्वरूपसे, तुम्हारी भक्ति चालू रहती

है, खतम नहीं होती. जीवित अवस्थामें भी और मरनेके बाद भी. कर्ममें उसका फल तो मिलता है, एक जन्ममें नहीं तो दस जन्ममें, पर फल मिलनेके बाद कर्म आगे नहीं चलता, खतम हो जाता है. ज्ञान और भक्ति में यह विशेषता है कि ज्ञानके बाद आपको मुक्ति मिली तो ज्ञान खतम नहीं होता. और भक्तिका फल भगवान् मिले तो भक्ति खतम नहीं होती.

**प्रश्न :** इस संदर्भमें एक प्रश्न है कि जब हम कर्म करते हैं और वह निष्काम है तो क्या?

**उत्तर :** निष्काम कर्म आपको सांसारिक बंधन नहीं लगने देता, उससे छुटकारा दिलाता है. उसीके साथ कर्मकी जो प्रक्रिया है वह ऐसी है कि आपको काम हो तभी आप निष्काम कर्म कर सकोगे. इस कारण कर्म तो जब भी आप करेंगे तो काम तो आपको होगा ही. इसका कारण समझो. आपके शरीरके भीतर अगणित क्रियाएं चल रही हैं. जैसे पाचनक्रिया, सांस लेनेकी क्रिया, रक्तशोधनकी क्रिया इत्यादि. इन क्रियाओंको आप कर्म नहीं कह सकते हो, क्योंकि यह सब क्रियाएं आपकी कामनासे नहीं चल रही हैं. वे तो अपने आप चल रही हैं. पर प्रकृतिने हमको यह सुविधा दी है कि जो क्रियाएं चल रही हैं, उनको हम अपनी कामनासे भी नियंत्रित कर सकते हैं. जो क्रिया हम अपनी कामनासे प्रकट करते हैं वह क्रिया न रह कर हमारा कर्म बन जाती है. जैसे आपकी साँस चल रही है. यह एक क्रिया है. पर यदि आप प्राणायाम करो तो वह क्रिया न रह कर कर्म हो जाती है. अब आपके पास कर्म करनेके दो रास्ते हैं. एक तो अपने हिसाबसे करो या शास्त्रके हिसाबसे करो. शास्त्रके हिसाबसे करोगे तो वह सत्कर्म है, नहीं तो असत्कर्म है. और जब-तक इन दोनोंका फल आपको नहीं मिल जाता तब-तक आपका खाता चालू ही रहता है. फल मिलनेके बाद दोनों खतम हो जाते हैं. ज्ञान और भक्ति में यह बात नहीं

है. फल मिलनेके बाद भी ये दोनों चालू रहते हैं. कर्म एक टॅक्सीकी तरह है. आप अपने गंतव्यपर पहुंच गये. आपने पेमेंट् कर दिया तो आप भी छूटे और टॅक्सी भी छूटी. ज्ञान और भक्ति टांगकी तरह हैं. मंजिलपर पहुंचनेके बाद भी आपको इनका ख्याल रखना है. जूते उतारने हैं, इन्हें धोना है, नाखून काटने हैं, मालिश करनी है इत्यादि.

**प्रश्न :** नये जन्मके साथ नयी योनि मिलती है. जब-तक व्यक्ति मुक्त न हो, तब-तक नये कर्मोंके बंधनमें जीव फंसता जाता है. तब उसे कैसे पता चले कि कौनसा कर्म उसने अच्छा किया अथवा बुरा ?

**उत्तर :** कर्म अच्छा है कि नहीं, इससे सत्कर्मका निर्धार नहीं होता है. किसी भी क्रियाके कर्म होनेके लिए तीन वस्तुएं आवश्यक हैं. पहली है 'कृत्यर्हत्वे सति' मानें किसी क्रियाको आप कर्ममें परिवर्तित कर सकते हो कि नहीं. कर सकते हो तो ही 'कर्म' कहलाता है. नहीं कर सकते हो तो वह कर्म नहीं कहलायेगा. 'विहितत्वे सति' मानें कर्म जो आप कर रहे हो वह आपके लिए निर्धारित विहित है कि निषिद्ध है? हर कर्म हरेकके लिए निर्धारित नहीं है. जैसे सीमापर सेनाके लिए दुश्मनको मारना उसका निर्धारित कर्म है, पर आम लोगोंके लिए किसीको मारना निषिद्ध है. क्रिया तो एक ही है पर हमारे लिए वह निषिद्ध है, सेनाके लिए निर्धारित है. अब तीसरी आवश्यकता है कि चाहे वह आप कर सकते हो और आपके लिए निर्धारित भी है पर वह आपके 'ज्ञान-इच्छा-प्रयत्नसे जन्य' (ज्ञानेच्छाप्रयत्नत्वे सति) होना चाहिये. उससे जन्य नहीं है तो वह आपका कर्म नहीं होगा. कोई आपको बलपूर्वक करवाये तो वह आपका कर्म नहीं है. जैसे कोई गुंडा आपसे बंदूककी नौकपर कुछ करवा लेता है, तो वह आपका कर्म नहीं कहलायेगा. मानें यदि आप जानते ही नहीं हो कि कोई कर्म आपके लिए

विहित है अथवा अविहित है तो वह कर्म न हो कर 'क्रिया' ही कहलायेगी.

आज-कल इंग्लॅन्ड्के दो यात्री भारतमें घूम रहे हैं. उन्हें उदयपुरमें किसी होटल्में उतरना था. गलतीसे वे लेक्-पॅलेस् होटल्के दूसरे छोरपर चले गये. वहां जा कर उन्होंने किसीसे पूछा कि होटल् कहां है? उसने बताया कि होटल तो सामने है पर आपको दूसरे रास्तेसे जाना होगा. पर वे दोनों तालाबको तैर कर होटल्में जाने लगे. वहांके चौकीदारको यह अजीब लगा और उसने चेतावनी दी कि वे आगे आये नहीं तो वह गोली चला देगा. उसने समझा कि पता नहीं आतंकवादी न हो जो निर्धारित रास्तेसे न आ कर तालाब तैर कर आ रहे हैं. अब आप विहित प्रकारसे नहीं आ रहे हैं तो वह तो ऐसा करेगा ही. यह कर्म तो नहीं कहा जा सकता, हां लीला कही जा सकती है.

**सा चेद् भक्तिः मध्यमा भवेत्, ततो अयं भिन्नप्रक्रमः.** ऐसी अलौकिक सामर्थ्यवाली भक्ति यदि आपकी नहीं है, लौकिक सामर्थ्यवाली हो तो प्रक्रम बदल जाता है. 'प्रक्रम' मानें कोर्स्. **अथो मम मायाविनो विभूतिं पुत्रधनादिरूपां स्वर्गादिरूपाञ्च.** भगवान् कहते हैं "मेरी मायारूप विभूतियोंमें देवता ही आते हैं ऐसा नहीं है, पुत्र धन भी मेरी विभूतियोंमें ही आता है. जो भी आपके पास वैभव है वह मेरेद्वारा दी गयी विभूति ही है." भक्त कहता है "पर विभूतियोंसे जो मिलता है, वह मुझे नहीं चाहिये. तू ही चाहिये." मानें तेरी कुर्सीसे जो लाभ मिलता हो वह हमें नहीं चाहिये, तू ही चाहिये. ऐसा भाव यदि प्रभुके प्रति हो तो. **न तत्र भोग्यम् अस्ति इति मायाविनः इति उक्तम्.** इसीलिए इसे 'मायावी' कहा गया है क्योंकि जो भक्त होता है उसे भगवान्की विभूतियोंसे कुछ भी इच्छित नहीं होता. जिसे ऐसा होता है वह व्यक्ति इस अर्थमें भक्त नहीं होता. चालू

खातेमें उसे भक्त कह सकते हैं पर इस मायनेमें वह भक्त नहीं है. **सर्वस्यापि विषयस्य भगवदीयानां भगवदधीनत्वाय षष्ठी.** क्योंकि अंततः तो जो कुछ भी है, चाहे वह विभूति हो अथवा और कुछ, पर हैं तो सब भगवान्‌के लिए हुए रूप. इस कारणसे मैं यह नहीं कह सकता कि मैं विभूतिको भजूंगा. यह बिल्कुल उस लेक्-पॅलेसवाली बात हो गयी. उस ओर भी दरवाजा तो है पर वह दरवाजा चॅक्-इन् करनेके लिए नहीं है. चॅक्-इन् करनेके लिए जो निश्चित दरवाजा है, उसीसे जाना चाहिये. तुम किसी भी दरवाजेसे आ जाओ और कहो कि ''हम तो अब आ गये, हमें चॅक्-इन् करने दो'' तो कौन तुम्हें करने देगा!

वड़ोदराके पास आजवा सरोवर है. वहां हमने अपनी एक सॅमिनार् की थी. वड़ोदराके एक शास्त्री है, उनको हमने निमंत्रित नहीं किया था. उन्हें कहींसे खबर लग गयी कि हम कोई सॅमिनार् कर रहे हैं. वह आ कर बोले कि ''मुझे भी इसमें भाग लेना है.'' हमने उनसे कहा कि ''इस बार तो हमारे सारे लोग निश्चित हो गये हैं, सारे पेपर् भी बंट चुके हैं, और हम जानते भी नहीं कि आप कौन हो. आपको इस बार हम भाग लेनेकी अनुमति नहीं दे सकते.'' हमने उनसे मना कर दिया. और वहां सारे कमरे भी भर गये थे, तो उन्हें ठहराया भी कहां जाता! उनके बहुत जिद करनेके बावजूद भी जब हम नहीं माने तो उन्होंने हमारे परिसरके बाहर एक यज्ञकुंड बनाया और बोलने लगे ''सारे परिसरवाले मर जाओ. ॐ स्वाहा'' बेचारा चौकीदार वहांसे भाग कर हमारे पास आया कि यह तो कोई कर्म कर रहा है जिससे हम सभीको शाप लगेगा.'' हमने कहा ''तू दरवाजा बंद कर दे. कोई शाप नहीं लगेगा.'' जितने दिन हमारा सॅमिनार् चला उतने दिन शास्त्रीजी यज्ञ करते रहे पर मरा तो कोई भी नहीं. अरे, सॅमिनार्में आनेकी कोई प्रक्रिया है. आप उसमें अपनी मर्जीसे तो नहीं आ सकते.

आपको पहलेसे सूचना भेजनी चाहिये कि आप इसमें हिस्सा लेना चाहते हैं. स्वीकार होनेके बाद ही आपको आना चाहिये.

**ताम् इति अलौकिकीं, सर्वलोकप्रसिद्धां वा. ऐश्वर्यम् अणिमादि अष्टाङ्गानि यस्येति सर्वैश्वर्यप्राप्तिः**. और अलौकिक जो सिद्धि है, ऐश्वर्यादि अणिमादि अलौकिक अष्ट सिद्धि कौनसी हैं? अणिमा गरिमा महिमा लघिमा प्राप्ति प्राकाम्य ईशत्व और वशित्व. 'अणिमा' मानें योगके कारण आप अपना रूप अणुरूपवत् संकुचित कर सको कि जहां आप घुस नहीं सकते वहां घुस पाओ. आपको शायद ख्याल नहीं होगा कि अणिमा सिद्धिका सबसे अच्छे उदाहरण चूहा और बंदर हैं. ये अपने शरीरसे बहुत छोटी जगहमें भी घुस सकते हैं. इनमें एक और विशेषता है कि आप अपने अनुपातके हिसाबसे उतना ऊंचा उछल नहीं सकते हो जितना कि ये दोनों. ऐसी बहुतसी सिद्धियाँ मनुष्यको योगसे प्राप्त होती हैं पर जानवरोंमें स्वतः ही होती हैं. 'गरिमा' मानें अपने शरीरको अत्यधिक बढ़ा लेनेकी क्षमता. आपको पॉर्क्युपाइन्के (साही) बारेमें मालूम होगा. वह अपने शरीरको बढ़ा सकता है. मैंढक भी अपने गलेको फुला लेता है. 'महिमा' मानें महान होना. 'लघिमा' मानें छोटा होना. 'प्राप्ति' मानें जो चाहिये उसे प्राप्त कर लेना. 'प्राकाम्य' मानें इच्छा. 'ईशत्व' मानें किसीके ऊपर अपना ऐश्वर्य सिद्ध करना और 'वशित्व' मानें अपने ऊपर नियंत्रण होना. यह योगकी आठ अलौकिक सिद्धि कहलाती हैं. जैसे किसीका क्रोध इतना भयंकर होता है कि वह दूसरे सभी लोगोंको चुप कर सकता है पर अपने क्रोधपर वह नियंत्रण खो देता है. मानें उसमें ईशत्व तो है पर वशित्व नहीं है. किसीमें वशित्व होता है पर ईशत्व नहीं होता. कच्छ प्रदेशके जो महारावल हैं वे हमारे किशनगढ़की महारानीके पुत्र है. उनके व्यवहार बहुत विचित्र है. वे अपने कपड़े स्वयं पसंद नहीं करते. उनका एक पारसी दोस्त है, वह करता है. मानें वशित्व अपने ऊपर है ही नहीं. इनके पॅलेस्में

एक तालाब है. उसमें उन्होंने मगर पाल रखे हैं. बताया जाता है कि उस तालाबपर एक बहुत ही अच्छा बोर्ड लगा रखा है. ''यहां तालाबमें पैर रखनेकी मनाही है क्योंकि इसमें मगर है और वह आपको खा सकते है. पर यदि आप जीवित वापस आ गये तो मैं आपके ऊपर कोर्ट-केस करूंगा अतिक्रमणका.'' यह भी उन्होंने पारसी बाबाको पूछ कर ही लिखा होगा. उनमें ऐश्वर्य तो बहुत है पर वशित्व नहीं है.

इस प्रकार योगकी जो अष्ट सिद्धि हैं वे **भगवद्भजनम् अनु, भगवन्तम् अनुप्रविष्टां श्रियं सर्वामेव सम्पत्तिं मोक्षपर्यन्ताम्. भागवतीं च भगवत्कृतसम्पत्तिं च. वा इति अनादरे. सर्वमेव वा अस्पृहयन्ति भद्रां मोक्षसम्पत्तिमपि.** भगवान्में रही हुयी श्रीसे ले कर मोक्षपर्यन्त तककी स्पृहा उसे नहीं रह जाती. मानें स्वर्गके भोग, पुत्रधनादिकी कामना इसे नहीं रहती. अलौकिक सिद्धियोंकी भी कामना इनमें नहीं रहती और भगवद्-भजनसे जो ऐश्वर्य आदि उसे मिलते हैं, मिलते हैं तो मिलें पर उनकी कामनासे वह भगवद्-भजन नहीं करता. भगवान् भी यदि कुछ इसे देना चाहते हों तो उसकी कामना भी उसे नहीं रहती. अपने यहां वार्तामें आता है कि श्रीनाथजीने सोनेका कटोरा दिया पर बीनकारने मना कर दिया कि नहीं चाहिये. आप देना चाहते हो तो ठीक है पर मुझे नहीं चाहिये. मुझे तो यह चाहिये कि आप मेरी बीन सुननेकी सेवा अंगीकार करते रहें. उसे और कोई स्पृहा नहीं थी. यह तो मध्यम प्रकारकी भक्तिके बारेमें बता रहे हैं. अब आप कल्पना कर लीजिये कि उत्तम प्रकार कैसा होगा. **भद्रां मोक्षसम्पत्तिमपि मध्यमा भक्तिः फलम् अवश्यं प्रयच्छतीति, यदि अन्यत्र तेषां भोगो न रोचते.** ऐसी मध्यमा भक्ति भी कोई न कोई फल तो देती ही है. पर वह फल देती तब है जब आपको किसी प्रकारके भोगमें रुचि न हो तब. **तदा वैकुण्ठएव तेभ्यो भोगं प्रयच्छति इति.** तब वैकुण्ठादि लोकमें तुम्हें भगवान् ले जाते हैं. क्योंकि

अपनी मध्यमा भक्तिसे आप अलौकिक सामर्थ्य नहीं प्राप्त कर पाये और मध्यमा भक्तिके कारण आप सायुज्यको भी नहीं प्राप्त कर पाये. पर भक्ति निष्फल नहीं जाती इसलिए सेवोपयोगी देह वैकुण्ठादिमें आपको मिल जाता है. इसलिए चाहे आपकी भक्ति यहां भले ही मध्यमा है पर आपको फल तो उत्तम मानें भक्तिका जो फल है सेवा, वह प्राप्त होता है.

**परस्य मे ते अश्नुवते नु लोके इति. परस्य कालाद् अक्षरात् च. लोके व्यापिवैकुण्ठे. सर्वमेव ऐश्वर्यादिकम् अश्नुवते इति अर्थः.** 'परस्य' मानें काल और अक्षर से पर जो भगवान् हैं, 'लोक' मानें व्यापिवैकुण्ठके जो ऐश्वर्यादि भोग हैं वे भक्तको भोगनेको मिलते हैं. उन्हें कामना नहीं है पर भक्ति यह फल देती है.

**ननु लोकानां कालभयस्य विद्यमानत्वात् "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" (भग.गीता ९।२१) इति स्वस्थानत्यागात्, किं वैकुण्ठलोके विषयानुभावेन? इति आशङ्क्य आह न कर्हिचिद् इति.** इसके बाद एक प्रश्न उठता है कि भूतलपर तो आपको फल मिला नहीं. भूतलपर फल क्या था? **"भगवान्एव हि फलं स यथा आविर्भवेद् भुवि"** भगवान्की भूतलपर दो प्रकारसे अनुभूति होती है. स्वरूपसे अथवा गुणसे. वह तो आपको हुयी नहीं तो भक्तको आनंद किस प्रकार आयेगा. भक्तिकी गरज तो भगवान्का भूतलपर आनंद लेनेकी है. जैसे दयारामभाई कहते हैं *"व्रज व्हालु रे वैकुण्ठ नहीं जाऊं. त्यां नंदनो कुंवर क्यांथी लाऊं. मने गमे न चतुर्भुज थाऊ रे"* इस प्रकार भूतलपर ही हमें नंदकुंवरकी आकांक्षा है. भगवान् यहां नहीं मिले और वैकुण्ठमें मिले तो उसे भक्त कैसे स्वीकार कर सकता है! यह एक मुद्दा है. तो कहते हैं कि बात तो यह सच्ची है पर फल उसे छोटा नहीं मिल रहा है. क्योंकि जो अलौकिक सामर्थ्यका वर्णन यहां किया गया है, वह अलौकिक सामर्थ्य यदि इस लोकमें

नहीं मिला तो वैकुण्ठमें तो वह मिल ही रहा है. इसलिए कोई समस्या नहीं होनी चाहिये. साधनावस्थाकी दृष्टिसे यह निचले दर्जेकी है पर फल तो दोनोंका एक ही है.

**प्रश्न :** निःस्पृहता तो दोनों प्रकारकी भक्तिमें बतायी है फिर भेद क्या रहा?

**उत्तर :** पर उत्तम प्रकारमें प्रभु स्वरूपसे अथवा गुण-रूपसे प्रकट हुए हैं. दूसरेमें न स्वरूपसे न गुणसे प्रभु प्रकट हो रहे हैं. यहां केवल आपको भक्तिसे कामना नहीं है इसलिए इसे 'मध्यमा' कहा गया है.

**प्रश्न :** पर संदर्भ तो यही कहा जायेगा कि फल प्रभु स्वयं नहीं दे रहे हैं. साधककी साधना तो एक ही है. दोनोंमें निःस्पृहता है.

**उत्तर :** यही तो बता रहा हूं कि उत्तम भक्ति एक ओरसे तो नहीं होती. इस ओरसे भक्ति और उस ओरसे भगवान्, एक-दूसरेको प्रतिक्रिया देते हों तभी वह उत्तम भक्ति है. इक तरफा हो तो वह 'मजनू' कहलायेगा. दोनों तरफसे हो तो 'लैला-मजनू' कहे जायेंगे. इस ओरसे भक्ति है पर उस ओरसे कृपा नहीं है अथवा उस ओरसे कृपा है और इस ओरसे वैसी भक्ति नहीं है तो वह मध्यमा हो जायेगी. यही बात पहले बतायी गयी थी कि आंखमें कामशक्ति है पर दृश्य सुंदर नहीं है अथवा दृश्य सुंदर है पर आंखमें कामशक्ति नहीं है तो कितना भी सुंदर दृश्य हो उससे कोई फरक नहीं पड़ेगा.

मैं जब छोटा था तो शशिकपूरकी एक फिल्म आयी थी जिसमें वह शुकदेव बना था. उसमें रम्भा शुकदेवजीको बहुत चाहती है और वह उनके पीछे पड़ जाती है. पर शुकदेवजीको उसके प्रति कोई आकर्षण नहीं है. जब रम्भा शुकदेवजीके पास आती है तो शुकदेवजी उसे अपना कंकाल दिखाते हैं. यह देख कर

रम्भा भाग जाती है. ऐसा नहीं था कि रम्भा सुंदर नहीं थी, पर शुकदेवजीकी दृष्टिमें काम नहीं था.

**प्रश्न :** भगवान्‌के गुण और स्वरूप की चाहना करना और उन्हें पानेकी प्रार्थना करना गलत है कि नहीं है?

**उत्तर :** भक्तको उसीकी तो चाह है. और वही वह माँगता है. इसीका नाम तो 'भक्ति' है. उसके अलावा और कुछ भी माँगना भक्ति नहीं है.

**ननु लोकानां कालभयस्य विद्यमानत्वात्.** अपने यहां दो शब्द सिक्केकी तरह दुरुपयोगमें आते हैं. एक शब्द है 'नित्यलीला' और दूसरा शब्द है 'व्यापि-वैकुण्ठ'. पता नहीं चलता कि कब यह सिक्का बना था और किसके हस्ताक्षरसे यह अब-तक चल रहा है. हाथमें आ गया है, बस किसी तरह इसका उपयोग करो. हम समझते हैं कि नित्यलीला कोई एक ऐसा आकाशमें ग्रह होगा कि जहां नित्यलीला चल रही होगी. ऐसा ही हम व्यापि-वैकुंठके बारेमें सोचते हैं. 'व्यापि-वैकुंठ'का अर्थ है कि जो सभी जगह है. 'नित्यलीला'का अर्थ है कि जो सदा है. इसलिए नित्यलीला और व्यापि-वैकुण्ठ यहां भी है पर अनुभवमें नहीं आते. आप अनुभव करने लगो तो आप नित्यलीलामें हो. नहीं अनुभव कर रहे तो अनित्यलीलामें हो. यही बात व्यापि-वैकुण्ठके लिए है. इस अर्थमें जो सदा सर्वदा सब स्थानोंपर हो उसका नाम है 'नित्यलीला' और 'व्यापि-वैकुण्ठ'. इस तरह मध्यम भक्तको व्यापि वैकुण्ठमें स्थान मिलता है. उसे अनुभव हो तो हो, नहीं तो नहीं.

उदाहरणके लिए कई लोगोंको समस्या यह होती है कि जब कोई विदेशी भारतीयसे पूछता है कि "आप कहांसे हो?" तो उसका उत्तर वह देता है कि वह महाराष्ट्रसे है अथवा बंगालसे है अथवा पंजाबसे है. वह यह नहीं कहता कि वह भारतसे है. पर विदेशी

जब यहां आते हैं तो यह नहीं कहते कि वह कॅलीफोर्नियासे अथवा शिकागोसे है. वह तो यही कहते हैं कि वह अमेरिकासे है. हमें अपने प्रदेशोंका भाव इतना दृढ़ है कि हम भारतके हैं यह हम भूल जाते हैं. इसीलिए भारतका हमें अनुभव नहीं होता. इसी कारण भारतके हितका भी विचार हमें नहीं आता है. हमारी समस्या यह है. अपना पुराना जो सरनेम् था, शर्मा वर्मा गुप्त और दास, जो कि ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्रके हिसाबसे था, वह अब किसीको कहना अच्छा नहीं लगता. कोई 'गोस्वामी' कहता है, कोई 'पारीख' कहता है, कोई 'शाह' कहता है. अरे, अगर आप हिन्दु हैं तो आपको उन चारोंमेंसे कोई एक होना चाहिये. पर यह कहते हुए हमको शर्म आती है. कोई अपने आपको बॅनर्जी चॅटर्जी चौबे दुबे कहता है. अरे, अपना मूल सरनेम् क्यों नहीं बोलते? क्योंकि उसकी अवेअरनेस् हमें नहीं रही. इसी कारण हम अपने मूलको भूल गये हैं.

इसी प्रकार नित्यलीला अथवा व्यापि-वैकुंठ की अवेअरनेस् हमें नहीं रही है, इस कारण हम वहां नहीं हैं. यदि हमें मध्यमा भक्ति होगी तो उन दोनोंका अनुभव हमें होगा. जब ऐसा होगा तो हमें लोगोंके वहां जानेपर शोकसभा भी नहीं करनी पड़ेगी. क्योंकि आप अनुभव नहीं भी कर रहे हो तो भी आप व्यापि-वैकुंठमें ही तो हो. ध्यान रहे कि 'वैकुण्ठ'का अर्थ है जहां कुण्ठा न हो. जहां टाइम् स्पेस् और मॅटर् की कुण्ठा न हो वह वैकुण्ठ. और वह वैकुण्ठ व्यापी है. इसलिए भगवान् इसी वैकुण्ठमें विराजते हैं जो सदा है सर्वत्र है. हम बस यही अनुभव नहीं कर पाते इसीलिए हमें कुण्ठा होती है. इसलिए मुद्देकी बात समझो कि मध्यमा भक्तिसे नित्यलीला व्यापि-वैकुण्ठ में वास होता है. यह कोई आकाशमें बना हुआ ग्रह नहीं है.

**ननु लोकानां कालभयस्य विद्यमानत्वात्. ''क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं**

**विशन्ति''** (**भग.गीता ९।२१**) इन लोगोंको कालभय तो होता ही है इसलिए पुण्य जब क्षीण हो जाते हैं तो फिर मृत्युलोकमें आते हैं, **इति स्वस्थानत्यागात्, किं वैकुण्ठलोके विषयानुभावेन? इति आशङ्क्य आह न कर्हिचिद् इति.** फिर यदि मृत्युलोकमें आना है तो आप उसको वैकुण्ठमें फलानुभव करा रहे हो तो उसे लाभ क्या हुआ? यह आशंका है. ऐसी भक्ति किस कामकी? उसके उत्तरमें अगले श्लोकमें कह रहे हैं कि **शान्तं रूपं यस्य इति सर्वदोषविवर्जिते वैकुण्ठे वा. अहमेव परो येषां ते न नङ्क्ष्यन्ति. क्षीणपुण्याः नश्यन्ति पतन्ति वा.** जो लोग मुझे परम मानते हैं उनका नाश कभी होता नहीं है. क्योंकि 'परम'का अर्थ है कि कालरूप कर्मरूप जीवरूप और द्रव्यरूप भी वही है. जो मुझे परम मानता है उसका इस लोक में भी नाश नहीं होता है तो व्यापि-वैकुण्ठमें नाश किस प्रकार होगा! जो लोग मुझे परम नहीं मानते वह तो फिर वैकुण्ठको और स्थानोंपर ही खोजते रहते हैं और नित्यलीलामें भी अनित्यता खोजते हैं.

**न वा हेतिः कालचक्रं तान् लेढि, कालोऽपि तान् न भक्षयति. तत्र हेतुः येषाम् अहम् इति. कालस्य यत्र विषयः तत्र प्रवर्तते.** कालका प्रवर्तन कहां होता है? कालके कितने विषय हैं? **तस्य अष्टौ विषयाः भवन्ति : १. विषयाः, २. देहः, ३. पुत्राः, ४. मित्राणि, ५. गुरवः, ६. सम्बन्धिनः, ७. इष्टदेवता, ८. कामश्च इति.** कालके आठ विषय हैं. १.'विषय' मानें रूप रस गंध स्पर्श शब्द जैसे विषय. इसी प्रकार उपरोक्त आठ प्रकार हैं जो कालके अंतर्गत आते हैं. जैसे काम किसी कालमें होता है और किसी कालमें नहीं. **तस्मिन् लोके न एते सन्ति. किन्तु एतेषां कार्यम् अहमेव करोमि.** यह सभी कालका विषयरूप है, वैकुण्ठमें इनमेंसे एक भी नहीं है. क्योंकि आपके अंदर जो भी तीव्र इच्छा है वह भगवान्से ही पूरी होती है. इच्छा नहीं रह जाती ऐसी बात नहीं है पर उन सबकी संतुष्टि भगवान्से

होती है. कुछ सुनना है, कुछ देखना है अथवा कुछ सूंघना है तो वहां रूप रस गंध नहीं है पर भगवान् ही वे सब हैं. जिसे दयाराम भाई कहते हैं *"एवी अचल भक्ति तारी आप मुने मोहन करुणानिधि गिरिधारी रे काया-वाचा-मनसा ए करी सेवा सदा हुं करूं तारी रे."* प्रत्येक इन्द्रियोंका विषय वहां भगवान् बन जाते हैं. देह भी वहां भगवान् ही बनते हैं. आपको पुत्र-भाव हो तो पुत्ररूपमें आपको भगवान् ही मिलते हैं. आपको मित्रता निभानी हो तो वहां मित्ररूपमें भी भगवान् ही मिलते हैं. गुरु चाहिये तो गुरुरूपमें भी भगवान् ही मिलते हैं. किसी संबंधीकी कामना है तो वह भी भगवान्के द्वारा ही पूर्ण होती है. आपको इष्ट-देवताकी कामना हो तो भगवान् ही आपके सामने इष्ट-देवताकी तरह आते हैं और आपकी कोई इच्छा हो तो वह भी भगवान्के द्वारा ही पूरी होती है. इस अर्थमें कालका विषय वहां रह नहीं जाता.

**अतएव तेषाम् अहमेव अष्टविधः. नहि कालो मां विषयीकरोति.** मैं ही आठों रीतिसे उनका कालातीत विषय हो जाता हुं. अर्थात् जीवके चारों पुरुषार्थ प्रभु ही हो जाते हैं. क्योंकि लौकिक पुरुषार्थोंसे हमको इन आठमेंसे ही किसी वस्तुकी कामना होती है. पर वहां प्रभु ही स्वयं पुरुषार्थ बन जाते हैं और उनका फल भी वे ही बनते हैं. **तेषां मद् अन्यः कोऽपि न अस्ति.** क्योंकि वहां मेरे सिवाय इनका कोई होता नहीं है. **देहादिः प्रियोहि विषयो भवति.** देहादि जीवके प्रिय विषय होते हैं इसलिए वे भी मैं ही बनता हूं. **वैकुण्ठस्तु मद्रूपइति तत्र अहमेव विषयः.** यह वैकुण्ठ भी भगवद्रूप ही है मानें भगवान्में किसी प्रकारकी कुंठा नहीं है. इसलिए जो भगवान्में रहता हो उसे कुंठा किस प्रकार हो सकती है? **सारूप्यस्य च प्राप्तत्वाद् देहोऽपि अहमेव.** भगवान्में सारूप्य होनेसे उनका देह भी भगवान् ही बनते हैं. **देहेन विषयेषु भुज्यमानेषु प्रकृतिः सूयतइति सुताः भवन्ति.** इस देहसे जब विषयका भोग करते हैं तो प्रकृतिमेंसे संतति उत्पन्न

होती है. इसलिए जब देह भी भगवान् है और विषय भी भगवान् है तो उनसे उत्पन्न होनेवाले इनके पुत्रकी इच्छा भी भगवान् पूरी करते हैं. **तत्र विषयभोगेनापि अहमेव भवामि, पुत्रस्नेहः तत्रत्यैः(तत्र) मय्येव क्रियते.** इसलिए पुत्रस्नेहकी जीवके भीतर इच्छा भी भगवान्से ही पूरी होती है. **तत्र बाह्योऽपि सखा अहमेव,** आपको अपनेसे दूसरा कोई मित्र चाहिये तो वह भी भगवान् ही बनते हैं. **तत्रत्यानां पुरुषाणां मद्रूपत्वात्. एते चत्वारः ऐहिकाः.** इस प्रकार यह चार वस्तुएं ऐहिक हैं.

और दूसरी पारलौकिक. अब उनका वर्णन करते हैं. **पारलौकिकाः चत्वारः. तत्र गुरुः उपदेष्टा वैकुण्ठेतु अहमेव. गुरोः उपदेशानन्तरं ये तत्र हितार्थं यतन्ते,** वैकुण्ठमें तुम्हें यदि गुरुकी कामना है तो वह भी भगवान् बनते हैं. **ते बान्धवाः सुहृदः,** 'बान्धव'का अर्थ समझो. बन्धु और बान्धव. आपसे जो बंधा हुआ है वह बन्धु. और बन्धुओंका समुदाय 'बान्धव' कहलाता है. बंधे हुएका अर्थ यह नहीं है कि जो गढ्ढेमें साथ गिरनेके लिए बंधा हो. वह सच्चा बंधु नहीं है. अपितु इसका अर्थ है कि जो अपने उत्कर्षके लिए हमसे बंधा हो, वही सच्चा बंधु है. इस प्रकारका बान्धव भी वहां भगवान् ही हैं. **सुहृत्कार्यन्तु तत्रत्यैरेव क्रियतइति. दैवं देवता, पूज्यः, फलदाने सः प्रयोजकः. फलं च इष्टम्. अतः तेषां नाशाभावः उचितएव.** हर किसीको, किसीको पूजनेकी एक तीव्र इच्छा तो रहती ही है. आप किसको पूज रहे हो यह बात अलग है. मैं हमेशा एक बात कहता हुं कि बहुतसे लोग अपने आपको तार्किक समझते हैं. और जो श्रद्धालु हैं, उनकी वे खिल्ली उड़ाते हैं कि "तुम तो अंधश्रद्धालु हो. अपनी बुद्धि नहीं लगाते." आप यह बात लिख लें कि कोई भी व्यक्ति ऐसा हो ही नहीं सकता कि जो श्रद्धालु और तार्किक न हो. अंतर केवल इतना ही है कि किसीको तर्क-बुद्धिपर श्रद्धा है और किसीको श्रद्धाकी तार्किकताके ऊपर है. बात वही-की-वही

है. आप कहते हो कि आप तार्किक हो, श्रद्धालु नहीं हो. पर यह तो सोचो कि आपको अपने तार्किक होनेपर कितनी श्रद्धा है. आपकी तार्किक बुद्धि सही है कि गलत है, इसकी आपने क्या परख की? वह तो आपने नहीं की. हमको बैठे-ठाले अपनी तर्क-बुद्धिपर श्रद्धा हो गयी. आपकी तर्क-बुद्धि सच्ची है कि खोटी, यह आपने नहीं परख की. भगवान् सच्चा है कि खोटा, यह भी हमने परख नहीं की. पर आपको भगवान्में श्रद्धा नहीं है, तर्कपर है. मानें श्रद्धाका विषय बदल गया है, श्रद्धा कहां छूटी है. ऐसे लोग तर्कपर जो बात खरी उतरती है, उसी बातको सच्चा मानते हैं. किसीको तर्कसे यह बात समझमें आती है कि श्रद्धा भी तो अपने भीतर रही हुयी एक शक्ति ही है. जैसे सोना और जागना अपने भीतर रही हुयी शक्ति है, खाना और पचाना अपने भीतर रही हुयी शक्ति है, भूलना और याद रखना आपके भीतर रही हुयी शक्ति है, इसी प्रकार श्रद्धा और तर्क आपके भीतर रही हुयी शक्ति हैं. जो जितना बड़ा तार्किक होता है, वह उतना ही बड़ा श्रद्धालु होता है. भगवान्में नहीं तो तर्कमें उसकी श्रद्धा है. और जो श्रद्धालु है उसके पास भी तो यह तर्क है ही कि ''यदि मेरे भीतर कोई श्रद्धा बोल रही है तो उसे कैसे अस्वीकार करूं. आपके भीतर तर्क बोल रहा है जिसे आप अस्वीकार नहीं कर रहे हो तो मैं क्यों अपनी श्रद्धाका अस्वीकार करूं.''

श्रद्धा और तर्क में अंतर क्या है? दोनों अपने अंदर रही हुयी दो वृत्ति ही तो हैं. किसी समय यह आपसमें भी लड़ जाती हैं. जैसे अपनी रक्त कोशिकाएं दो प्रकारकी होती हैं. एक सफेद और लाल. लाल कोशिकाएं प्रत्येक शरीरके हिस्सेमें ऑक्सीजन् पहुंचाती हैं. सफेद कोशिकाएं उसमें आनेवाली समस्याओंको दूर करती हैं. कई बार यह सफेद कोशिका किसी कारणसे लाल कोशिकाकी रक्षाके बजाय उन्हें खाने लगती हैं. इस स्थितिको ही 'रक्त-कँसर्' कहा

जाता है. जो तर्कको श्रद्धाके विरुद्ध उपयोगमें लाता है, उसे उसी प्रकारके कँसर्से पीड़ित मान लेना चाहिये. और जो श्रद्धाको तर्कके बिना उपयोगमें लाता है, उसे भी रक्त-कँसर् ही है. दोनों प्रकारकी कोशिकाएं, जो जीवनके लिए अति आवश्यक हैं, उनमेंसे एकका पक्ष कैसे ले सकते हो! जब आप कह रहे हो कि यह तर्ककी बात नहीं है. हम तो यह श्रद्धासे मान रहे हैं. पर यह भी तो एक प्रकारका तर्क ही है.

यह बात समझ लो कि हमारा मस्तिष्क दो टांगोंपर चलता है. एक टांग तर्ककी है और दूसरी श्रद्धाकी. यदि हमें ठीकसे चलना है तो दोनों टांगोंकी स्वस्थता आवश्यक है. एक पैरपर आप ठीकसे चल नहीं पाओगे. यदि आपने एक पैर उठा लिया तो दूसरा पैर तभी उठा पायेंगे जब पहला पैर जम जाये. दोनों पैर उठा लिये तो निश्चित ही गिरेंगे. यदि आपने तर्कका पैर उठाया है तो श्रद्धा तभी आयेगी जब तर्कका पैर पूरी तरह जम जायेगा. इसी प्रकार श्रद्धाका पैर तब-तक नहीं जम पायेगा जब-तक तर्कका पैर उठेगा नहीं. इस प्रकार तर्क और श्रद्धा हमें दिये गये बुद्धिके दो पैर हैं. जब दोनों चलेंगे तो ही बुद्धि ठीकसे संतुलित हो कर चलेगी. यदि कोई व्यक्ति कहता है कि मैं एकसे ही चलता हुं तो समझ लो कि वह लंगड़ा है.

**सुहृत्कार्यन्तु तत्रत्यैरेव क्रियतइति. दैवं देवता, पूज्यः, फलदाने सः प्रयोजकः. फलं च इष्टम्. अतः तेषां नाशाभावः उचितएव.** इसीलिए कहते हैं कि बहुतसे लोगोंको तीव्र इच्छा होती है किसीको देवकी तरह पूजनेकी. इस प्रवृत्तिके कारण यदि देव नहीं है तो वह देवताको गढ़ लेते है. आज-कलके नहीं पर पुराने लोगोंको पता होगा कि एक फिल्मी गाना था *''देवता तुम हो मेरा सहारा, मैंने थामा है दामन तुम्हारा.''* हर किसीको एक इच्छा होती है कि वह किसीका दामन थामे. रशियामें सरकारने सारी भगवान्की मूर्तियाँ तोड़ दीं. और

वह लेनिन्की मूर्तिकी प्रार्थना करते थे. अब बात तो वहीं-की-वहीं आ गयी न! सारी क्राइस्ट्की मूर्तियोंको तोड़ कर आप लेनिन्की मूर्तिकी पूजा करने लगे. मूल वृत्ति मनुष्यकी नहीं जाती. देवता तो चाहिये ही. भगवान् बुद्ध और महावीर ने भगवान्का विरोध किया. आज जैन और बौद्ध उन्हींको भगवान् मानने लगे. बात तो वहीं-की-वहीं रही. रजनीश खिल्ली उड़ाते थे कि भगवान् नहीं है. उनके भक्तोंने उन्हें ही भगवान् बना दिये. वे लोग तो उनकी आरती भी उतारते थे. महात्मा गांधी कहते थे कि कृष्ण जैसा कोई व्यक्ति हुआ नहीं है. एक काल्पनिक चरित्र है. कॉन्ग्रेसियोंने गांधीको भगवान्का दसवाँ अवतार मान लिया. कहनेका अर्थ है कि अपने भीतर रही हुयी जो देवता माननेकी तीव्र वृत्ति है, वह नहीं बदलती. जैसे हमारी खानेकी इच्छा नहीं खतम होती. एकादशी है तो नित्यका नहीं, फलाहार खायेंगे. बात तो वहीं-की-वहीं है.

अपने पुष्टिमार्गमें भी देखो महाप्रभुजी साफ कह रहे हैं, "**प्राकृताः सकला देवाः गणितानन्दकं बृहत्, पूर्णानन्दो हरिस् तस्मात् कृष्णएव गतिर्मम.**" (कृष्णाश्रय ८) और इस कृष्णकी सकाम भक्ति नहीं करनी चाहिये. बात साफ है कि आप सकाम भक्ति कर रहे हो तो वह कृष्ण नहीं है. गुसांईजी भी स्पष्ट आज्ञा करते हैं कि यदि आप कृष्णकी सकाम भक्ति कर रहे हो तो वह कृष्ण रह ही नहीं जाता, कोई विभूति हो जाता है. हमने क्या किया कि गिरिराजजीको अपनी कामनापूर्तिका जरिया बना लिया. कामनापूर्तिके लिए खूब परिक्रमा करते हैं और दूध चढ़ाते हैं. बस एक समानांतर देवता खड़ा कर दिया. अब वैष्णवोंको गिरिराजजी कृष्णसे अधिक प्यारे हो गये है. क्योंकि कृष्णसे तो कोई कामना करनेकी मनाई है. बस पकड़ लिया गिरिराजजीको. यह क्या हो गया! मनुष्य जहां है वहीं रहेगा. आगे बढ़ता ही नहीं है. जैसे ट्रेड्-मिल्में हमें भ्रांति होती है कि हम आगे बढ़ रहे हैं पर हम रहते वहीं-के-वहीं हैं. इसलिए देवता

तो चाहिये ही. भगवान् वही बात यहां कह रहे हैं कि यदि तुम्हारी देवताकी इच्छा भी हो तो वैकुण्ठमें वह भी तुम्हारी पूरी करूंगा क्योंकि मैं ही तुम्हारा देवता हूं. **फलदाने सः प्रयोजकः. फलं च इष्टम्. अतः तेषां नाशाभावः उचितएव.** ऐसे भक्तका नाश कभी होता नहीं है॥३७-३८॥

**( सफलभक्तिका निरूपण )**

श्लोक :

**इमं लोकं तथैव अमुम् आत्मानम् उभयायिनम्॥**
**आत्मानम् अनु ये च इह ये रायः पशवो गृहाः॥३९॥**
**विसृज्य सर्वान् अन्यान् च माम् एवं विश्वतोमुखम्॥**
**भजन्ति अनन्यया भक्त्या तान् मृत्योः अतिपारये॥४०॥**
**न अन्यतो मद् भगवतः प्रधानपुरुषेश्वरात्॥**
**आत्मनः सर्वभूतानां भयं तीव्रं निवर्तते॥४१॥**
**मद्भयात् वाति वातो अयं सूर्यः तपति मद्भयात्॥**
**वर्षति इन्द्रो दहति अग्निर् मृत्युः चरति मद्भयात्॥४२॥**
**ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः॥**
**क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशन्ति अकुतोभयम्॥४३॥**
**एतावानेव लोके अस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः॥**
**तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मयि अर्पितं स्थिरम्॥४४॥**

अनुवाद : **इस लोक अथवा परलोक में संचरण करनेवाली जीवात्मा और उसके साथ जुड़े हुए जो धन पशु इत्यादि ऐसे दूसरे भी सभीका त्याग करके विश्वतोमुख भगवान्का जो अनन्यभक्तिसे भजन करता है उसे भगवान् मृत्युके बन्धनमेंसे मुक्त कर देते हैं. प्रधान और पुरुष दोनोंके ईश्वर ऐसे भगवान्के अतिरिक्त दूसरे सभी भूतोंसे उद्भव होता तीव्र भय निवृत्त नहीं होता है. वायु भी भगवान्के भयके कारण बहता है, सूर्य भी भगवान्के भयके कारण तपता है. अग्नि अथवा इन्द्र जो जलाता है अथवा**

**वर्षा करता है, वे भी भगवान्‌के भयके कारण. मृत्युदेव भी भगवान्‌के भयके कारण सभीके प्राण हरता है. इसी कारण योगीजन ज्ञान और वैराग्य वाला भक्तियोगके द्वारा उनका कल्याण हो ऐसे आशयसे भगवान्‌के अकुतोभय चरणकमलोंका सहारा लेते हैं. अतः इस लोकमें पुरुषोंका निःश्रेयस् तीव्र भक्तियोगके द्वारा भगवान्‌में स्वयंके मनको अर्पित और स्थिर करनेमें रहा हुआ है॥३९-४४॥**

विवेचन : इसके पीछे रहा हुआ सिद्धांत तो हम देख ही चुके हैं. इस लोक अथवा परलोक में संचरण करनेवाली जीवात्मा, उसके साथ जुड़ा हुआ धन पशु अथवा घर और इसी प्रकारकी वस्तुओंका त्याग करके जो विश्वतोमुख भगवान्‌का अनन्य भक्तिसे भजन करता है, उसे भगवान् मृत्युके बंधनसे मुक्त करते हैं. प्रधान और पुरुष दोनोंके ईश्वर भगवान्‌के अलावा, दूसरे सभी प्रकारके भूतोंसे उसे तीव्र भय होता नहीं है. हकीकतमें तो वायु भी भगवान्‌के भयके कारण ही बहता है. सूर्य भी भगवान्‌के भयके कारण ही तपता है. अग्नि अथवा इन्द्र जो जलाता है और जो पानी बरसाता है वे भी भगवान्‌के भयके कारण ही ऐसा करते हैं. मृत्युदेव भी भगवान्‌के भयके कारण ही सभीके प्राण हरते है. इसीलिए योगीजन ज्ञान वैराग्य से भक्ति करें, जिससे उनका कल्याण हो. इस आशयसे भगवान्‌का **अकुतोभयं** मानें कहींसे भी भय न हो ऐसे चरण-कमलका सहारा लेते हैं. इसलिए इस लोकमें पुरुषोंका निःश्रेयस तीव्रभक्तिसे भगवान्‌में अपने मनको अर्पित और स्थिर करनेमें रहा हुआ है. यह बात कपिलजीने देवहूतिको समझायी.

**विश्वतोमुख** भगवान्‌से अभिप्रेतार्थ है कि जैसे आपका मुख मेरी तरफ है तो आप अपने पीछे नहीं देख सकते. पर भगवान्‌के साथ ऐसा नहीं है. वे चारों ओर देख सकते हैं. जैसे कुछ माइक् युनीडिरेक्शनल् मानें एक ही तरफकी आवाज़को पकड़ सकते हैं पर

कुछ चारों ओरकी आवाज़को पकड़ लेते हैं. ठीक इसी प्रकार भगवान् भी अपने चारों ओरकी वस्तुको देख सकते हैं. भगवान्के लिए उपनिषद्में ऐसा कहा है कि **''विश्वतः चक्षुः विश्वतो मुखः विश्वतो बाहुः उत विश्वतस्पात्''** (यजु.१७।१९) भगवान् विश्वतः चक्षु हैं, विश्वतः मुख हैं, विश्वतः हस्त हैं, विश्वतः चरण हैं. वे एक दिशामें ही नहीं हैं सभी दिशाओंमें हैं. हमारी सारी क्रियाएं एक ही दिशामें होती हैं पर भगवान्की एक साथ सभी दिशाओंमें हो सकती हैं. जैसे प्रकाश विश्वतोमुख है उसी प्रकार. **''विश्वतः चक्षुः विश्वतो मुखः विश्वतो बाहुः उत विश्वतस्पात्, सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैः द्यावाभूमि जनयन् देवः एकः''** (यजु.१७।१९) भगवान् अपनी बाहुसे; जैसे पक्षीको आकाश सभी ओरसे धारण करता है, ठीक उसी प्रकार भगवान् भूमिको सभी ओरसे धारण करते हैं. वह कहांसे कर रहा है ये दिखलायी नहीं देता है पर वह कर रहा है. जैसे आकाश पक्षीको कैसे धारण करता है, यह दिखायी नहीं देता. पृथ्वीको आकाशने धारण कैसे कर रखा है, यह तो अधरमें लटकी हुयी है. इसी प्रकार सूर्य भी अधरमें लटका है. विज्ञान कहता है कि यह सब एक-दूसरेके गुरुत्वाकर्षणसे टिके हैं. पर फिर सारे सोलर् सिस्टम्को किसने धारण कर रखा है? आकाशने. इसी प्रकार भूमि और द्युलोक को धारण करनेकी भगवान्की जो प्रक्रिया है वह आकाश जैसी है. वह कहांसे धारण कर रहा है, वह पता नहीं चलता.

**प्रश्न :** वायु सूर्य आदि भगवान्से भयके कारण चल रहे हैं. 'भयसे' का क्या अर्थ लेना चाहिये.

**उत्तर :** 'भय'का अर्थ यहां डरानेसे नहीं है बल्कि जो प्रणाली बनायी है, उससे वह खिसक न जाये, उस प्रकारका भय. क्योंकि यदि कोई एक वस्तु भी प्रणालीसे हटे तो और वस्तु भी हट सकती हैं, क्योंकि प्रणाली ही इस प्रकारकी खड़ी की गयी है. सब एक-दूसरेपर निर्भर हैं. सब इस बातसे भयभीत हैं कि यदि

इस प्रणालीको तोडूंगा तो मैं स्वयं भी खतम हो जाऊंगा. ''**भीषास्माद् वातः पवते, भीषोदेति सूर्यः भीषास्माद्, अग्निश्च इन्द्रश्च मृत्युः धावति पञ्चमः इति सः एषा आनन्दस्य मीमांसा भवति**'' (तैत्ति.उप.८।१) ऐसा वेद कहता है कि इस ब्रह्मका आनंद ऐसा है कि इसमें जिस प्रकारका सृष्टिका संविधान बनाया है, उसमेंसे कोई बाहर निकलनेका प्रयास करे तो वह स्वयं ही नष्ट हो जायेगा. इसलिए इस संविधानको माननेके अलावा कोई चारा नहीं है. इस अर्थमें सारी वस्तुएं भयभीत हैं. इसीलिए ऐसा कहा है कि सब उससे भयभीत हैं.

आपको एक बात बताता हुं, उससे सभी समझ आ जायेगा. एक जगह रामलीला चल रही थी. उसमें सीतास्वयंवरका प्रसंग था. उसमें रावणका कुछ विवाद हो गया रामलीलाके मॅनेजरके साथ. प्रसंग यह था कि रावण धनुष उठाने जाता है और उठा न पानेके कारण गिर जाता है. अब मॅनेजरसे विवादके कारण उसने धनुष तोड़ दिया और कहने लगा कि ''लो तोड़ दिया धनुष. अब लाओ सीता.'' अब तो रामलीलामें सब उलट गया. इतनेमें जनक राजा जो सीताके पिता थे, उन्होंने सोचा कि अब नाटकको संभालना होगा. उसने अपने कर्मचारीको कहा ''यह कौनसा धनुष ले आये. यह तो मेरे राजकुमारका है. शिवजीका धनुष लाओ.'' जब-तक नया धनुष आता रावणके वेषमें किसी दूसरे पात्रको स्टेजपर भेज दिया गया. इस तरह वह रामलीला ठीकसे संपन्न हुयी. इसी तरह यदि कोई भी वस्तु भगवान्की बनायी सिस्टम्को तोड़ना चाहे तो उसे संभालनेके लिए उसी सिस्टम्मेंसे ही कोई दूसरा उसे संभाल लेता है. इस अर्थमें 'भय' कहा गया है.

**प्रश्न :** प्रधान और पुरुष से क्या तात्पर्य है?

**उत्तर :** 'प्रधान' मानें प्रकृति अथवा मॅटर् और 'पुरुष' मानें चेतना. इन दोनोंके योगसे ही सारी सृष्टिकी रचना हुयी है.

**प्रश्न :** निःश्रेयस और अभ्युदय में क्या भेद है?

**उत्तर :** 'अभ्युदय' मानें लौकिक और 'निःश्रेयस' मानें अलौकिक कल्याण. ऐसा कहनेमें आता है **''यतो अभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः सः धर्मः''** (काणा.सू.१।१।१) धर्म वह है जिससे आपका अभ्युदय भी हो और निःश्रेयस भी हो. यदि निःश्रेयस हो और अभ्युदय न हो तो कुछ न कुछ उस धर्ममें गड़बड़ है. और अभ्युदय हो और निःश्रेयस न हो तो भी वह धर्म अधूरा है. जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों हों वह सच्चा धर्म है. अपने पुष्टिमार्गकी दृष्टिसे अलौकिक सामर्थ्य अभ्युदय है और सेवोपयोगी-देह-वैकुण्ठादिषु अपना निःश्रेयस है. जिसको अलौकिक सामर्थ्य है उसे भी तो सेवोपयोगी देह तो मिलेगी ही. इसमें अभ्युदय-निःश्रेयस दोनों ही होते हैं.

**प्रश्न :** आपने कहा मन बच्चेके जैसा होता है. उसे जो वह मांगता है, वह दे दो तो वह चुप बैठ जायेगा. पर गीतामें भगवान् कह रहे हैं कि मनको नियंत्रित करो. इस प्रकार तो दोनों बातें एक-दूसरेकी विरोधी हो गयी. मन तो कभी गलत जगहपर भी जाता है तो उसे वह करने देना कहां तक उचित है?

**उत्तर :** मनकी और अहंकारकी अपने अंदर दो क्रियाएं हैं, उनकी कुछ अच्छाई भी है. उनकी कुछ बुरायी भी है. दोनोंकी अच्छाई क्या है? मन और अहंकार को स्वयं कुछ भी करना नहीं है. जो कुछ इन्द्रियाँ करती हैं, उन्हें अपना मान कर चलते हैं. जैसे आप सुन रहे हो. वह आप तो नहीं सुन रहे, आपका कान सुन रहा है. पर आपका अहंकार कहता है कि 'मैं सुन रहा हुं.' समझो आपने कुछ खाया, तो वह आपको अच्छा लगा कि जीभको? अच्छा तो जीभको लगा पर आप कहते हो ''मुझे यह चीज अच्छी लगी.'' अहंकार उसको अपना मानता है. मनके साथ भी ऐसा ही है. वह न सुनता है, न चखता है, न खाता है, न देखता है. पर जिन इन्द्रियोंसे आप जो काम कर रहे हो, उसमें मन लग गया तो वह सुखी हो जाता है, नहीं लगा वह दुःखी हो

जाता है. इस प्रकार सुख-दुःखका अनुभव आपको मनसे हो रहा है. मनको नियंत्रित करनेका शुद्ध अर्थ यह है कि आप अपनी इन्द्रियोंको इस प्रकारसे नियंत्रित करो कि मनके पास कोई गलत बात जाये ही नहीं. क्योंकि मनका तो स्वभाव है कि यदि आपने कुछ अच्छा देखा तो वह कहेगा कि हां मुझे अच्छा लगा. यदि आपकी आंखमें धुंआ छोडूं तो आपकी आंखमें तकलीफ होती है कि मनको? तकलीफ तो आंखको ही होती है. आंखमें आंसु आयेंगे, उसमें ही जलन होगी. पर दुःखी होगा मन. मनका स्वभाव ही ऐसा है कि वह इन्द्रियोंके सुख-दुःखको अपना मान लेता है. अहंकारके बारेमें भी ऐसा ही है कि जो कुछ इन्द्रिय कर रही है, उसे वह कहता है मैंने किया. मन अथवा अहंकार को नियंत्रित करनेका अर्थ भगवान् कह रहे हैं कि बुद्धिसे जो आपको लगे कि यह अच्छा है, वही इन्द्रियोंको दो अथवा उन्हींमें उन्हें संलग्न करो. तो मन भी उसीमें लग जायेगा और अहंकार भी कहेगा कि यह मैंने किया.

कभी भी मच्छीमारोंकी बस्तीमें जाओ तो वहां कितनी बास आती है! अपनेसे सहन भी नहीं होती, पर मच्छी खाने लग जाओ तो मनको वह बास भी आनी बंद हो जाती है. कोई दारू पी कर बाजूमें बैठ जाये तो सहन नहीं होता. पर आप दारू पीना शुरु कर दो तो बास भी आनी बंद हो जायेगी. बुद्धिसे यह विवेक आना चाहिये कि क्या अच्छा है और क्या बुरा. जब ऐसे काम हम इन्द्रियोंको सौंपेगे तो वे भी नियंत्रित रहेंगे. पर बुद्धिके साथ भी एक समस्या है कि इसे उपयोगमें नहीं लें तो यह बेकार हो जाती है. जैसे आपको पता होगा कि शरीरमें एक आंतके अंदर गांठनुमा होती है जिसे 'ॲपेन्डिक्स्' कहते हैं. उसका कार्य था कि जो वस्तु आंत नहीं पचा पाती उसे वह उसके पास भेज देती है. उसमेंसे ऐसे रसायन निकलते थे कि भोजन कच्चा भी हो तो

पच जाता था. अब हमने कच्चा खाना ही बंद कर दिया, तो वह अंग ही बेकार हो गया और उसने काम करना ही बंद कर दिया. इसीलिए अंग्रेजीमें एक कहावत है. Use it or loose it. यातो उपयोगमें लाओ, नहीं तो उसे खो दोगे. बुद्धिके साथ भी ऐसा ही है. इसलिए हमें उसे उपयोगमें लाना चाहिये.

संस्कृतमें एक कहावत है *''मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः.''* ( मालविकाग्निमित्रम्-१।२ ) मूढ़की परिभाषा क्या है? जिसकी बुद्धि दूसरेके विश्वासपर चलती हो अपनेपर नहीं. 'नेय बुद्धिः' मानें जिसकी बुद्धि उसके स्वयंके विश्वासके आधारपर नहीं चलती. आज तुमने किसी दूसरेपर इतना विश्वास कर लिया और अपनी बुद्धि उपयोगमें लानी बंद कर दी तो कल वह काम ही करना बंद कर देगी.

**प्रश्न :** आपने कहा बुद्धि और तर्क एक साथ ही चलते हैं. पर प्रेमके बारेमें तो कहा जाता है कि इसमें तर्क नहीं चलता.

**उत्तर :** मैंने पहले ही आपको यह बता दिया है. आप जिसको प्रेम कर रहे हैं, अपनी बुद्धि उसी तरफ चला रहे हो. बिना बुद्धिके तो प्रेम हो ही नहीं सकता. बुद्धि तो काम कर ही रही है. कभी ऐसा होता है कि जिसमें आपकी बुद्धि चल रही है, उसीको आप प्रेम करते हो. इस तरह प्रेममें और बुद्धिमें से किसीको भी नकारा नहीं जा सकता. यदि प्रेमपर आपका भार आ गया तो बुद्धि भी प्रियमें ही चलेगी. और बुद्धिपर भार आ गया तो जो बुद्धिका विषय है, उससे प्रेम होगा. अंतर बस इतना ही है. वृत्ति नहीं बदलती, बस विषय बदल जाता है.

**प्रश्न :** आपने पहले समझाया था कि बुद्धि, अच्छा अथवा बुरा दोनों सोचती है पर इसका चयन तो मन ही करता है. इस स्थितिमें मनको उसकी मांगी हुयी वस्तुको देना मानें उसपर नियंत्रण खोना नहीं हुआ क्या?

**उत्तर :** चयन तो मन करता है पर वह आकस्मिक होता है. जो चयन किया गया है उसे समझनेका काम तो बुद्धि ही करती है. इसकी प्रक्रिया समझो. विषय और ज्ञानेन्द्रिय अथवा क्रिया और कर्मेन्द्रिय, इन दोनोंका जब संयोग होता है, तो जिस विषयको समझा गया है, उसे जिस भी इन्द्रियसे करना सरल हो, उससे वह कर्म किया जाता है. यदि किसी भी कर्मेन्द्रियसे कोई क्रिया करनी कठिन है तो उसे आप छोड़ देते हो कि "यह हमसे नहीं होगा." जिस इन्द्रियसे किसी विषयको अनुभव करनेमें कठिनायी नहीं होती हो, वही विषय आप इन्द्रियसे अनुभव करोगे. जैसे धुंआ छोड़े तो आंखको नहीं सुहाता. इसलिए आंख मिच जाती है. कोई दुर्गंध आती हो तो तुरंत हमें अपनी नाक बंद करनेकी इच्छा हो जाती है. इसलिए विषय एवं ज्ञानेन्द्रियों का संयोग और क्रिया एवं कर्मेन्द्रियोंका संयोग होनेसे जो भी सहज होता है, उसीको इन्द्रिय ग्रहण करती है. इनमेंसे चयन कैसे होता है? मन सोचता है कि इस वस्तुने पहले मुझे दुःख दिया है, यह मुझे नहीं चाहिये. यह क्रिया करनेसे पहले भी मुझे सुख मिला है, इसलिए यह अवश्य करनी है. मन, संकल्प और विकल्प के दोनों द्वारोंको खुला रखता है. इन दोनों ही विकल्पोंके साथ मन उस बातको अहंकारके पास भेज देता है कि तुझे करना है कि नहीं. पर अहंकार तो मिनिस्टर्की तरह है. वह स्वयं तो कुछ करता नहीं है. वह तो केवल अपना स्टॅम्प् लगा देता है. अब अहंकार उस बातको बुद्धिकी ओर भेज देता है उसका अभिप्राय जाननेके लिए. बुद्धि एक सेक्रेटरीकी तरह है. बुद्धि यह देखती है कि उसको क्या तथ्य मिलता है, सुखके तथ्य या दुःखके? यदि दुःखके तथ्य अधिक मिले तो बुद्धि अहंकारको कहती है कि यह काम मत करो, नहीं तो फिर दुःख होगा. अंततः तो मनने वह सूचना भेजी है. यदि पहले सुख मिला है, तो बुद्धि कहेगी कि फिर करो वही काम. यह एक पूरा नेट्वर्क है. सारी सूचनाएं और निर्णय गोल-गोल घूमते रहते हैं. एकके बाद दूसरेके पास. यह नेटवर्क

जब चलता है तो वह हमारा व्यवहार बनता है. नेटवर्क बिगड़ जाये तो हमारा व्यवहार भी संशयात्मक हो जाता है. चित्त इन सारी बातोंका संग्रह करके रखता है गोडाउन्की तरह. इन्द्रिय मन अहंकार और बुद्धि शो-रूम् हैं. शो-रूम्में जब कभी किसी चीजकी आवश्यकता होती है, गोडाउन्से मंगवा लिया जाता है.

आपको शायद पता होगा कि पचासके दशकमें बीटल्के नामसे एक पॉप्-सिंगर् आये थे. वे पहले प्रसिद्ध नहीं थे. उन्होंने पहले अपना एक रॅकॉर्ड बनाया. पर उसे कोई खरीदता ही नहीं था, तो उन्होंने अपने चार-पांच मित्रोंको अपने साथ मिलाया और उनसे कहा कि दुकानोंपर जा कर पूछो कि आपके पास बीटलका रॅकॉर्ड है? दुकानवालोंने कहा यह नाम तो हमने सुना ही नहीं है. तो कहते ''फिर किस लिए दुकान खोली है. बंद करो.'' दुकानवालोंको लगा यह तो होनी ही चाहिये. और उन्होंने खूबसारे रॅकॉर्ड् खरीद लिए और बेचनेके लिए खुद ही प्रचार भी कर देते कि हमारे पास बीटल्स्की रॅकोर्ड् है. बस वह इस प्रकार प्रसिद्ध हो गया.

यहां बात थोड़ी विचित्र स्थितिमें आ गयी है. क्योंकि जिससे मन हटा कर जिसमें लगाना है, वह दोनों ही भगवान् हैं. इसीलिए कपिलदेवजीने योग और भक्ति को मिश्रित करके ही देवहूतिको समझाया. संक्षेपमें अभी इतना ही समझ लो.

**प्रश्न :** आपने कहा जिससे हटा कर जिसमें लगाना है, वह दोनों भगवान् हैं. इससे आपका क्या तात्पर्य है.

**उत्तर :** पुत्रमें स्नेह सांसारिक होता है. पर देवहूतिका संशय यह था कि ''मुझे पुत्रमें स्नेह इसलिए है क्योंकि मैं अज्ञानी हुं.'' पर कपिलजीको तो पता ही है कि वे भगवद्-अवतार हैं. भगवद्-अवतार होनेपर भी वे पुत्ररूपमें देवहूतिके गर्भसे उत्पन्न हुए हैं. कपिलका एक पक्ष भगवद्-अवतारके रूपमें उनमें मोह होना चाहिये और पुत्ररूप

होनेके पक्षसे मोह नहीं होना चाहिये. यह है न विचित्र स्थिति! पर यदि पुत्र स्वयं भगवान् ही हो, तो मोह रखना कि मोह तोड़ना? इसलिए मोह तोड़नेके लिए सांख्यकी प्रक्रिया है, वह समझायी और मोह रखनेके लिए योगकी प्रक्रिया समझायी, क्योंकि वे स्वयं ही भगवद्-स्वरूप हैं. और इन दोनोंके साथ भक्ति अपनी ओरसे भी समझा दी॥३९-४४॥

सुबोधिनी : **...एवं भेदत्रयं निरूपितं सायुज्यं वैकुण्ठो जीवन्मुक्तिः.**

अनुवाद : ऐसे तीन प्रकारके प्रभेदद्वारा फलात्मिका भक्तिको वर्णित किया : १. सायुज्य २. वैकुण्ठ ३. जीवन्मुक्ति.

**प्रश्न :** जीवन्मुक्ति और सायुज्य, इन दोनोंके बारेमें पूरा समझ नहीं आया.

**उत्तर :** सेवाफलमें अलौकिक सामर्थ्य, सायुज्य और सेवोपयोगी देह वैकुण्ठादिषु, ऐसे तीन फल समझाये गये हैं. यह महाप्रभुजीकी पुष्टि-भक्ति-संप्रदायकी भाषा है. यहां सांख्य-योगकी प्रकियामें इस प्रकारकी भाषाका उपयोग नहीं हुआ है पर बात वही-की-वही कही है. कपिल गीतामें कहा है सायुज्य, वैकुण्ठ और जीवन्मुक्ति. 'जीवन्मुक्ति' मानें अलौकिक सामर्थ्य, सायुज्य तो कहा ही है और 'वैकुण्ठ' मानें सेवोपयोगी-देह-वैकुण्ठादिषु. मुक्तिके दो प्रकार हैं

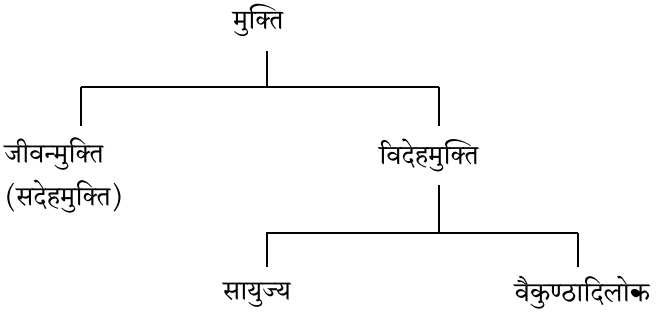

सायुज्यके बारेमें समझनेके लिए हमें वेदमें वर्णित ब्रह्मकी परिभाषाको समझना होगा. वहां ब्रह्मके बारेमें कहा गया है कि **''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति.''** (तैत्ति.उप.३।१) मानें यह सृष्टि जहांसे उत्पन्न हुयी है, जिसकी ओर जा रही है और जिसमें लय होनेवाली है, वह 'ब्रह्म' है. अब जिसकी ओर जा रही है और जिसमें लय होनेवाली है, उसीका नाम 'मुक्ति' कहा गया है. एक सोपान है उसकी ओर जानेका और दूसरा सोपान है उसमें लय होनेका. इस प्रकार जब जा रहा है तो उसमें किसी प्रकारका कोई भेद रहा हुआ है. यह भेद है जानेवालेका और जहां पहुंचना है उसका. जैसे मुझे दिल्ली जाना है तो दो चीज हो गयी. एक मैं और दूसरी दिल्ली. 'सालोक्य' जिस लोकमें तुम्हें ब्रह्मका अनुभव हो रहा है, उस लोकमें आपकी स्थिति. उसके बाद ब्रह्मलोकका वैभव या ऐश्वर्य यदि आपको भी हासिल हो जाये तो वह कहलाती है 'सार्ष्टि'. यदि भगवान्के समान ऐश्वर्य तो मिला है पर अभी भी उससे अलग है तो वह कहलाती है 'सामीप्य मुक्ति'. इसके बाद आती है 'सारूप्य'. मानें जैसा भगवान्का रूप है, वैसा ही आपका रूप भी हो गया. पर है अभी भी पृथक् और सायुज्य मानें भगवान्में मिल गये. जैसे नदी मिल जाती है अथवा जैसे पनडुब्बी अंदर घुस जाती है अथवा जैसे समुद्री जीव पानीमें रहते हैं. यह सारे सायुज्यके प्रकार हैं. इससे हम समझ सकते हैं कि यत्-प्रयन्ति और अभिसंविशन्ति की जो प्रक्रिया है, उसका गंतव्य है अभिसंविशन्ति और उसका रास्ता यत् प्रयन्तिका है. यत्-प्रयन्तिमें कितनी सारी बातें आ रही हैं. सालोक्य सामीप्य सार्ष्टि सारूप्य और पांचवां प्रकार सायुज्यका है मानें अभिसंविशन्तिका. यह विदेह-मुक्तिके प्रकारमें आता है. सदेह-मुक्तिमें जीवन्मुक्ति आती है. यह जीवदृष्टिकोणसे मुक्तिकी अवस्था है.

ब्रह्मके दृष्टिकोणसे यह मुक्तिकी पांचों अवस्था हमारी अभी

भी हैं. जैसे पुरुषोत्तमका धाम अक्षर है. जीव भी अक्षरमें ही रहता है. इस प्रकारसे यह 'सालोक्य' हुआ. पुरुषोत्तममें नित्य ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य, ये गुण हैं. हमने भी ये अर्जित किये हुए हैं. इस प्रकारसे हम 'सार्ष्टि' भी हैं. यदि जगत्के सभी रूप भगवान्ने धारण किये हैं क्योंकि **''रूपनामविभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः,** (त.दी.नि.मं.१) इस प्रकारसे हम भगवान्के रूप हुए, मानें 'सारूप्य' भी है. आपको ज्ञान और भक्ति की प्रक्रियासे भगवान्के निकट होनेकी अनुभूति यदि होती हो तो आपका 'सामीप्य' होता है. इस प्रकार चारों अवस्था हमारी भी हैं ही, पर हमें यहां समझ नहीं आता. ब्रह्मको यह समझमें आता है. मुक्तावस्थामें यह वस्तु हमें भी समझ आ जाती है. अंतर केवल इतना ही है. जैसे हमें जितना ऑक्सीजन् चाहिये, उतना ऑक्सीजन् हवाई-जहाज ऊपर जाता है तो वहां हमें नहीं मिल सकता. वहां उसमें कृत्रिमरूपसे ऑक्सीजन् भर कर ऐसा दबाव बनाया जाता है कि हमें ऑक्सीजन्की कमी महसूस न हो. वहां यदि दबाव कम हो तो हमें पता चलता है, नहीं तो नहीं. इसी प्रकार संसार रूपी जहाजमें हमें इन सब सुविधाओंका पता नहीं चलता है. यह यदि कम हो जायें, तो ही हमें पता चलेगा. किसीको यह इस स्थितिमें ही महसूस होता है, किसीको नहीं. कोई नया यात्री जब पहली बार हवाई यात्रा करता है तो उसे मितली आती है. जब अभ्यस्त हो जाता है तो ठीक रहता है. इसी प्रकार हम सभी इस संसार रूपी जहाजमें यहांके वातावरणके अभ्यस्त हो गये हैं. हमें लगता ही नहीं कि हम बहुत कुछ खो रहे हैं. ब्रह्मलोकमें होनेकी अनुभूति हुए बिना भी हम आरामसे रह रहे हैं. पर यह सब कृत्रिमरूपमें ही हमें मिलता हैं, यह हम समझ नहीं रहे हैं. हमें वह वियोग हो ही नहीं रहा है.

छोटे बच्चेको भी इस प्रकार ही होता है. माँके साथ बागमें घूमने जाता है तो इधर-उधर दौड़नेकी इच्छा होती है. पर जब

अपने आपको असुरक्षित महसूस करता है तो वापस माँके पास दौड़ कर आता है. पर जब-तक उसका मन लगता है तब-तक उसे अपनी माँका खयाल नहीं आता. हर समय ऐसा ही होता है. जब भी हम अपने आपको असुरक्षित महसूस करते हैं तभी हमें उसका ध्यान आता है. जब-तक कृत्रिमरूपसे हमें जो सुरक्षा प्रदान की गयी है, उसीमें विलसते हैं. तब-तक हमें कुछ ध्यान भी नहीं आता. यही हमारी कठिनाई है. हम भी एकदम हवाई यात्री जैसे हैं. पर थोड़ा भी इस विषयपर विचार करें तो इतने ऊपर न तो इतना ऑक्सीजनका दवाब है, न ही हमारे शरीरके अनुकूल तापमान है. सब कुछ हमें कृत्रिमरूपसे दिया जा रहा है. और इसीसे हम सुरक्षित महसूस करते हैं!!

'सदेह-मुक्ति'का अर्थ है कि हम पांचभौतिक देह होनेपर भी अपने आपको मुक्त अनुभव करते हों. पर यदि अपनी इस देहसे हमें मुक्तिका अनुभव नहीं हो रहा है तो फिर तो जब देह छूटेगी तब हमें मुक्ति मिलेगी. सदेह-मुक्तिके उदाहरण अनेक हैं. कर्ममार्ग ज्ञानमार्ग भक्तिमार्ग, सभीमें इसके उदाहरण देखनेको मिलते हैं. जड़भरत शुकदेव ये सभी जीवन्मुक्तिके उदाहरण हैं. देह होनेपर भी मुक्तावस्थामें रहते थे. वैसे मुक्तिके उदाहरणके तौरपर यह बता देना उचित नहीं है, पर जितने भी योद्धा होते हैं, बीस-पच्चीस घाव शरीरपर होते हैं, फिर भी लड़ते रहते हैं. क्या उन्हें दर्द नहीं होता? होता तो है. पर युद्ध ठाना है तो घाव हो-तो-हो पर लड़ते हैं. इस तरह एक प्रकारकी छोटे पैमानेकी यह मुक्तिकी अवस्था ही तो है. कई वर्ष पहले एक हवाई-जहाज जैसे ही उड़ा उसमें आग लग गयी. पायलट् जल रहा था तो भी उसने जहाजको समुद्रमें उतार दिया. स्वयं जल कर मर गया पर सारे यात्रियोंको सुरक्षित उतार दिया. इतने जलते रहनेपर भी इतना हवाई-जहाजपर नियंत्रण, एक प्रकारकी मुक्ति ही है. हमें कोई छोटीसी अगरबत्ती भी लग जाती

है तो हम उछल जाते हैं. जेलमें किसीसे कुछ उगलवाना होता है तो उसके शरीरपर सिगरेट् लगायी जाती है और वह सच बोल देता है. तो ऐसी स्थितिमें अपनेपर नियंत्रण रखना, यह भी तो एक प्रकारकी मुक्ति ही है.

एक तिबेतियन बीस सालकी लड़की जो लामा थी, उसकी जीवनी छपी है. उसे चीनके लोगोंने बहुत वेदना दी थी. वह अपने पैरोंसे चल कर, ॲवरेस्ट् पार करके यहां भारतमें आ गयी. उस समय जो स्पेनिश् पर्वतारोही थे, उन्होंने बहुत सारे सर्दीको रोकनेके कपड़े पहन रखे थे और ऑक्सीजन्के सिलिंडर् भी ले रखे थे. वे भी आश्चर्यचकित थे कि वह बिना किसी उपकरणके कैसे ॲवरेस्ट् पार कर रही है! उन्होंने ही उसकी जीवनी लिखी है. 'माउन्टन् बुद्धा' पढ़ने लायक पुस्तक है, अपने रोंगटे खड़े करनेवाली. अब वह भारतमें रहती है. क्या यह जीवन्मुक्तिका एक प्रकार नहीं है? ॥३९-४४॥

## उद्धरणतालिका

### (अ-ऐ)


| | | |
|---|---|---|
| अखण्डं कृष्णवत् सर्वम् | (त.दी.नि.२।१८२) | १३५ |
| अगाधमाहात्म्यमहार्णवं तं तितीर्षव | (सिद्धान्तसारसप्तकम्.१) | १३४ |
| अजायमानो बहुधा विजायते | (तैत्ति.आर.३।१३।३) | १ |
| अज्ञे ज्ञानाय शास्त्रज्ञे दंभ-दर्पनिवृत्तये | (सुभाषित) | १३८ |
| अत्ता चराचरग्रहणात् | (ब्र.सू.१।२।९) | ७८ |
| अथ अहम् अंशकलया | (भाग.पुरा.३।२१।३२) | ५१ |
| अद्वैतवीथीपथिकै उपास्या | (मधुसूदन) | २८८ |
| अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च | (भग.गीता १८।१४-१६) | २८१ |
| अनपाकृत्य मोक्षन्तु सेवमानो | (मनुस्मृ.६।३५) | ४० |
| अन्नाद् भवन्ति भूतानि | (भग.गीता ३।१४) | २७९ |
| अन्यथा मनसि अन्यद् विधाय | (त.दी.नि.प्र.२।२२७) | ८७ |
| अप्राप्तस्य प्रापको विधि | (अर्थसंग्रह.४७) | ११३ |
| अलौकिक-सामर्थ्यं सायुज्यं | (सेवाफलविवरणम्.१) | ३०७ |
| असमर्पित-वस्तूनां तस्माद् | (सि.मु.४) | ३४९ |
| आत्मनि ब्रह्मरूपेतु छिद्रा | (सि.मु.१२-१३) | १३६ |
| उदासीने स्वयं कुर्यात् | (त.दी.नि.२।२३१) | १७४ |
| ऋणानि त्रीणि अपाकृत्य मनो | (मनुस्मृ.६।३५) | ४० |
| एवी अचल भक्ति तारी आप | (श्रीदयारामभाई) | २१७ |


### (क-न)


| | | |
|---|---|---|
| किम् अस्ति न अस्ति... | (भाग.पुरा.१०।१४।१२) | २२५ |
| किरात-हूणा-ऽऽन्ध्र-पुलिन्द-पुलकसा | (भाग.पुरा.२।४।१८) | ६८ |
| कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दंभादिरहितं | (त.दी.नि.२।२२७) | ८६ |
| क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति | (भग.गीता ९।२१) | ३४४, ३६०,३६३ |
| जातिः अत्र महासर्प! मनुष्यत्वे | (महाभा.३।१७७।२६) | ६४ |

| | | |
|---|---|---|
| जायमानो वै ब्राह्मण त्रिभि | (तैत्ति.संहि.६।३।१०।५) | ३९ |
| तदभावे स्वयं वापि मूर्तिं | (त.दी.नि.२।२२८) | ९० |
| तत्सिद्धचै तनुवित्तजा | (सि.मु.२) | १५५ |
| त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज | (भाग.पुरा.३।९।११) | २५८,२७६ |
| दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धाय | (भाग.पुरा.१०।१४।१२) | २२३ |
| द्यूतं छलयताम् अस्मि | (भग.गीता १०।३६) | २६ |
| द्वया ह प्राजापत्याः | (बृह.उप.१।३।१) | २०३,२०५ |
| द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैव | (बृह.उप.२।३।१) | ७२ |
| नहि कश्चित् क्षणमपि | (भग.गीता.३।५) | ३५१ |
| निगमकल्पतरो गलितं फलं | (भाग.पुरा.१।१।३) | १९ |
| निलयनञ्च अनिलयनञ्च निरुक्तञ्च | (तैत्ति.उप.२।६) | ७२ |
| नीति अस्मि जिगीषताम् | (भग.गीता १०।३८) | २६ |


(प-व)


| | | |
|---|---|---|
| पठनीयं प्रयत्नेन सर्वहेतुविवर्जितम् | (त.दी.नि.२।२५३) | ९३ |
| पित्रो संपश्यतः सद्यो बभूव प्राकृत | (भाग.पुरा.१०।३।४६) | ३२७ |
| प्रकृतिर्हि अस्य उपादानम् | (भाग.पुरा.११।२४।१९) | २२,२४ |
| प्रणवो धनु शरो हि आत्मा | (मुण्ड.उप.२।२।४) | ३० |
| प्रतिकूले गृहं त्यजेत् | (त.दी.नि.२।२३१) | १७४ |
| प्रयतात्मनः | (भग.गीता ९।२६) | ४३,४८ |
| प्राकृताः सकला देवाः | (कृष्णाश्रय ८) | ३६९ |
| प्रेतान् भूतगणांश्च अन्ये यजन्ते | (भग.गीता १७।४) | २३३ |
| बज़ी नज़ीरी और नमाज़ी | (मधुशाला.३।४९) | ८३ |
| बहूनां जन्मनाम् अन्ते | (भग.गीता ७।१९) | ३४९ |
| बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे | (भ.व.२) | ३५१ |
| भगवान्एव हि फलं | (पु.प्र.म.१७) | ३४७,३५३ |
| भार्यादिर् अनुकूलश्चेत् कारयेत् | (त.दी.नि.२।२३१) | १५४,१७४ |
| भीषास्माद् वातः पवते | (तैत्ति.उप.८।१) | ३७३ |

| | | |
|---|---|---|
| मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम् | ( भाग.पुरा.११।२५।२४ ) | २०४,२०७ |
| ममात्र भावैकरसं मन स्थितं | ( कुमारसम्भव.५।८२ ) | २७५ |
| माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढः | ( त.दी.नि.१।४२ ) | २५७ |
| मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः | ( मालविकाग्निमित्रम् १।२ ) | ३७६ |
| यज्ञो दानं तपश्चैव | ( भग.गीता १८।५ ) | ४४,४८ |
| यतो वा इमानि भूतानि | ( तैत्ति.उप.३।१ ) | ३१,३८० |
| यतो अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः | ( काणा.सू.१।१।१ ) | ३७४ |
| यद्-यद् विभूतिमत् सत्त्वं | ( भग.गीता १०।४१ ) | ९ |
| यद्-यद्धिया त ऊरुगाय | ( भाग.पुरा.३।९।११ ) | ३२८ |
| यन् मूर्तौ कृतं सर्वं भगवति | ( त.दी.नि.प्र.२।२२८ ) | ९० |
| या निशा सर्वभूतानां तस्यां | ( भग.गीता २।६९ ) | १०१ |
| ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव | ( भग.गीता ४।११ ) | २५९ |
| विश्वतः चक्षुः विश्वतो | ( यजु.१७।१९ ) | ३७२ |
| रूपनामविभेदेन जगत् | ( त.दी.नि.मं.१ ) | ३८१ |
| लोकार्थी चेद् भजेत् कृष्णं | ( सि.मु.१६ ) | ३२७ |


( श - ह )


| | | |
|---|---|---|
| शास्त्रे स्कन्धे प्रकरणे अध्याये | ( त.दी.नि.३।१।२ ) | २७ |
| श्रीकृष्णं परमानन्दं दशलीलायुतं | ( त.दी.नि.३।१।१ ) | ३६ |
| स वै नैव रेमे तस्माद् एकाकी | ( बृह.उप.१।३।३ ) | २१९ |
| सत्त्वात् संजायते ज्ञानं रजसो | ( भग.गीता १४।१७ ) | २४७ |
| सत्यान् न प्रमदितव्यम् | ( तैत्ति.उप.१।११।१ ) | २४३ |
| सा होवाच मैत्रेयी येन अहं | ( बृह.उप.२।४।३ ) | १८ |
| सिद्धानां कपिलो मुनि | ( भग.गीता १०।२६ ) | १० |
| सुख-दुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ | ( भग.गीता २।३८ ) | १२० |
| सेवायां वा कथायां वा | ( भ.व.९ ) | ३२०,३५३ |
| सोऽपि तैस् तत्कुले जातः | ( पु.प्र.म.२६ ) | ३४९ |
| स्वतःप्रवृत्तिरहितानि इन्द्रियाणि | ( त.दी.नि.प्र.२।२४७ ) | २६८ |

हरिः हि निर्गुणः साक्षाद् (भाग.पुरा.१०।८५।५) २०४,२०७
हरिणा ये विनिर्मुक्ता ते (नि.ल.११) ३४